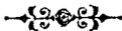


## चौथे कर्मग्रन्थका शुद्धिपत्र.



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
भेद अपर्याप्तिरूपस	भेद पर्याप्त अपर्याप्तिरूपस	९	१०
होती है	होती है <sup>१</sup>	१९	७
ममुदायो	ममुदायको	२८	३
अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण	अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण <sup>१</sup>	२८	१०
समयकी	समयकी <sup>१</sup>	२९	७
नौ वर्ष	आठ वर्ष	३०	७
द्व्यमुयामोव	द्व्यमुयामावे	४५	१८
ममाइ छेय अपरिहार	सामाइअ छेय परिहार	५७	१३
अदस्थाय	अदस्ताय	५७	१३
बादर	स्थावर	६२	१२
ईगवे	राके	६४	१८
आकार	आकर	८८	३
भव्यमिति	भव्यमति	९५	१७
श्रीमुनिमत्रसुरि	श्रीमुनिचत्रसुरि	१५०	१९
करार	कर	१५३	५
मिष्यात्व <sup>१</sup>	मिष्यात्व <sup>३</sup>	१७६	८
सयागनि	सयागिनि	१८५	१५
नियही	नियही	१९७	५
मिष्यात्वनि	मिष्यात्वाणि	१९४	३
त्रया	त्रयो	१९६	७
पइटिइ सम	पइटिइ अमस	२२३	१२
अन्य	अन्यत्र	२४६	२७





## सूचना

क-ता विज्ञान सभ्यता प्राप्त आदि चरित्र प्रभोंका तथा तावकादे प्रभोंका हिंदीमें अनुवाद, संर या स्वतंत्र निबंध लिख सक्त हों और श्रिता प्राप्त हों उनमें हमारा निबन्ध है कि वे हममें परस्पर करें, अगर वे चाहे तो वह कथ व नियम मन्त्र उद्देशे पुरस्कार भी तथा अनुवादक लिख व प्रथम अभी लिख जा सक्त है—बनवाने न्ययपत्राद्यं शासनात् समुपय पञ्चान समुपय योग गाम् अत्रानि महावीरचरित्र आदि ।

ख-जो धार्मिक महात्म्य हिन्दी में गादिरा गाम प्रेमी है उनमें हमारा अनुरोध है कि वे अगर अपने धनका उपयोग सर्वाभ्योगी गादिरा करना चाहें तो मन्त्राद्यो सहायता दरर वैसा कर सक्त है मन्त्राद्यो मुख्य ध्यय हिन्दीमें जैन साहित्य तैयार करनेका है अभी तकमें मन्त्र द्वारा प्रकाशित प्रभोंका परिये सूचीपत्र मगाकर किया जा सक्त है प्रम्नून चौथे क्रममें अत्रा य प्रथम विष्णु तैयार है

- |   |  |   |     |
|---|--|---|-----|
| १ | श्वसा राइ प्रतिब्रमण हिन्दी अनुवाद मह<br>पवप्रतिब्रमण हिन्दी अनुवाद मह       | } | भेट |
| २ | पालनल योगदान तथा दाहिने योगविधिरा<br>(यगात्रियजी कृत गति तथा हिन्दी गार गति) |   |     |

जो महात्म्य अपने किसी पूज्य व्यक्तिके स्मरणार्थ या शास्त्र प्रचारार्थ कोई काम प्रथम तैयार कराना चाहें और तदर्थ पूरा सब उपाय सों उारी इच्छाके अनुरोध मंडल प्रकट कर सकेंगा परद्वारा मुलासा कर लना चाहिए

निवेदन—

परी आम्मानन्द जैनपुस्तकप्रचारक मंडल

श्रीमद्विजयानन्दसूरिभ्यो नमः ।

श्रीदेवेन्द्रसूरि-विरचित—

‘पडशीति’-अपरनामक—

चौथा कर्मग्रन्थ ।

पं० सुखलालजी-कृत—

हिन्दी अनुवाद और टीका टिप्पणी आदि सहित ।

श्रीआत्मानन्द-जैन-पुस्तक प्रचारक-मण्डल,  
रोशनमुहल्ला, भागरा द्वारा प्रकाशित ।

श्रीलक्ष्मीनागवण प्रेम काशीमें मुद्रित ।



वीर सं० २४४८, विक्रम सं० १९७८ }  
आम सं० २७ }  
शक सं० १८४३, इस्वी सं० १९२९ }

मूल्य २)

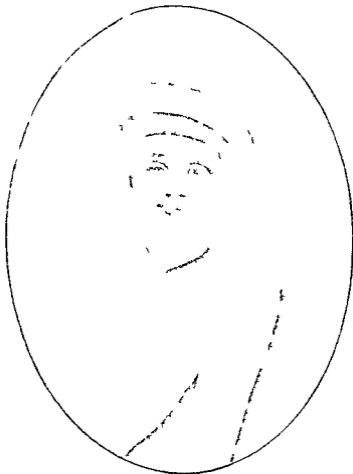


प्रकाशक—

श्रीमान्मानन्-जैन पुस्तक-व्यापारक मण्डल  
रोगनमुहूर्त आगरा ।

मुद्रक—

गणपति कृष्ण गुप्त  
श्रीवत्समीनारायण धर्म,  
मदनपट्ट कारी । १४-२२



सउ गगलमणीस ६५०

## विषयानुक्रमणिका ।

विषय ।	पृष्ठ ।
मङ्गल और विषय	१
जीवस्थान आदि विषयोंकी व्याख्या	३
विषयोंके क्रमका अभिप्राय	७
[ १ ] जीवस्थान अधिकार	६
जीवस्थान	६
जीवस्थानोंमें गुणस्थान	११
जीवस्थानोंमें योग	१५
जीवस्थानोंमें उपयोग	२०
जीवस्थानोंमें लेश्या बन्ध आदि	४
प्रथमाधिकारके परिशिष्ट	३३
परिशिष्ट "क"	३३
परिशिष्ट "ख"	३६
परिशिष्ट "ग"	३८
परिशिष्ट "घ"	४०
परिशिष्ट "ङ"	४३
परिशिष्ट "छ"	४५
[ २ ] मार्गणास्थान अधिकार	४७
मार्गणाके मूल भेद	४७
मार्गणाओंकी व्याख्या	४७
मार्गणास्थानके अघान्तर भेद	५१





विषय	पृष्ठ
गतिमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५१
इन्द्रियमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
कायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
योगमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५२
वदमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५३
कषायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५५
ज्ञानमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५६
सयममार्गणाके भेदोंका स्वरूप	५७
दशनमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६२
लक्ष्यामार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६३
भावत्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६५
सम्यक्त्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६५
सञ्जीमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६७
मार्गणाओंमें जीवस्थान	६८
आहारमार्गणाके भेदोंका स्वरूप	६८
मार्गणाओंमें गुणस्थान	७०
मार्गणाओंमें याग	६०
मनोयोगके भेदोंका स्वरूप	६०
ध्वनयोगके भेदोंका स्वरूप	६१
काययोगके भेदोंका स्वरूप	६२
मार्गणाओंमें योगका विचार	६४
मार्गणाओंमें उपयाग	१०५
मार्गणाओंमें लक्ष्या	११४
मार्गणाओंका अल्प बहुत्व	११५
गतिमार्गणाका अल्प बहुत्व	११५



विषय	पृष्ठ
इन्द्रिय और काय मार्गणाका अल्प बहुत्व	१२२
योग और वेद मार्गणाका अल्प बहुत्व	१२४
कषाय, ज्ञान, समय और दर्शन मार्गणाका अल्प बहुत्व	१२६
लेश्या आदि पाँच मार्गणाओंका अल्प बहुत्व	१२८
द्वितीयाधिकारके परिशिष्ट	१३४
परिशिष्ट "ज"	१३४
परिशिष्ट "झ"	१३६
परिशिष्ट "ट"	१४१
परिशिष्ट "ठ"	१४३
परिशिष्ट "ड"	१४६
परिशिष्ट "ढ"	१४८
परिशिष्ट "त"	१४९
परिशिष्ट "थ"	१५४
परिशिष्ट "द"	१५५
परिशिष्ट "ध"	१५७
[ ३ ] गुणस्थानाधिकार	१६१
गुणस्थानोंमें जीवस्थान	१६१
गुणस्थानोंमें योग	१६३
गुणस्थानोंमें उपयोग	१६७
सिद्धान्तके कुछ मन्तव्य	१६८
गुणस्थानोंमें लेश्या तथा बन्ध हेतु	१७२
बन्ध हेतुओंके उत्तरभेद तथा गुणस्थानोंमें मूल बन्ध हेतु	१७५
एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासमय मूल बन्ध हेतु	१७६

# वक्तव्य ।

—\*—

प्रस्तुत पुस्तकको पाठकोंके समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे थोड़ा-सा निवेदन करना है । पहले तो इस पुस्तकके लिये आर्थिक मदद देनेवाले महानुभावोंका नाम स्मरण करके, सस्थाकी ओरसे उनका सप्रेम धन्यवाद देना मैं अपना फर्ज समझता हूँ ।

एक हजार रुपये जितनी बड़ी रकम तो सेठ हेमचन्द अमरचन्द भागरोलवालेकी है । जो उनके स्वर्गवासी पुत्र सेठ नरोत्तमदास, जिनका फोटो इस पुस्तकके आरम्भमें दिया गया है, उनके स्मरणार्थ सेठ हेमचन्द भाईकी भ्रातृजाया श्रीमती मणी बहनने महाराज श्रीवद्वभविजयजीकी सम्मतिसे मण्डलकी सस्थाको भेंट की है । आमता मणी बहनकी कुलकमागत उदारता और गुणप्राप्तता कितनी प्रशंसनीय है, यह बात एक बार भी उनके परिचयमें आनेवाले सबको विदित ही है । यहाँ उक्त सेठकी विशेष जीवनी न लिख कर सिर्फ कुछ वाक्योंमें उनका परिचय कराया जाता है ।

सेठ हेमचन्दभाई काठियावाड़में भागरोलक निवासी थे । वे वन्दईमें कपड़ेके एक अच्छे व्यापारी थे । उनकी विद्यार्थिकता इसीसे सिद्ध है कि उन्होंने देश तथा विदेशमें उद्योग, हुन्नर आदिकी शिक्षा पानेवाले अनेक विद्यार्थियोंको मदद दी है । महाराज श्रीवद्वभविजयजीको वन्दई आमन्त्रित करने और महावीरजैनविद्यालय-सस्थाकी स्थापनाकी कल्पनामें सेठ हेमचन्द भाईका उत्साह

विषय	पृष्ठ
गुणस्थानोंमें उत्तर य व हतुओंका सामान्य तथा विशेष घणन	१८१
गुणस्थानोंमें य-य	१८७
गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय	१८६
गुणस्थानोंमें उदीरणा	१६०
गुणस्थानोंमें अल्प बहुत्व	१६२
बृह भाव और उनक भेद	१६६
कर्मक और धर्मास्तिकाय आदि अजाव द्रव्योंक भाव	२०४
गुणस्थानोंमें मूल भाव	२०६
सत्पात्रा विचार	१०८
सहजाके भेद प्रभेद	१०८
सहजाके नीचे भेदोंका स्वरूप	२०६
पद्योंक नाम तथा प्रमाण	२१०
पद्योंक मरन आदिकी विधि	२१२
सपप परिपूर्ण पद्योंका बणयाग	२१७
असत्यात और अनन्तका स्वरूप	२१८
असत्यात तथा अनन्तके भेदोंके विषयमें कार्मप्रथिक मत	२२१
तृतीयाधिकारके परिशिष्ट	२२७
परिशिष्ट "प"	२२७
परिशिष्ट "फ"	२२६
परिशिष्ट "ब"	२३१
परिशिष्ट न० १	२३३
परिशिष्ट न० २	२३६
परिशिष्ट न० ३	२४०

कारण था। उक्त सेठकी धार्मिकताका परिचय तो उनकी जैन धार्मिक परीक्षाकी इनामी योजनासे जैन समाजको मिल ही चुका है, जो उन्होंने अपने पिता सेठ अमरचन्द तलकचन्दके स्मरणार्थ की थी। उक्त सेठसे जैन समाजको बड़ी आशा थी, पर वे पैंतीस वर्ष जितनी छोटी उम्रमें ही अपना कार्य करके इस दुनियासे चल बसे। सेठ हेमचन्द भाईके स्थानमें उनका पुत्र नरोत्तमदास भाईके ऊपर लोगों की दृष्टि ठहरी थी, पर यह बात कराल कालको मान्य न थी। इन लिये उसने उनका भी पैंतीस वर्ष जितनी छोटी उम्रमें ही अपना अतिथि घना लिया। नि सन्देह ऐस होनहार व्यक्तियों की कमी बहुत खटकती है, पर दैवकी गतिके सामने किसका उपाय।

ढाई सौ रुपयेकी मदद बसाई निवासी सेठ दीपचन्द तलाजी सादहीवालन प्रवर्तक श्रीकान्तिविजयजी महाराजकी प्रेरणासे दी है। इसकेलिये वे भी मण्डलकी ओरसे धन्यवादके भागी हैं।

दो सौ रुपयेकी रकम अहमदाबादवाले सेठ हरिचन्द ककलके यहाँ निम्नलिखित तीन व्यक्तियोंकी जमा थी, जो सन्मित्र कर्पूरविजय जी महाराजकी प्रेरणासे मण्डलको भिजी। इसलिये इन तीन व्यक्तियों की उदारताको भी मण्डल कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार करता है।

- १ कच्छवाले सेठ आशली आजी भवानजी रु० १०० (साध्वीजी गुणश्रीजके ससारी पुत्र)
- २ श्रीमती गंगाबाई रु० ५० (अहमदाबादवाले सेठ लालभाईकी माता)
- ३ श्रीमती शृंगारबाई रु० ५० (अहमदाबादवाले सेठ वामाभाई इठीभागीकी विधवा)

## गस्तावनाका शुद्धिपत्र.



अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पक्ति
ग्रन्थमे	ग्रन्थमें	३	१
पर्यनियोग	पर्यनुयोग	३	११
नर्वान	नदीनमें		१९
दी	दो	७	२१
उद्गार	उद्गार	८	१
किमी	किम्	४	४
कोई कोई	कोई कोई विषय	५	१०
शुद्ध, अशुद्ध	शुद्ध स्वरूपका और दूसरे अशुद्ध	९	१६
पर आत्माका	आत्माका	१०	१३
उसके	पर उसके	१०	१४
होस	होस	१३	१९
विधायाई	विधायाई	१३	२१
जह या विग्धा	जह बहुविग्धा	१	२३
दा दे	तोता दे	१४	२०
अतद्विपद्	अतद्विपद्	१५	९
यत्ता	यत्ता	१५	१०
यद्विनियत्ता	यद्विनियत्ता	१५	११
टिइ यदो	टिई पदो	१५	१३
रागदोसा	रागदोसा	१५	१४
यियासव	यियासव	१५	१८
गित	गित	१६	६
चौरद्वस्तु	चौरद्वस्तु	१६	१७
कणदीप	कणदीप	१७	१८



यह पुस्तक लिखकर तो बहुत दिनोंसे तैयार थी, पर छोपेखानेकी सुविधा ठीक न होनेसे इसे प्रकाशित करनेमें इतना विलम्ब हुआ। जल्दी प्रकाशित करनेके इरादेसे बम्बई, पूना, आग्रा और कानपुरमें खास तजवीज की गई। बड़ा खर्च उठानेके बाद भी उक्त स्थानोंमें छपाईका ठीक मेल न बैठा, अन्तमें काशीमें छपाना निश्चित हुआ। इसलिये प० सुखलालजी गुजरातसे अपने सहायकोंके साथ काशी गये और चार महीन ठहरे। फिर भी पुस्तक पूरी न छपी और तर्फी यत बिगड़नेके कारण उनको गुजरातमें वापिस जाना पड़ा। छापेका काम काशीमें और प० सुखलालजी हजार मील जितनी दूरीपर, इसलिये पुस्तक पूर्ण न छपनेमें बहुत अधिक विलम्ब हुआ, जो क्षम्य है।

ऊपर जिस मददका उल्लेख किया गया है, उसको देखकर पाठकोंके दिलमें प्रश्न हो सकता है कि इतनी मदद मिलनेपर भी पुस्तकका मूल्य इतना क्यों रक्खा गया? इसका सच्चा समाधान करना आवश्यक है। मण्डलका उद्देश्य यह है कि जहाँ तक हो सक कम मूल्यमें हिंदी भाषामें जैन धार्मिक ग्रन्थ सुलभ कर दिये जायें। ऐसा उद्देश्य होनेपर भी, मण्डल लेखक पण्डितोंस कभी ऐसी जल्दी नहीं करता, जिसमें जल्दीके कारण लेखक अपने इच्छानुसार पुस्तकको न लिख सकें। मण्डलका लेखक पण्डितोंपर पूरा भरोसा है कि वे खुद अपने शौकमें लेखनकार्यको करते हैं, इसलिये वे न तो समय ही व्यथा बिता सकते हैं और न अपनी जानिबसे लिखनेमें कोई कसर ही छोड़ सकते हैं। अभी तक लेखनकार्यमें मण्डल और लेखकका व्यापारिक सम्बन्ध न होकर साहित्यसेवाका नाता रहा है, इसलिये यथेष्ट वाचन, मनन आदि करनेमें लेखक स्वतन्त्र रहते हैं। यही कारण है कि पुस्तक तैयार होनेमें अन्य सस्याओंकी अपेक्षा अधिक विलम्ब होता है।

विद्यो	विद्यो	१८	१५
विन्यापति	विन्यापति	१९	२१
प्रकार द्वेषकी	प्रकार रागप्रेयसी	१९	२०
और अन्तमें	अन्तमें	१	६
गव १ ता	गव अभात् न ता	२६	०
बुद्धि	बुद्धि	२९	१०
सामारि	सासारिक	३३	२
स्त्वात्मनैवापु	स्त्वात्मनैवापु	३६	३
मविद्यदु ख	मविद्यदु ख	३७	१०
वस्थाया	वस्थाया	३८	१८
विचारणा	विचारणा	३८	१९
सदाऽपि	सदाऽपि	३८	३
जो शास्त्र	जा जैनशास्त्र	४३	७
परारक्षके जैन	परारक्षके	४८	१
भायात् धम	भापातधम	४८	१
भयाभिनन्द	भयाभिनन्दि	०	१४
भोगसमन्वितम्	भोगसमन्वितम्	५१	७
•	बौद्ध शास्त्रमें पाया जानेवाला	५२	२०
सम्पादित मराठी-	शुणम्भान जैगा विचार-	५३	१०
गाथातरित-	सम्पादित		
अविनिपात धर्मानियन	अविनिपातधर्मा नियत	५३	१३
विचिकिञ्छा	विचिकिञ्छा	५४	८
मज्झिमनिकाय	दीपनिकाय	५५	२०
		५	२४





## निवेदन ।

इस पुस्तकका लेखक मैं हूँ, इसलिये इसके सम्बन्धमें दो-चार आवश्यक बातें मुझको कह देनी हैं। करीब पाँच साल हुए यह पुस्तक लिखकर छापनेको दे दी गई, पर कारणवश वह न छप सकी। मैं भी पूनासे लौटकर आगरा आया। पुस्तक न छपी देखकर और लेखनविषयक मेरी अभिरुचि कुछ बढ़ जानेके कारण मैंने अपने मित्र और मण्डलके मन्त्री बाबू डालचदजीसे अपना विचार प्रकट किया कि जो यह पुस्तक लिखी गई है, उसमें परिवर्तन करने का मेरा विचार है। उक्त बाबूजीने अपनी उदार प्रकृतिके अनुसार यही उत्तर दिया कि समय व सर्च की परवा नहीं, अपनी इच्छाके अनुसार पुस्तकको निःसर्क भावसे तैयार कीजिये। इस उत्तरसे उत्साहित होकर मैंने थोड़ेसे परिवर्तनके स्थानमें पुस्तकको बिलकुल दुबारा ही लिख डाला। पहले नोटें नहीं थीं, पर दुबारा लेखनमें कुछ नोटें लिखनेके उपरांत भावार्थका क्रम भी बदल दिया। एक तरफ छपाईका ठीक सुभीता न हुआ और दूसरी तरफ नवीन वाचन तथा मनन का अधिकाधिक अवसर मिला। लेखन कार्यमें मेरा और मण्डलका सम्बन्ध व्यापारिक तो था ही नहीं, इसलिये विचारने और लिखनेमें मैं स्वस्थ ही था और अब भी हूँ। इतनेमें मेरे मित्र राम गलाल आगरा आये और सहायक हुए। उनके अवलोकन और अनुभवका भी मुझे सविशेष सहारा मिला। चित्रकार चित्र तैयार कर उसके प्राहकको जबतक नहीं देता, तबतक उसमें कुछ न कुछ नयापन लानेकी चेष्टा करता ही रहता है। मेरी भी वही दशा हुई।

घश इस प्रथमं ग्रन्थकारने भाषाका और सख्याका भी विचार किया है ।

यह प्रश्न हो ही नहीं सकता कि तीसरे कर्मग्रन्थकी सगतिके अनुसार मार्गणास्थानोंमें गुणस्थानों मात्रका प्रतिपादन करना आवश्यक होने पर भी, जैसे अन्य अन्य विषयोंका इस प्रथममें अधिक वर्णन किया है, वैसे और भी नये नये कई विषयोंका वर्णन इसी ग्रन्थमें क्यों नहीं किया गया ? क्योंकि किसी भी एक ग्रन्थमें सब विषयोंका वर्णन असम्भव है । अतएव कितने ओर किन विषयों का किन क्रमसे वर्णन करना, यह ग्रन्थकारकी इच्छा पर निर्भर है, अर्थात् इस धातमें ग्रन्थकार स्वतंत्र है । इस विषयमें नियोग पर्यं नियोग करनेका किसीको अधिकार नहीं है ।

## प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मग्रन्थ ।

‘पडशीतिक’ यह मुख्य नाम दोनोंका समान है, क्योंकि गाथाओं की सख्या दोनोंमें बराबर छियासी ही है । परन्तु नवीन ग्रन्थकारने ‘सूत्रमार्थ विचार’ ऐसा नाम दिया है और प्राचीनकी टीकाके अन्तमें टीकाकारने उसका नाम ‘आगमिक वस्तु विचारसार’ दिया है । नवीनकी तरह प्राचीनमें भी मुख्य अधिकार जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान ये तीन ही हैं । गण अधिकार भी जैसे नवीन क्रमश आठ, छह तथा दस हैं, वैसे ही प्राचीनमें भी हैं । गाथाओंकी सख्या समान होते हुए भी नवीनमें यह विशेषता है कि उसमें वर्णनशैली सक्षिप्त करके ग्रन्थकारने दी और विषय विस्तारपूर्वक वर्णन किये हैं । पहला विषय ‘भाव’ और दूसरा ‘सख्या’ है । इन दोनोंका स्वरूप नवीनमें सविस्तर है और प्राचीनमें यिष्कुल नहीं है । इसके सिवाय प्राचीन और नवीनका विषय साम्य तथा क्रम साम्य बराबर है । प्राचीन पर टीका, टिप्पणी,

छपाईमें जैसे जैसे विलम्ब होता गया, वैसे वैसे कुछ न कुछ सुधारने-का, नवान भाव दाखिल करनका और अनेक स्थानोंमें क्रम बदलते रहनेका प्रयत्न चालू ही रहा । अन्य कार्य करते हुए भी जय कर्मा नवीन वस्त्रना हुई, कोई नई बात पढ़नेमें आई और प्रस्तुत पुस्तकके लिये उपयुक्त जान पड़ी, तभी उसको इस पुस्तकमें स्थान दिया । यद्वा कारण है कि इस पुस्तकमें अनेक नोटें और अनेक परिशिष्ट विविध प्रासङ्गिक विषयपर लिख गये हैं । इस तरह छपाईके विलम्बसे पुस्तक प्रकट होनेमें बहुत अधिक समय लग गया । मण्डलको स्वर्ण भी अधिक उठाना पड़ा और मुद्रको श्रम भी अधिक लगा, फिर भी वाचकोंको तो फायदा ही है, क्योंकि यदि यह पुस्तक जल्दी प्रकाशित हो जाती तो इसका रूप वह नहीं होता, जो आज है ।

दूसरी बात यह है कि मैंने जिन ग्रन्थोंका अवलोकन और मनन करके इस पुस्तकके लिखनमें उपयोग किया है, उन ग्रन्थोंकी तालिका साथ दे दी जाती है, इससे मैं बहुश्रुत होनेका दावा नहीं करता, पर पाठकोंका ध्यान इस ओर खींचता हूँ कि उन्हें इस पुस्तकमें किन और कितने ग्रन्थोंका काम से काम परिचय मिलेगा । मूल ग्रन्थके साधारण अभ्यासियोंकेलिये अर्थ और भावार्थ लिखा गया है । कुछ विशेष जिज्ञासुओंकेलिये साथ ही साथ उपयुक्त स्थानोंमें नोटें दी हैं, और विशेषदर्शी विचारकोंकेलिये खास-खास विषयोंपर विस्तृत नोटें लिखकर उनको ग्रन्थगत तीना अधिकारके बाद क्रमशः परिशिष्टरूपमें दे दिया है । वक्त छोटी और बड़ी नाटा में क्या क्या बात है, उसका सकलन स्वतंत्रीके तौरपर आखिरी चार परिशिष्टोंमें किया है । इसके बाद जिन पारिभाषिक शब्दोंका मैंने अनुवादमें उपयोग किया है, उनका तथा मूल ग्रन्थके शब्दोंका इस तरह

विशेष जिज्ञासुओंको एक दूसरेके समान विषयक ग्रन्थ अध्ययन करने चाहिएँ । इसी अभिप्रायसे मनुवादमें उस उस विषयका साम्य और वैषम्य दिखानेके लिये जगह जगह गोमटसारके अनेक उपयुक्त स्थल उद्धृत तथा निर्दिष्ट किये हैं ।

## विषय-प्रवेश ।

जिज्ञासु लोग जब तक किसी भी ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयका परिचय नहीं कर लेते तब तक उस ग्रन्थके अध्ययनके लिये प्रवृत्ति नहीं करते । इस नियमके अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थके अध्ययनके निमित्त योग्य अधिकारियोंकी प्रवृत्ति करानेके लिये यह आवश्यक है कि शुरुमें प्रस्तुत ग्रन्थके विषयका परिचय कराया जाय । इसी को "विषय प्रवेश" कहते हैं ।

विषयका परिचय सामान्य और विशेष दो प्रकारमें कराया जा सकता है ।

(क) प्रथम किस तात्पर्यसे बनाया गया है उसका मुख्य विषय क्या है और यह कितने विभागोंमें विभाजित है; प्रत्येक विभागमें सम्यग् रचनवाला ग्रन्थ कितने कितने और कौन कौन विषय हैं, इत्यादि ध्यान करके ग्रन्थके शब्दात्मक कलघरक साथ विषय रूप आत्माके सम्यग्धका स्पष्टीकरण कर देना अर्थात् ग्रन्थका प्रधान और गौण विषय क्या क्या है तथा यह किस किस प्रमसे परिणत है, इसका निर्देश कर देना, यह विषयका सामान्य परिचय है ।

(ख) लक्षण द्वारा प्रत्येक विषयका स्वरूप बतलाना यह उसका विशेष परिचय है ।

प्रस्तुत ग्रन्थके विषयका विशेष परिचय तो इस उस विषयके ध्यान ध्यानमें ही यथासम्भव मूलमें किया विवेचनमें करा दिया

दो कोष दिये हैं। अनुवादके आरम्भमें एक विस्तृत प्रस्तावना दी है, जिसमें गुणस्थानके ऊपर एक विस्तृत निबन्ध है और साथ ही वैदिक तथा बौद्ध दर्शनमें पाये जानेवाले गुणस्थान सदृश विचारोंका दिग्दर्शन कराया है। मेरा पाठकोसे इतना ही निवेदन है कि सबसे पहले अन्तिम चार परिशिष्टोंका पढ़ें, जिससे उन्हें कौनसा कौनसा विषय, किस किस जगह देखने योग्य है, इसका साधारण खयाल आ जायगा। और पीछे प्रस्तावनाको, खासकर उसके गुणस्थान सम्बन्धी विचारवाले भागका एकाग्रतापूर्वक पढ़ें, जिससे आध्यात्मिक प्रगतिके क्रमका बहुत-कुछ बोध हो सकगा।

तीसरी बात कृतज्ञता प्रकाश करनेकी है। श्रीयुक्त रमणीकलाल मगनलाल मोदी बी० ए० से मुझेको बड़ी सहायता मिली है। मेरे सहृदय सखा प० भगवानदास हररचन्द और भाई हीराचन्द देव चन्दने लिखित कापी देखकर उसमें अनेक जगह सुधारणा की है। वदार्चेता मित्र प० मामण्डलदेवने संशोधनका बोझा उठाकर उस सम्बन्धकी मेरी चिन्ता बहुत अंशमें कम कर दी। यदि उक्त महाशयोंका सहारा मुझे न मिलता तो यह पुस्तक वर्तमान स्वरूपमें प्रस्तुत करनेकेलिये कमसे कम मैं तो असमर्थ ही था। इस कारण मैं उक्त सब मित्रोंका हृदयसे कृतज्ञ हूँ।

अन्तमें युक्तिके सम्बन्धमें कुछ कहना है। विचार व मनन करके लिखनेमें भरसक साधधानी रखनेपर भी कुछ कमी रह जानेका अवश्य सम्भव है, क्योंकि मुझेको तो दिन व दिन अपनी अपूर्णताका ही अनुभव होता जाता है। छपाईकी शुद्धिकी ओर मेरा अधिक खयाल था, तदनुकूल प्रयास और खर्च भी किया, पर लाचार, बीमार होकर काशीसे अहमदाबाद चले आनेके कारण



गया है। अतएव इस जगह विषयका सामान्य परिचय कराना ही आवश्यक प्रथम उपयुक्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ बनानेका तात्पर्य यह है कि आन्तरिक जीवोंकी भिन्न भिन्न अवस्थाओंका वर्णन करके यह बतलाया जाय कि अमुक अमुक अवस्थाएँ औषाधिक, वैभाविक किंवा कर्मवृत्त होनेसे अस्थायी तथा हेय हैं, और अमुक अमुक अवस्था स्वाभाविक होनेके कारण स्थायी तथा उपादेय है। इसके सिवा यह भी बतलाना है कि, जीवका स्वभाव प्रायः विकाश करनेका है। अतएव वह अपने स्वभावके अनुसार किस प्रकार विकास करता है और तद्द्वारा औषाधिक अवस्थाओंको त्याग कर किस प्रकार स्वाभाविक शक्तियोंका आविर्भाव करता है।

इस उद्देश्यकी सिद्धिके लिये प्रस्तुत ग्रन्थमें मुख्यतया पाँच विषय वर्णन किये हैं —

(१) जीवस्थान, (२) मार्गशास्त्रान, (३) गुणस्थान, (४) भाव और (५) सत्या।

इनमेंसे प्रथम मुख्य तीन विषयोंके साथ अन्य विषय भी वर्णित हैं — जीवस्थानमें (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) घन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता ये आठ विषय वर्णित हैं। मार्गशास्त्रानमें (१) जीवस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्प बहुत्व, ये छ विषय वर्णित हैं। तथा गुणस्थानमें (१) जीवस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) घन्ध हेतु, (६) घन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता और (१०) अल्प बहुत्व, ये दस विषय वर्णित हैं। पिछले दो विषयोंका अर्थात् भाव और सत्याका वर्णन अन्य अन्य विषयके वर्णनसे मिश्रित नहीं है, अर्थात् उन्हें लेकर अन्य कोई विषय वर्णन नहीं किया है।

तथा प्रस्तावनाका भाग तो बिलकुल परोक्षतामें छपनेके कारण कुछ गलतियों छपाईमें अवश्य रह गई हैं, जिनका दुःख वाचकोंकी अपेक्षा मुझको ही अधिक है। इसलिये विचारशील पाठकोंसे यह अनवदन है कि वे त्रुटियों सुधार लेवे, अगर वे मुझको सूचना देंगे तो मैं उनका कृतज्ञ रहूँगा।

भावनगर  
 अक्टू १९७८  
 फाल्गुन शुद्ध चतुर्थी ।

निवेदक—  
 सुखलाल सघवी ।



# जिन पुस्तकोंका उपयोग प्रस्तुत अनुवादमें हुआ है, उनकी सूची।



ग्रन्थ नाम ।	कर्ता ।
आचाराङ्गनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी
” टीका	शीलाङ्काचार्य
सूत्रकृवाङ्गनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी
” टीका	शीलाङ्काचार्य
भगवतीसूत्र	सुघर्मस्वामी
” टीका	अभयदेवसूरि
आवड्यकीनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी
” टीका	हरिभद्रसूरि
नन्दीसूत्र	दववाचक
” टीका	मलयगिरि
उपासकदशाङ्ग	सुघर्मस्वामी
औपपातिकोपाङ्ग	आर्ष
अनुयोगद्वार	आर्ष
” टीका	मलधारी हेमचन्द्रसूरि
जीवाभिगम	आर्ष

स्थाओंका अनुभव करना पड़ता है। प्रथम अवस्थाको अविासकी अथवा अध पतनकी पराकाष्ठा और चरम अवस्थाको विकासकी अथवा उत्क्रान्तिकी पराकाष्ठा समझना चाहिये। इस विकासक्रमकी मध्यवर्तिनी सब अवस्थाओंको अपेक्षासे उच्च भी कह सकते हैं और नीच भी। अर्थात् मध्यवर्तिनी कोई भी अवस्था अपनेसे ऊपरवाली अवस्थाकी अपेक्षा नीच और नीचेवाला अवस्थाकी अपेक्षा उच्च नहीं जा सकती है। विकासकी ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकारकी सख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओंका अनुभव करता है। पर जैनशास्त्रमें सदैपमें वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग किये हैं, जो "चौदह गुणस्थान" कहलाने हैं।

सब आवरणोंमें मोहका आवरण प्रधान है। अर्थात् जब तक मोह यथाया और तीव्र हो, तब तक अन्य सभी आवरण चलान् और नीच रहे रहते हैं। इसके विपरीत मोह के निबल हात ही अन्य आवरणोंकी बेसी ही दशा हो जाती है। इसलिये आत्माके विकास करनेमें मुख्य यात्रक मोहकी प्रयत्नता और मुख्य सहायक मोहकी निर्मलता समझनी चाहिये। इसी कारण गुणस्थानोंकी—विकास सम्भगत अवस्थाओंकी कल्पना मोह शक्तिकी उत्कटता, मन्दता तथा अभाव पर अवलम्बित है।

मोहकी प्रधान शक्तियाँ दो हैं। इनमेंसे पहली शक्ति, आत्माको दशन अर्थात् स्वरूप पररूपका निर्णय किया जड चेतना। प्रभा या विज्ञान-रतन गहाँ-ती; ओर दूसरी शक्ति आत्माको विज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अध्यास—पर परिणतिस छुटकर स्वरूप लाभ नहीं करने देती। व्यवहारमें पैर पैरपर यह देखा जाता है कि किसी वस्तुका यथार्थ दर्शन धोध कर लेने पर ही उस वस्तुको पाने या त्यागनेकी चेष्टा की जाती है और वह सफल भी होती है। आध्यात्मिक विकास गामी आत्माके लिये भी मुख्य दो ही

ज्ञानविन्दु	यशोविजयोपाध्याय
धर्मसमूह	मानविजयोपाध्याय
विशेषशतक	समयसुन्दरोपाध्याय
द्रव्यगुणपर्यायरस	यशोविजयोपाध्याय
नयचक्रसार	देवचन्द्र
आगमसार	"
जैनतत्त्वादर्श	विजयानन्दसूरि
नियमसार	कुन्दकुन्दाचार्य
लघिसार	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
त्रिलोकसार	"
गोष्मटसार	"
द्रव्यसमूह	"
षट्पादुह	कुन्दकुन्दाचार्य
प्रमेयकमलमार्तण्ड	प्रभाचन्द्राचार्य
मज्झिमनिकाय मराठीभाषान्तर	प्रो० सि० वी० राजवाडे
दीपनिकाय	"
साख्यदर्शन	कपिलर्षि
पातञ्जलयोगदर्शन	पतञ्जलि
" भाष्य	व्यासर्षि
" श्रुति	वाचस्पति
" "	यशोविजयोपाध्याय
योगवासिष्ठ	पूर्वर्षि
महाभारत	महर्षि व्यास
श्वेताश्वतरोपनिषद्	पूर्व ऋषि

भी होते हैं जो करीब करीब ग्रन्थिभेद करने लायक बल प्रकट करके भी अन्तमें राग द्वेषके तीव्र प्रहारोंसे आहत होकर व उनसे हार खाकर अपनी मूल स्थितिमें आ जाते हैं और अनक बार प्रयत्न करने पर भी राग द्वेष पर जयलाम नहीं करते । अनेक आत्मा ऐसे भी होते हैं, जो न तो हार ग्राहक पीछे गिरते हैं और न जय लाम कर पाते हैं, किन्तु वे चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्धके मैदानमें ही पड़े रहते हैं । कोई कोई आत्मा ऐसा भी होता है जो अपनी शक्तिका यथोचित प्रयाग करके उस आध्यात्मिक युद्धमें राग द्वेष पर जयलाम कर ही लता है । किसी भी मानसिक विचार की प्रतिद्विष्टतामें इन तीनों अवस्थाओंका अर्थात् कभी हार खाकर पीछे गिरनेका, कभी प्रतिस्पर्धामें हटे रहनेका और जयलाम करने का अनुभव हमें अकसर नित्य प्रति हुआ करता है । यही सघर्ष पहलाता है । सघर्ष विशालका कारण है । चाहे विद्या, चाहे धन, चाहे कीर्ति, कोई भी लालक वस्तु इष्ट हो, उसका प्राप्त करत समय भी अचानक अनक विघ्न उपस्थित होत हैं और उनका प्रतिद्विष्टतामें उक्त प्रकारकी तीनों अवस्थाओंका अनुभव प्राय सवको हाता रहता है । कोई विद्यार्थी कोई वनार्थी या कोई कीर्ति वाटकी जय अपन इष्टक लिय प्रयत्न करता है । तब या तो वह बीचमें अनेक कठिनाइयोंको देखकर प्रयत्नका छोड ही दता है या कठिनाइयोंको पारकर इष्ट प्राप्तिक मार्गकी ओर अग्रसर हो । है । जो अग्रसर हाता है, वह बडा विद्वान्, बडा धनवान् या बडा कीर्तिशाली बन जाता है । जो कठिनाइयोंसे डरकर पीछे भागता है, वह पामर, अज्ञान, निर्धन या कीर्तिहीन बना रहता है । और जो न कठिनाइयोंको जीत सकता है और न उनसे हार मानकर पीछे भागता है, वह साधारण स्थितिमें ही पडा रहकर कोई ध्यान

भगवद्गीता

वैशेषिकदर्शन

न्यायदर्शन

सुभाषितरत्नभाण्डागार

काव्यमीमांसा

मानवसततिशास्त्र

चिल्डहर्न्स पाली अँग्रेजी कोष

महर्षि व्यास

कणाद

गौतम ऋषि

राजशेखर





इस भावको समझानेके लिये शास्त्र\* में एक यह दृष्टान्त दिया गया है कि तीन प्रवासी कहीं जा रहे थे । बीचमें मयानक चोरोंको देखते ही तीनोंमेंसे एक तो पीछे भाग गया । दूसरा उन चोरोंसे डर कर नहीं भागा, किन्तु उनके द्वारा पकड़ा गया । तीसरा तो असाधारण बल तथा कोशलसे उन चोरोंको हराकर आगे बढ़ ही गया । मानसिक विकारोंके साथ आध्यात्मिक युद्ध करनेमें जो जय पराजय होना है, उसका थोड़ा बहुत ख्याल उक्त दृष्टान्तसे आ सकता है ।

● जह वा तिन्नि मणुस्सा, जतहवियह सहाव गमणेण ।  
 वेला इक्क मभिया, तुरति यत्तायदो चोरा ॥१०११॥  
 दट्ठु मग्ग तहत्थे, ते एगो मग्गओ दड्डिनियत्ता ।  
 त्रित्तिओ गहिओ तइओ, सम इक्कतु पुरपत्तो ॥१०१२॥  
 अड्ढा भवो मणूसा, जीया कम्मट्ठाई यहो दाहो ।  
 गठाय भयट्ठाण, रागद्धोसा य दा चोरा ॥१०१३॥  
 मग्गो ठिई परियुद्धी, गहिओ पुण गठिओ गओ तइओ ।  
 सम्भत्त पुर एव, जो एज्जातिण्णी करणाणि ॥१०१४॥”

—विशेषावश्यक भाष्य ।

यथा जनास्त्रय केऽपि, महापुर पिपासव ।  
 प्राप्ता क्वचन कान्तारे, स्थान चौर भयकरम् ॥६१९॥  
 तत्र द्रुत द्रुत यान्तो, ददृशुस्तस्करद्वयम् ।  
 तद्दृष्ट्वा त्वरित पश्चादेको भीत पलायित ॥६२०॥  
 गृहीतश्चापरस्ताभ्यामन्यस्त्ववगणप्यतौ ।  
 भयस्थानमतिक्रम्य, पुर प्राप पराक्रमी ॥६२१॥

## प्रस्तावनाका विषयक्रम ।



विषय ।	पृष्ठ ।
नाम	१
स्रगति	२
प्राचीन और नवीन चतुर्थ कर्मप्रथ	३
चौथा कर्मग्रन्थ और आगम, पञ्चसप्रह तथा गोम्मटसार	४
विषय प्रवेश	६
गुणस्थानका विशद स्वरूप	१०
दशान्तरके साथ जैनग्रन्थका साम्य	३२
योग सम्बन्धा विचार	४५
यागके भद्र और उनका आधार	४८
योगके तपाय और गुणस्थानामें योगावतार	४९
पूर्व सवा आदि शब्दोंकी व्याख्या	५२
योगजन्य विभूतियाँ	५३
गुणस्थान जैसा बौद्ध शास्त्रगत विचार	५३



८ शारीरिक और मानसिक दुःखोंकी संवेदनाके कारण अज्ञात रूपमेंही गिरि-नदी पापाणु \* -यापसे जब आत्माका आवरण कुछ शिथिल होता है और इसके कारण उसके अनुभव तथा चीर्योत्लासकी मात्रा कुछ बढ़ती है, तब उस विकासगामी आत्माके परिणामोंकी शुद्धि व कामलता कुछ बढ़ती है। जिसकी यशैलत घट रागद्वेषकी तीव्रतम—दुर्भेद प्रियका तोड़नेकी योग्यता बहुत अशोमें प्राप्त कर लेता है। इस अज्ञानपूवक दुःख संवेदना-जनित अति अल्प आत्म शुद्धिको जैनशास्त्रमें 'यथाप्रवृत्तिकरण' † कहा है। इसके बाद जब कुछ और भी अधिक आत्म शुद्धि तथा चीर्योत्लासकी मात्रा बढ़ती है तब राग द्वेषकी उस दुर्भेद प्रियका भेदन किया जाता है। इस ग्रन्थिभेदकारक आत्म-शुद्धिको 'अपूर्वकरण' ‡ कहते हैं।

। ❀ यथाप्रवृत्तकरण, नन्दनाभोगरूपकम् ।  
 भवत्यनाभोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ॥६७॥  
 "यथा भिद्यो धर्षणेन, प्राव्राणोऽद्रिनदीगता ।  
 स्युश्चिराद्वृत्तयो ज्ञान, शून्या अपि स्वभावत ॥६०८॥  
 † तथा यथाप्रवृत्तात्स्यु, -रप्यनाभोगलक्षणात् ।  
 लघुस्थितिकर्माणो, जन्तवोऽत्रान्तरेऽथ च ॥६०९॥"

—लोकप्रकाश, सर्ग ३ ।

† इसको दिगम्बरसम्प्रदायमें 'यथाप्रवृत्तकरण' कहते हैं ।  
 ‡ 'पक्षिण्ये देखिये,' तत्त्वार्थ अध्याय ९ के १ छे सूत्रका १३ वाँ

## प्रस्तावना ।

— \* —

नाम ।

प्रस्तुत प्रकरणका 'चौथा कर्मग्रन्थ' यह नाम प्रसिद्ध है, किन्तु इसका असली नाम पडशीतिक है। यह 'चौथा कर्मग्रन्थ' इसलिये कहा गया है कि यह कर्मग्रन्थोंमें इसका नम्बर चौथा है, और 'पडशीतिक' नाम इसलिये नियत है कि इसमें मूल गाथाएँ छियासी हैं। इसके सिवाय इस प्रकरणको 'सूदमार्थ विचार' भी कहते हैं, सो इसलिये कि ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तमें "सुदुमत्थ विचारो" शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार देखनेसे यह स्पष्ट ही मालूम होता है कि प्रस्तुत प्रकरणके उक्त तीनों नाम अन्वर्थ—सार्थक हैं।

यद्यपि टवावाली प्रति जो धीयुत् भीमसी माणिक द्वारा 'निर्णय सागर प्रेस, बम्बई' से प्रकाशित 'प्रकरण रत्नाकर चतुर्थ भाग' में छपी है, उसमें मूल गाथाओंकी सख्या नवासी है, किन्तु वह प्रकाशककी भूल है। क्योंकि उसमें जो तीन गाथाएँ दूसरे, तीसरे और चौथे नम्बर पर मूल रूपमें छपी हैं, वे वस्तुतः मूल रूप नहीं हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रकरणकी विषय-समूह गाथाएँ हैं। अर्थात् इस प्रकरणमें मुख्य क्या क्या विषय हैं और प्रत्येक मुख्य विषयसे सम्बन्ध रखनवाले अन्य कितने विषय हैं, इसका प्रदर्शन करानेवाली वे गाथाएँ हैं। अतएव ग्रन्थकारने उक्त तीन गाथाएँ स्वोपलक्ष्य टीकामें बद्ध की हैं, मूल रूपसे नहीं ली हैं और न इनपर टीका की है।

क्योंकि ऐसा करण—परिणाम \* विकासगामी आत्माकेलिये अपूर्व—प्रथम ही प्राप्त है। इसके बाद आत्म शुद्धि व धीर्योल्लासकी मात्रा कुछ अधिक बढ़ती है, तब आत्मा मोहकी प्रधानभूत शक्ति—दर्शनमोहपर अग्रय विजयलाभ करता है। इस विजय कारक आत्म शुद्धिको जैनशास्त्रमें “अनिवृत्तिकरण” † कहा है, क्योंकि इस आत्म शुद्धिके हो जानेपर आत्मा दर्शनमोहपर जय-लाम बिना किये नहीं रहता, अर्थात् वह पीछे नहीं हटता। उक्त तीन प्रकारकी आत्म शुद्धियोंमें दूसरी अर्थात् अपूर्वकरण-नामक शुद्धि ही अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि राग द्वेषके तीव्रतम वेगको

❀ “परिणामविशेषोऽत्र, करण प्राणिना मतम् ॥५९१॥”

—लोकप्रकाश, सर्ग ३।

† “अथानिवृत्तिकरणेना,—तिस्वच्छाशयात्मना ।

करोत्यन्तरकरण,—मन्तर्मुहूर्त्तसमितम् ॥६२७॥

कृते च तस्मिन्मिथ्यात्व,—मोहस्थितिर्द्विधा भवेत् ।

तत्राद्यान्तरकरणा, दधस्तन्यपरोर्ध्वगा ॥६२८॥

तत्राद्याया स्थितौ मिथ्या,—ऋक् स तद्वलवेदनात् ।

अतीतायामथैतस्या, स्थितायन्तर्मुहूर्त्तत ॥६२९॥

प्राप्तोत्यन्तरकरण, तस्याद्यक्षण एव स ।

सम्यक्त्वमौपशमिक,—मपौद्रलिकमाप्नुयात् ॥६३०॥

यथा वनद्वो दग्धे,—न्धन प्राप्यातृण स्थलम् ।

स्वय विध्यापति तथा, मिथ्यात्वोमदवानल ॥६३१॥

अवाप्यान्तरकरण, क्षिप्र विध्यापति स्वयम् ।

तदौपशमिक नाम, सम्यक्त्व लभतेऽसुमान् ॥६३२॥”

—लोकप्रकाश, सर्ग ३ ।

## संगति ।

पहले तीन कर्मग्रन्थोंके विषयोंकी संगति स्पष्ट है । अर्थात् पहले कर्मग्रन्थमें मूल तथा उत्तर कर्म प्रकृतियोंकी संगति और उनका विषयक वर्णन किया गया है । दूसरे कर्मग्रन्थमें प्रत्येक गुणस्थानको लेकर उसमें यथासम्भव षड्, उदय, उद्दीरणा और सत्तागत उत्तर प्रकृतियोंका भरपा घतलाई गई है और तीसरे कर्मग्रन्थमें प्रत्येक मार्गशास्त्रको लेकर उसमें यथासम्भव गुणस्थानोंके विषयमें उत्तर कर्मप्रकृतियोंका षड्स्वामित्व वर्णन किया है । तीसरे कर्मग्रन्थमें मार्गशास्त्रानोंमें गुणस्थानोंको लेकर षड्स्वामित्व वर्णन किया है सही, किन्तु मूलमें कहीं भी यह विषय स्वतंत्र रूपसे नहीं कहा गया है कि किस किस मार्गशास्त्रानमें कितने कितने और किन किन गुणस्थानोंका सम्भव है ।

अतएव चतुर्थ कर्मग्रन्थमें इस विषयका प्रतिपादन किया है और उक्त जिज्ञासाकी पूर्ति की गई है । जैसे मार्गशास्त्रानोंमें गुणस्थानोंकी जिज्ञासा होती है वैसे ही जीवस्थानोंमें गुणस्थानोंकी और गुणस्थानोंमें जावस्थानोंकी भी जिज्ञासा होती है । इतना ही नहीं, यदि जीवस्थानोंमें योग, उपयोग आदि अथाय विषयोंकी और मार्गशास्त्रानोंमें जीवस्थान, योग, उपयोग आदि अथाय विषयोंकी तथा गुणस्थानोंमें योग, उपयोग आदि अथान्य विषयोंकी भी जिज्ञासा होती है । इन सब जिज्ञासाओंकी पूर्तिके लिये चतुर्थ कर्मग्रन्थकी रचना हुई है । इसीस इसमें मुख्यतया जीवस्थान, मार्गशास्त्रान, और गुणस्थान, ये तीन अधिकार रक्षित गये हैं । और प्रत्येक अधिकारमें क्रमश आठ, छह तथा दस विषय वर्णित हैं, जिनका निर्देश पहला गाथाक भाषाधर्ममें पृष्ठ २ पर तथा स्फुट नोटमें समझ गाथाओंके द्वारा किया गया है । इसके सिवाय प्रसंग

चतुर्थीसे आगेकी अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्म  
 गृष्टिवाली ही समझनी चाहिये, क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास  
 तथा दृष्टि की शुद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान  
 में स्वरूप-दर्शन करनेसे आत्माको अपूर्व शान्ति मिलती है और  
 उसकी विश्वास होता है कि अब मेरा साध्य विषयक भ्रम दूर हुआ,  
 अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक व बाह्य सुखको मैं तरस रहा  
 था, वह परिणाम विरस, अस्थिर एवं परिमित है परिणाम सुन्दर,  
 स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप प्राप्तिमें ही है। तब वह विकास  
 गामी आत्मा स्वरूप स्थितिकल्पिये प्रयत्न करने लगता है।

मोहकी प्रधान शक्ति—दर्शनमोहको शिथिल करके स्वरूप  
 दर्शन कर लेनेके बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र्य  
 मोहको शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप लाभ किंवा स्वरूप  
 स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये वह मोहकी दूसरी शक्तिको  
 मन्द करनेकेलिये प्रयत्न करता है। जब वह उस शक्तिको  
 अशक्त शिथिल कर पाता है, तब उसकी और भी उत्क्रान्ति हो  
 जाती है। जिसमें अशक्त स्वरूप स्थिरता या परपरिणति-त्याग  
 होनेसे चतुर्थ भूमिकाकी अपेक्षा अधिक शान्ति लाभ होता है।  
 यह देशविरति नामक पाँचवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थानमें विकासगामी आत्माको यह विचार होने  
 लगता है कि यदि अल्प विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति लाभ  
 हुआ तो फिर सब विरति—जह भावोंके मद्यथा परिहारसे

सयम प्राप्त होता है। जिसमें पौडलिक भावोंपर मूर्च्छा बिलकुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूपकी अभिव्यक्ति करनेके काममें ही खर्च होता है। यह "सर्वविरति" नामक षष्ठ गुणस्थान है। इसमें आत्मकल्याणके अतिरिक्त लोककल्याणकी भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। जिससे कभी कभी थोड़ी बहुत मात्रामें प्रमाद आ जाता है।

पाँचवे गुणस्थानकी अपेक्षा, इस छठे गुणस्थानमें स्वरूप अभिव्यक्ति अधिक होनेके कारण यद्यपि विकासगामी आत्माको आध्यात्मिक शान्ति पहलेसे अधिक ही मिलती है तथापि बीच-बीच में अनेक प्रमाद उसे शान्ति अनुभवमें जो बाधा पहुँचाते हैं, उसको यह सहन नहीं कर सकता। अत एव सर्व विरति जनित शान्तिके साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शान्तिका अनुभव करनेकी प्रबल लालसासे प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमादका त्याग करता है और स्वरूपकी, अभिव्यक्तिके अनुकूल मनन चिन्तनके सिधाय अथवा व्यापारोंका त्याग कर देता है। यही 'अप्रमत्त सयत' नामक सातवें गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमाद जय उत्कट सुख का अनुभव आत्माको उस स्थितिमें बने रहने केलिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद जन्य पूर्व वास गाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानीमें विकासगामी आत्मा कभी प्रमादकी तन्द्रा और कभी अप्रमादकी जागृति अर्थात् छुटे और सातवें गुणस्थानमें अनेक बार जाता आता रहता है। भँवर या चातुर्गामीमें पडा हुआ तिनका इधरसे उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छुटें और सातवें गुणस्थानके समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।

प्रमादके साथ होनेवाले इस आ तरिक युद्धके समय विकास



वाशिष्ठमें \* तथा पातञ्जलयोग सूत्र † में अज्ञानी जीवका वही लक्षण है । जैनशास्त्रमें मिथ्यात्वमोहनीयका समार बुद्धि और दुःखरूप फल वर्णित है ‡ । यही बात योगवाशिष्ठके

“आत्मधिया समुपात्त, फायादि कीर्त्यतेऽत्र बहिरात्मा ।

कावादे समाधिष्ठा, -यको भवत्यन्तरात्मा तु ॥७॥”

—योगशास्त्र, प्रकाश १२।

“निर्मलस्फटिकस्यैव, सहज रूपमात्मनः ।

अध्यस्तोपाधिसबन्धा, जहस्तत्र विमुह्यति ॥६॥”

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

“नित्यशुच्यात्मताख्याति, रनित्याशुच्यनात्मसु ।

आविद्यातत्त्वर्षाविद्या योगाचाय प्रकाशिता ॥१॥”

—ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

“भ्रमवाटी बहिर्दृष्टि, भ्रमच्छाया तदीक्षणम् ।

अभ्रान्तस्तत्त्वदृष्टिस्तु, नास्या शते सुराऽऽशया ॥२॥”

ज्ञानसार, तत्त्वदृष्टि अष्टक ।

“यस्याऽज्ञानात्मनोऽज्ञस्य, देह एवात्मभावना ।

वदितेति रुपैवाक्ष, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥३॥”

—निर्वाण प्रकरण, पूवार्ध, सर्ग ६।

† “अनित्याऽशुचिदुःखाऽनात्मसु नित्यशुचिसुन्यात्मरयातिरविद्या ॥”

—पातञ्जलयोगसूत्र, साधन पाद, सूत्र ५ ।

‡ “समुदायावयवयोर्बन्धहेतुत्व वाक्यपरिसमाप्तेर्बन्धिन्यात् ॥”

—तत्त्वार्थ, अध्याय, ९, सू० १, वार्तिक ३१ ।

“विकल्पचपकैरात्मा, पीतमोहासवो ह्ययम् ।

भवोऽज्ञतालमुच्छाल, प्रपञ्चमधितिष्ठति ॥४॥”

—ज्ञानसार, मोहाष्टक ।

चतुर्थीसे आगेकी अर्थात् पञ्चमी आदि सब भूमिकाएँ सम्म  
दृष्टिवाली ही समझनी चाहिये क्योंकि उनमें उत्तरोत्तर विकास  
तथा दृष्टि की श्रद्धि अधिकाधिक होती जाती है। चतुर्थ गुणस्थान  
में स्वरूप-दर्शन करनेसे आत्माको अपूय शांति मिलती है और  
लक्षको विश्वास होता है कि अक्ष मेरा साध्य विषयक भ्रम दूर हुआ,  
अर्थात् अब तक जिस पौद्गलिक यथाहा सुखको मैं तरस रहा  
था, वह परिणाम विरस, अस्थिर एवं परिमित है परिणाम सुन्दर,  
स्थिर व अपरिमित सुख स्वरूप प्राप्तिमें ही है। तब यह विकास  
गामी आत्मा स्वरूप स्थितिकलिये प्रयत्न करने लगता है।

मोहकी प्रधान शक्ति—दशनमोहको शिथिल करके स्वरूप  
दर्शन कर लेनेके बाद भी, जब तक उसकी दूसरी शक्ति—चारित्र्य  
मोहको शिथिल न किया जाय, तब तक स्वरूप लाभ किया स्वरूप  
स्थिति नहीं हो सकती। इसलिये यह मोहकी दूसरी शक्तिसे  
मोह करनेकेलिये प्रयास करता है। जब यह उस शक्तिको  
अशत शिथिल कर पाता है, तब उसकी और भी बत्कान्ति हो  
जाती है। जिसमें अशत स्वरूप स्थिरता या परपरिणति-त्याग  
होनेसे चतुर्थ भूमिकाकी अपेक्षा अधिक शांति लाभ होता है।  
यह देशविरति नामक पाँचवाँ गुणस्थान है।

इस गुणस्थानमें विकासगामी आत्माको यह विचार होने  
लगता है कि यदि अल्प विरतिसे ही इतना अधिक शान्ति लाभ  
हुआ तो फिर सर्व विरति—जड़ भावोंके सबथा परिहारसे  
कितना शान्ति लाभ न होगा। इस विचारसे प्रेरित होकर व  
प्राप्त आध्यात्मिक शांतिके अनुभवसे यत्नवान् होकर यह विका  
सगामी आत्मा चारित्र्यमोहको अधिकाशमें शिथिल करके पहले  
की अपेक्षा भी अधिक स्वरूप स्थिरता व स्वरूप लाभ प्राप्त करने  
की चेष्टा करता है। इस चेष्टामें कृतकृत्य होते ही उसे सर्व विरति



सयम प्राप्त होता है। जिसमें पौद्रलिक भावोंपर मूर्च्छा विलकुल नहीं रहती, और उसका सारा समय स्वरूपकी अभिव्यक्ति करनेके काममें ही खर्च होता है। यह "सर्वविरति" नामक पष्ठ गुणस्थान है। इसमें आत्मकल्याणके अतिरिक्त लोककल्याणकी भावना और तदनुकूल प्रवृत्ति भी होती है। जिससे कभी कभी थोड़ी बहुत मात्रामें प्रमाद आ जाता है।

पाँचवे गुणस्थानकी अपेक्षा, इस छठे गुणस्थानमें स्वरूप अभिव्यक्ति अधिक होनेके कारण यद्यपि विकासगामी आत्माको आध्यात्मिक शांति पहलेसे अधिक ही मिलती है तथापि बीच बीच में अनेक प्रमाद उसे शांति अनुभवमें जो बाधा पहुँचाते हैं, उसको वह सहन नहीं कर सकता। अतएव सर्व विरति जनित शान्तिके साथ अप्रमाद-जनित विशिष्ट शांतिका अनुभव करनेकी प्रयत्न लालसासे प्रेरित होकर वह विकासगामी आत्मा प्रमादका त्याग करता है और स्वरूपकी अभिव्यक्तिके अनुकूल मनन चिन्तनके सिधाय अथवा व्यापारोंका त्याग कर देता है। यही 'अप्रमत्त सयत' नामक सातवाँ गुणस्थान है। इसमें एक ओर अप्रमाद जय सखट सुख का अनुभव आत्माको उस स्थितिमें बने रहने केलिये उत्तेजित करता है और दूसरी ओर प्रमाद जन्य पूर्व वास नाएँ उसे अपनी ओर खींचती हैं। इस खींचातानीमें विकासगामी आत्मा कभी प्रमादकी तरफ़ा और कभी अप्रमादकी जागृति अर्थात् छठे और सातवें गुणस्थानमें अनेक बार जाता आता रहता है। भँवर या चातुर्भुजा में पडा हुआ तिनका इधरसे उधर और उधर से इधर जिस प्रकार चलायमान होता रहता है, उसी प्रकार छठे और सातवें गुणस्थानके समय विकासगामी आत्मा अनवस्थित बन जाता है।

प्रमादके साथ होनेवाले इस आन्तरिक युद्धके समय विकास

बात रूपान्तरसे कही गई है। उसमें जो दृश्यके अस्तित्वको बन्धका कारण कहा है, उसका तात्पर्य दृश्यके अभिमान या अभ्याससे है। (५) जैसे, जैनशास्त्रमें ग्रन्थिभेदका वर्णन है वैसे ही योगवाशिष्ठमें भी है। (६) वैदिक ग्रन्थोंका यह वर्णन कि ब्रह्म, मायाके ससर्गसे लीपत्य धारण करता है और मनके ससर्गसे सकल्प विकल्पात्मक पेन्द्रजालिक सृष्टि रचता है, तथा स्यावरजङ्गमात्मक जगत्का कल्पके अन्तमें नाश होता है, इत्यादि बातोंकी संगति जैनशास्त्रके अनुसार इस प्रकार की जा सकती है। आत्माका अन्वयवहार राशिसे व्ययहारराशिमें माना ब्रह्मका जीवत्व धारण करना है।

“द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽङ्ग, बन्ध इत्याभिधीयते ।

द्रष्टा दृश्यबलाद्बद्धो, दृश्याऽभावे विमुच्यते ॥२२॥”

—उत्पत्ति प्रकरण, स० १।

“तस्माच्चित्तविकल्पस्थ, पित्राचो घालक यथा ।

विनिहन्त्येवमेवान्त, द्रष्टार दृश्यरूपिका ॥३८॥”

—उत्पत्ति प्र० स० ३।

\* इन्द्रिर्हि ग्रन्थिविच्छेद, स्तस्मिन् सति हि मुक्त्वा ।

मृगवृष्णाम्बुयुद्धादि, शान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ॥२३॥”

—उत्पत्ति प्रकरण, स० ११८

“तत्स्वय स्वैरमेवाशु, सकल्पयति नित्यश ।

तेनेत्यभिन्द्रजालश्री, विततेय वितन्यते ॥१६॥”

“यदिद दृश्यते सर्व, जगत्स्थावरजङ्गमम् ।

स्तुमुपमाविव स्वप्न, कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥१०॥”

॥ १

—उत्पत्ति-प्रकरण, स० १ ।

स तथाभूत एवात्मा, स्वयमन्य इवोद्धसन् ।

जीवतामुपयातीथ, भाविनाम्ना कदर्थिताम् ॥१३॥”

गामी आत्मा यदि अपना चारित्र्य-यत्न विशेष प्रकाशित करता है तो फिर वह प्रमादों—प्रलोभनोंको पार कर विशेष अप्रमत्त अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस अवस्थाको पाकर वह ऐसी शक्ति-शुद्धि की तैयारी करता है कि जिससे शेष रहे सहे मोह बलको नष्ट किया जा सके। मोहके साथ होनेवाले भावी युद्धकेलिये की जानेवाली तैयारीकी इस भूमिकाको आठवाँ गुणस्थान कहते हैं।

पहले सभी न हुई ऐसी आत्म शुद्धि इस गुणस्थानमें हो जाती है। जिससे कोई विकासगामी आत्मा तो मोहके सस्कारोंके प्रभावको प्रमत्त दयाता हुआ भागे बढ़ता है तथा अन्तमें उसे बिलकुल ही उपशान्त कर देता है। और त्रिशिष्ट आत्म शुद्धिवाला कोई दूसरा व्यक्ति ऐसा भी दाता है, जो मोहक सस्कारोंको प्रमत्त जड़ मूलसे उखाड़ता हुआ भागे बढ़ता है तथा अन्तमें उन सब सस्कारोंको सर्वथा निमूल ही कर डालता है। इस प्रकार आठवें गुणस्थानसे भागे बढ़नेवाले अर्थात् अन्तरात्म भावके विकासद्वारा परमात्म भाव रूप सर्वोपरि भूमिकाके निकट पहुँचने वाले आत्मा दो श्रेणियोंमें विभक्त हो जाते हैं।

एक श्रेणियाँ तो ऐसे होते हैं, जो मोहको एक बार सर्वथा दबा तो लेते हैं, पर उस निमूल नहीं कर पाते। अतः एतद्विषय जिस प्रकार किसी घतनमें भरी हुई भाँफ कमी कमी अपने घगस उस घर्तन को बहा ल भागती है या नीचे गिरा देती है अथवा जिस प्रकार राखके नीचे दबा हुआ अग्नि हवाका झरोका लगत ही अपना कार्य करने लगता है किंवा जिस प्रकार जलके तलमें बैठा हुआ मल थोडासा छीम पाते हैं ऊपर उठकर जलको गँदला कर देता है, उसी प्रकार पहले दबाया हुआ भाँफ अन्तरिक युद्धमें यकी हुए उन प्रथम श्रेणियाँ आत्माओंको अपने वेगकेद्वारा नीचे पटक देता है। एक बार सर्वथा दबाये जानेपर भी मोह, जिस

कमल सुदम तथा स्थूल मनद्वारा सश्रित्व प्राप्त करके कल्पना जालमें आत्माका विचरण करना सकल्प विकल्पात्मक ऐन्द्रजालिक सृष्टि है। शुद्ध आत्म स्वरूप व्यक्त होनेपर सासारिक पर्यायोंका नाश होना ही कल्पके अन्तमें स्थावर जड़मात्रमक जगत्का नाश है आत्मा अपनी सत्ता भूलकर जड़ सत्ताको स्वसत्ता मानता है, जो अहत्व ममत्त्व भावनारूप मोहनीयका उदय और बाधका कारण है। यही अहत्व ममत्त्व भावना वैदिक घर्णेन शैलिके अनुमार बाधहेतु भूत दृश्य सत्ता है। उत्पत्ति, वृद्धि, विकास, स्वर्ग तरक आदि जो जीवकी अवस्थाएँ वैदिक प्रयोगों परिलिखे हैं, वे ही जैन दृष्टिके अनुसार व्यवहार राशि गत जावके पर्याय हैं। (१) योगवाशिष्ठमें † स्वरूप स्थितिको ज्ञानीका और स्वरूप प्रशको अज्ञानीका लक्षण माना है। जैनशास्त्रमें भी सम्यक्ज्ञानका और मिथ्यादृष्टिका क्रमशः यही स्वरूप ‡ बतलाया है। (२) योगवाशिष्ठमें † जो सम्यक्ज्ञानका लक्षण

• "उत्पद्यते यो जगति, स एव किल वरत।

स एव मोक्षमाप्नोति स्वर्ग वा नरक च वा ॥७॥"

उत्पत्ति प्रकरण, स० १।

† "स्वरूपावस्थितिर्मुक्ति, स्तद्धशोऽहत्वघेदनम्।

एतत् सक्षेपत प्रोक्त, तद्गतत्वाहत्वलक्षणम् ॥५॥"

—उत्पत्ति प्रकरण, स० ११७।

‡ अहं भवेति मन्त्रोऽय, मोहस्य जगदान्धकृत्।

अयमेव हि नवपूष, प्रतिमन्त्रोऽपि मोहजित् ॥१॥"

—ज्ञानसार, मोहाष्टक।

स्वभावलाभसंस्कार, कारण ज्ञानमिष्यते।

ध्यानध्यमात्रमतस्त्वन्य, तथा चोक्त महात्मना ॥३॥"

—ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक।

+ "अनाद्यन्तावभासात्मा, परमात्मेह विद्यते।

भूमिकासे आत्माको हार दिलाकर नीचे की ओर पटक देता है, वही ग्यारहवाँ गुणस्थान है। मोहको क्रमशः दबाते-दबाते सर्वथा दवाने तकमें उत्तरोत्तर अधिक अधिक विशुद्धिवाली दो भूमिकाएँ अवश्य प्राप्त करनी पड़ती हैं। जो नौवाँ तथा दसवाँ गुणस्थान कहलाना है। ग्यारहवाँ गुणस्थान अत्र पतनका स्थान है, क्योंकि उसे पाने-वाला आत्मा आगे न बढ़कर एक बार तो अवश्य नीचे गिरता है।

दूसरी श्रेणियाँ आत्मा मोहको क्रमशः निर्मूल करते करते अन्तमें उसे सबथा निर्मूल कर ही डालते हैं। सर्वथा निर्मूल करने की जो उच्च भूमिका है, वही बारहवाँ गुणस्थान है। इस गुणस्थानको पाने तकमें अर्थात् मोहको सर्वथा निर्मूल करनेसे पहले बीचमें नौवाँ और दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करना पड़ता है। इसी प्रकार देखा जाय तो चाहे पहली श्रेणियाँ हों, चाहे दूसरी श्रेणियाँ, पर वे सब नौवाँ-दसवाँ गुणस्थान प्राप्त करते ही हैं। दोनों श्रेणियाँ अन्तर इतना ही होता है कि प्रथम श्रेणियाँकी अपेक्षा दूसरी श्रेणियाँमें आत्म शुद्धि व आत्म बल विशिष्ट प्रकारका पाया जाता है। जैसे—किसी एक दर्जेके विद्यार्थी भी दो प्रकारके होते हैं। एक प्रकारके तो ऐसे होते हैं, जो सो कोशिश करनेपर भी एक धारणी अपनी परीक्षामें पास होकर आगे नहीं बढ़ सकते। परदूसरे प्रकारके विद्यार्थी अपनी योग्यताके बलसे सब कठिनाइयोंका पार कर उस कठिनतम परीक्षाको वेधडक पास कर ही लेते हैं। उन दोनों दलके इस अन्तरका कारण उनकी आन्तरिक योग्यताकी न्यूनताधिकता है। ऐसे ही नौवें तथा दसवें गुणस्थानको प्राप्त करनेवाले उक्त दोनों श्रेणियाँकी आत्माओंकी आध्यात्मिक विशुद्धि न्यूनताधिक होती है। जिसके कारण एक श्रेणियाँ तो दसवें गुणस्थानको पाकर अन्तमें ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहसे हार खाकर नीचे गिरते हैं और अन्य श्रेणियाँ दसवें गुण



है; वह जैनशास्त्रके अनुकूल है। (१) जैनशास्त्रमें सम्यक् दर्शनकी प्राप्ति, (१) स्वमाद्य और (२) बाह्य निमित्त, इन दो प्रकारसे घतलाई है ॥ योगवाशिष्ठमें भी ज्ञान प्राप्तिका वैसा ही क्रम सूचित किया † है। (१०) जैनशास्त्रके चौदह गुणस्थानोंके स्थानमें चौदह भूमिकाओंका वर्णन योगवाशिष्ठमें ‡ घटुत रुचिकर घ विस्तृत है। सात भूमि

इत्येको निश्चय स्फार सम्यग्ज्ञान विदुर्बुधा ॥२॥”-

—उपशम प्रकरण, स० ७९।

ॐ “तन्निसर्गादधिगमाद् वा ।”

—तत्त्वार्थ अ० १, सू० ३।

† “एकस्तावद्गुरुप्रोक्ता, -दनुष्ठानाच्छनै शनै ।

जन्मना जन्मभिर्वापि, सिद्धिद ममुदाहृत ॥३॥

द्वितीयस्त्वात्मदेवाशु, किंचिद्ब्युत्पन्नचेतसा ।

भवति ज्ञानसंप्राप्ति, रक्षाशफलपातवत् ॥४॥”

—उपशम प्रकरण, स० ७।

‡ “अज्ञानभू सप्तपदा, ज्ञभू सप्तपदैव हि ।

पदान्तराण्यसख्यानि, मयन्त्यन्यान्यथैतयो ॥२॥”

“तत्रारोपितमज्ञान, तस्य भूमोरिमा शृणु ।

बीजजाग्रत्तथाजाग्रत्, महाजाग्रत्तथैव च ॥११॥

जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्न, स्वप्नजाग्रत्सुषुप्तकम् ।

इति सप्तविधा मोह, पुनरेव परस्परम् ॥१२॥

श्लिष्टो भयत्यनेकारय, शृणु लक्षणमस्य च ।

प्रथमे चेतन यत्स्या, -दनाय निर्मल चित ॥१३॥

मविष्यच्चित्तजीवादि, नामशन्दार्थभाजनम् ।

बीजरूप स्थित जाग्रत्, बीजजाग्रत्तदुच्यते ॥१४॥

स्थानको पाकर इतना अधिक आत्म बल प्रकट करते हैं कि अन्तमें वे मोहको सर्वथा क्षीण कर धारहर्षे गुणस्थानको प्राप्त कर ही लेते हैं।

जैसे ग्यारहवाँ गुणस्थान अवश्य पुनरावृत्तिका है वैसे ही धारहर्षे गुणस्थान अपुनरावृत्तिका है। अर्थात् ग्यारहवें गुणस्थानको पानेवाला आत्मा एक बार उससे अवश्य गिरता है और धारहर्षे गुणस्थानको पानेवाला उससे कदापि नहीं गिरता, बल्कि ऊपरको ही चढ़ता है। किसी एक परीक्षामें नहीं पास होनेवाले विद्यार्थी जिस प्रकार परिश्रम व एकाग्रतासे योग्यता बढ़ाकर फिर उस परीक्षाको पास कर लेते हैं, उसी प्रकार एक बार मोहमें हार खाने वाले आत्मा भी अप्रमत्त भाव व आत्म बल की अधिकतासे फिर मोहका अवश्य क्षीण कर देते हैं। उक्त दोनों श्रेणियाँ आत्माओंकी तरतम भावापन्न आध्यात्मिक विशुद्धि मानों परमात्म भाव रूप सर्वोच्च भूमिकापर चढ़नेकी दो नमनियाँ हैं। जिनमेंसे एकको जैनशास्त्रमें 'उपशमश्रेणि' और दूसरीको 'क्षपकश्रेणि' कहा है। पहली कुछ दूर चढ़ाकर गिरानेवाली और दूसरी चढ़ानेवाली ही है। पहली श्रेणिसे गिरनेवाला आध्यात्मिक अधपतनकेद्वारा चाहे प्रथम गुणस्थान तक क्यों न चला जाय, पर उसकी वह अधपतित स्थिति कायम नहीं रहती। कभी-कभी फिर वह दून बलसे और दूनी सावधानीसे तैयार होकर मोहशत्रुका सामना करता है और अन्तमें दूसरी श्रेणिकी योग्यता प्राप्त कर मोहका सर्वथा क्षय कर डालता है। व्यवहारमें अर्थात् आधिभौतिक क्षेत्रमें भी यह देखा जाता है कि जो एक बार हार खाता है, वह पूरी तैयारी करके हरानवाले शत्रुको फिरसे हरा सकता है।

परमात्म भावका स्वराज्य प्राप्त करनेमें मुख्य बाधक मोह ही है। जिसको नष्ट करना अन्तरात्म भावके विशिष्ट विकासपर निर्भर है। मोहका सर्वथा नाश हुआ कि अथ आवश्यक जो जैन

कार्ये ज्ञानकी और सात अज्ञानकी बातलाई हुई हैं, जो जैन परिभाषाके

एषा क्षप्तेर्नवावस्था, स्व जाग्रत्सृष्टिं शृणु ।  
 नवप्रसूतस्य परा द्यं चाहमिदं मम ॥१५॥  
 इति यं प्रत्ययं स्वस्थं, स्वजाग्रत्प्रागभावनात् ।  
 अयं सोऽहमिदं तन्म, इति जन्मान्तरोदितं ॥१६॥  
 पीषरं प्रत्ययं प्रोक्त्वा, महाजाग्रदिति स्फुरम् ।  
 अरूढमथवा रूढं, सर्वथा तन्मयात्मकम् ॥१७॥  
 यज्जाग्रता मनोराज्यं, जाग्रत्स्वप्नं स च्छयते ।  
 द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यं, मृगतृष्णादिभेदतः ॥१८॥  
 अभ्यासात्प्राप्य जाग्रत्स्वप्नं, स्वप्नोऽनेकविधो भवेत् ।  
 अल्पकालं मया दृष्टं, एव नो सत्यामित्यपि ॥१९॥  
 निद्राकालानुभूतेऽर्थे, निद्रात्ते प्रत्यया हि यः ।  
 स स्वप्नं कथितस्तस्य, महाजाग्रत्स्थितेऽहो ॥२०॥  
 चिरसदर्शनाभावात्प्रकुलवृद्धद् वपुः ।  
 स्वप्नो जाग्रत्स्वप्नो महाजाग्रत्स्वप्नं गतः ॥२१॥  
 अक्षते वा क्षतं दहे, स्वप्ननामन्मतं हि तत् ।  
 पदवस्थापरित्यागे, जहा जीवस्य या स्थितिः ॥२२॥  
 मविष्यदुत्सर्षोधात्प्रा, सौपुत्री सोच्यते गतिः ।  
 एते तस्याभवस्याया, वृणोतेऽशिलादयः ॥ २३ ॥  
 पदार्थाः सास्थिता सर्वे, परमाणुप्रमाणिनः ।  
 सप्तावस्था इति प्रोक्त्वा, मयाऽज्ञानस्य राघवः ॥ २४ ॥”  
 उपोत्ति-प्रकरण स० ११७ ।  
 “ज्ञानभूमिं शुभेच्छाख्या, प्रथमा समुदाहृता ।  
 विचारणा द्वितीया तु, तृतीया तनुमानसा ॥ ५ ॥

शास्त्रमें 'घातिकर्म' कहलाते हैं, वे प्रधान सेनापतिके मारे जानेके बाद अनुगामी सैनिकोंकी तरह एक साथ तितर-बितर हो जाते हैं। फिर क्या देरी, विकासगामी आत्मा तुरन्त ही परमात्म भावका पूरा आध्यात्मिक स्वराज्य पाकर अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूपको पूर्णतया व्यक्त करके निरतिशय ज्ञान, चारित्र्य आदिका लाभ करता है तथा अनिर्वचनीय स्वाभाविक सुखका अनुभव करता है। जैसे, पूर्णिमाकी रातमें निरञ्ज चन्द्रकी सम्पूर्ण कलाएँ प्रकाशमान होती हैं, वैसे ही उस समय आत्माकी चेतना आदि सभी मुख्य शक्तियाँ पूर्ण विकसित हो जाती हैं। इस भूमिकाको जैनशास्त्रमें तेरहवाँ गुण स्थान कहते हैं।

इस गुणस्थानमें चिरकाल तक रहनेके बाद आत्मा दग्ध रज्जुके समान शेष आवरणोंकी अर्थात् अप्रधानभूत अधातिकर्मोंको उडा कर फेंक डेकेलिये सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यानरूप पवनका आश्रय लेकर मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारोंको सर्वथा रोक देता है। यही आध्यात्मिक विकासकी पराकाष्ठा किंवा चौदहवाँ गुणस्थान है। इसमें आत्मा समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति शुक्ल ध्यानद्वारा सुमेरुकी तरह निष्प्रदम्भ स्थितिको प्राप्त करके अन्तमें शरीर त्याग पूर्वक व्यवहार और परमार्थ दृष्टिसे लोकोत्तर स्थानको प्राप्त करता है। यही निर्गुण ब्रह्मस्थिति \* है, यही सर्वज्ञान पूर्णता है, यही पूर्ण कृतकृत्यता है, यही परम पुरुषार्थकी अन्तिम सिद्धि

\* "योगसन्यासतस्त्यागी, योगानप्यलिङ्गैस्त्यजेत् ।

इत्येव निर्गुण ब्रह्म, परोक्तमुपपद्यते ॥७॥

वस्तुतस्तु गुणै पूर्ण मनन्तैर्भामते स्वत ।

रूप त्यक्त्वात्मन साधो -निरञ्जस्य विधोरिव ॥८॥"

—ज्ञानसार, त्यागाष्टक ।

अनुसार क्रमश मिथ्यात्वकी और सम्यक्त्वकी अवस्थाकी सूचक हैं । (११) योगवाशिष्ठमें तत्त्वज्ञ, समदृष्टि, पूर्णाश्रय और मुक्त पुरुषका

सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्या, ततो ससक्तिनामिका ।  
 पदार्थाभावनी पष्ठी, सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥ ६ ॥  
 आसामन्त स्थिता मुक्ति, -स्तन्या भूया न शोच्यते ।  
 एतासा भूमिकाना त्र, -मिद निर्वचन शृणु ॥ ७ ॥  
 स्थित किं मूढ एवास्मि, प्रेक्ष्यऽह शास्त्रसज्जनै ।  
 वैराग्यपूर्वमिच्छेति, शुभच्छेत्युच्यते बुधै ॥ ८ ॥  
 शास्त्रसज्जनसपर्क वैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।  
 सदाचारप्रवृत्तिर्या, प्रोच्यते सा विचारणा ॥ ९ ॥  
 विचारणा शुभेच्छाभ्या, मिन्द्रियार्थेष्वमत्तता ।  
 यत्र सा तनुताभावा, -प्रोच्यते तनुमानसा ॥ १० ॥  
 भूमिकान्निवृत्तयाभ्यासा, शिचैऽर्थे विरतेर्वशात् ।  
 सत्यात्मनि स्थिति शुद्धे, सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥ ११ ॥  
 दशाचतुष्टयाभ्यासा, -दससगफलेन च ।  
 रूढसत्त्वचमत्कारा, -प्रोक्ता ससक्तिनामिका ॥ १२ ॥  
 भूमिकापञ्चकाभ्यासा, त्वात्मारामतया दृढम् ।  
 आभ्यन्तराणा वाह्याना, पदार्थानामभावनात् ॥ १३ ॥  
 परप्रयुक्तेन चिर, प्रयत्नेनार्थभावनात् ।  
 पदार्थाभावना नास्ती, पष्ठी सजायते गति ॥ १४ ॥  
 भूमिपट्टकिराभ्यासा, -द्वेदस्यानुपलभ्यते ।  
 यत्स्वभावैकनिष्ठत्व, सा ज्ञेया तुर्यगा गति ॥ १५ ॥”

आच्छन्न रहता है, जिसके कारण आत्मा मिथ्याध्यासवाला होकर पौद्गलिक विलासोंको ही सर्वस्व मान लेता है और वहीँकी प्राप्तिके लिये सम्पूर्ण शक्तिका व्यय करता है।

दूसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप पूर्णतया तो प्रकट नहीं होता, पर उसके ऊपरका आवरण गाढ़ न होकर शिथिल, शिथिलतर, शिथिलतम बन जाता है, जिसके कारण उसको दृष्टि पौद्गलिक विलासोंकी ओरसे दृष्ट कर शुद्ध स्वरूपकी ओर लग जाती है। इसीसे उसकी दृष्टिमें शरीर आदिकी जीर्णता व नवीनता अपनी जीर्णता व नवीनता नहीं है। यह दूसरी अवस्था ही तीसरी अवस्थाका दृढ़ सोपान है।

तीसरी अवस्थामें आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है अर्थात् उसके ऊपरके घने आवरण बिलकुल विद्योत हो जाते हैं।

पहला, दूसरा और तीसरा गुणस्थान बहिरात्म अवस्थाका चित्रण है। चौथेसे बारहवें तकके गुणस्थान अन्तरात्म अवस्थाका दिग्दर्शन है और तेरहवाँ, चौदहवाँ गुणस्थान परमात्म अवस्थाका वर्णन \* है।

ॐ “ अथे तु मिथ्यादर्शनादिभावपरिणतो बाह्यात्मा, सम्यग्दर्शनादिपरिणतस्त्वन्तरात्मा, केवलज्ञानादिपरिणतस्तु परमात्मा। तत्राद्य गुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, तत पर क्षीणमोहगुणस्थान यावदन्तरात्मा, तत परन्तु परमात्मेति। तथा व्यक्त्या बाह्यात्मा, शक्त्या परमात्मान्तरात्मा च। व्यक्त्यान्तरात्मा तु शक्त्या परमात्मा अनुभूतपूर्वनयेन च बाह्यात्मा, व्यक्त्या परमात्मा, अनुभूतपूर्वनयेनैव बाह्यात्मान्तरात्मा च।”

—अध्यात्ममत्तपरीक्षा, गाथा १२५।

जो धर्यान \* है, यह जैन सकेतानुसार चतुर्यं आदि गुणस्थानोंमें स्थित  
आत्माको लागू पड़ता है। जैनशास्त्रमें जो ज्ञानका महत्त्व धरित† है,

ॐ योग० निर्वाण प्र०, स० १७०, निर्वाणं प्र० ८, स० ११९।

योग० स्थिति प्रकरण, स० ५७, निर्वाण प्र० स० १९९।

† “ जागर्ति ज्ञानदृष्टिश्चे, सृष्ट्या कृष्ट्याऽहिजाङ्गुली । ”

पूर्णातन्दस्य तर्कि स्या, द्वैन्यष्ट्रिकवेदना ॥ ४ ॥”

-ज्ञानसार, पूर्णताष्टक ।

“अस्ति चद्रुमान्यभिद् ज्ञान, किं चित्रैस्तन्त्रयन्त्रणै ।

प्रदापा कापयुष्यन्ते, तमोष्नी दृष्टिरेव चेत् ॥ ६ ॥

मिव्यात्वशैलपक्षाच्छिद्, ज्ञानदम्भोलिशोभित ।

निर्भय शक्रउद्योगी, नन्दत्यानन्दनन्दने ॥ ७ ॥

पीयूषमसमुद्रात्थ, रसायनमनौषधम् ।

अनन्यापक्षमैश्वर्यै, ज्ञानमाहुर्मनीषिण ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, ज्ञानाष्टक ।

“ससारे निवसन् स्वार्थ, सज्ज कज्जलवेदमनि ।

लिप्यते निखिलो लोका, ज्ञानसिद्धो न लिप्यते ॥ १ ॥

नाह पुद्गलभायाना, कर्त्ता कारयिता च ।

नानुमन्तापि चत्यात्म, ज्ञानवान् लिप्यते कथम् ॥ २ ॥

लिप्यते पुद्गलस्कन्धा, न लिप्ये पुद्गलैरहम् ।

चित्रव्यामाञ्जनेनेव, ध्यायन्निति न लिप्यते ॥ ३ ॥

लिप्तताज्ञानसपात, प्रतिघाताय केवलम् ।

निर्लेपज्ञानममस्य, क्रिया सर्वोपयुज्यते ॥ ४ ॥

आत्माका स्वभाव ज्ञानमय है, इसलिये वह चाहे किसी गुण-स्थानमें क्यों न हो, पर ध्यानसे कदापि मुक्त नहीं रहता। ध्यानके सामान्य रीतिसे (१) शुभ और (२) अशुभ, ऐसे दो विभाग और विशेष रीतिसे (१) आर्त, (२) रौद्र, (३) धर्म और (४) शुक्ल, ऐसे चार विभाग शास्त्रमें \* किये गये हैं। चारमेंसे पहले दो अशुभ और पिछले दो शुभ हैं। पौडलिक दृष्टिकी मुख्यताके किंवा आत्म विस्मृतिके समय जो ध्यान होता है, वह अशुभ और पौडलिक दृष्टिकी गौणता व आत्मानुसन्धान दशामें जो ध्यान होता है, वह शुभ है। अशुभ ध्यान ससारका कारण और शुभ ध्यान मोक्ष का कारण है। पहले तीन गुणस्थानोंमें आर्त और रौद्र, ये दो ध्यान ही तर तम भावसे पाये जाते हैं। चौथे और पाँचवें गुणस्थानमें उक्त दो ध्यानोंके अतिरिक्त सम्यक्त्वके प्रभावसे धर्मध्यान भी होता है। छठे गुणस्थानमें आर्त और धर्म, ये दो ध्यान होते हैं। सातवें गुणस्थानमें सिर्फ धर्मध्यान होता है। आठवेंसे बारहवें तक पाँच गुणस्थानोंमें धर्म और शुक्ल, ये दो ध्यान होते हैं। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सिर्फ शुक्लध्यान होता है †।

“वाहात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मोति च त्रय ।  
 कायाधिष्ठायकध्येया, प्रासद्धा योगवाद्भये ॥ १७ ॥  
 अन्ये भिध्यात्वसम्यक्त्व, केवलज्ञानभागिन ।  
 मिथे च क्षीणमोहे च, विश्रान्तास्ते त्वयोगिनि ॥ १८ ॥”

—योगावतारद्वात्रिंशिका ।

\* “आर्तरौद्रधर्मशुक्लानि ।”—तत्त्वार्थ-अध्याय ९, सूत्र २९ ।

† इसकेलिये देखिये, तत्त्वार्थ अ० ९, सूत्र ३५ से ४० । ध्यान-शतक, गा० ६३ और ६४ तथा आवश्यक-हारिभद्री टीका पृ० ६०२ । इस विषयमें तत्त्वार्थके उक्त सूत्रोंका राजवार्तिक विशेष देखने योग्य है, क्योंकि उसमें श्वेताम्बरग्रन्थोंसे थोड़ासा मतभेद है ।



तप श्रुतादिना मत्त , क्रियावानपि लिप्यते ।  
भावनाज्ञानसपन्नो, निष्क्रियोऽपि न लिप्यते ॥ ५ ॥”

ज्ञानसार, निर्लेपाष्टक ।

“छिन्दन्ति ज्ञानदात्रेण, स्पृहाविपलता बुधा ।  
मुखशोक च मूर्च्छा च, दैन्यं यच्छति यत्फलम् ॥ ३ ॥”

ज्ञानसार, नि स्पृहाष्टक ।

“मिथोयुक्तपदार्थानां, मसक्रमचमक्रिया ।  
चिन्मात्रपरिणामेन, विदुषैवानुभूयते ॥ ७ ॥  
अविद्यातिमिरध्वसे, दशा विद्याञ्जनस्पृशा ।  
पश्यन्ति परमात्मान, मात्मन्येव हि योगिन ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, विद्याष्टक ।

“भवसौरयेन किं भूरि, भयज्वलनभस्मना ।  
सदा मयोज्झित ज्ञान, सुखमेव विशिष्यते ॥ २ ॥  
न गोप्य कापि नारोप्य, हेय देय च न क्वचित् ।  
क भयेने मुने स्थेय, क्षेय ज्ञानेन पश्यत ॥ ३ ॥

एक ब्रह्मास्त्रमादाय, निघ्नन्माहचमू मुनि ।  
विभेति नैव सप्राम, शीर्षस्थ इव नागरात् ॥ ४ ॥

मयूरी ज्ञानदृष्टिश्चे, त्सर्पति मनोवने ।  
वेष्टन भयसर्पाणा, न तदाऽऽनन्दचन्दने ॥ ५ ॥

कृतमोहास्त्रवैफल्य, ज्ञानवर्म त्रिभर्ति य ।  
क भीस्तस्य क वा भङ्ग , कर्मसगरकोलिषु ॥ ६ ॥

तूलवह्वपवो मूढा, भ्रमन्त्यभ्र भयानिलै ।  
नैक रोमापि तैर्ज्ञान, गरिष्ठाना तु कम्पते ॥ ७ ॥

गुणस्थानोंमें पाये जानेवाले ध्यानोके उक्त वर्णनसे तथा गुण स्थानोंमें किये हुए बहिरात्म भाव आदि पूर्वोक्त विभागसे प्रत्येक मनुष्य यह सामान्यतया जान सकता है कि मैं किस गुणस्थानका अधिकारी हूँ। ऐसा ज्ञान, योग्य अधिकाारीकी नैसर्गिक महत्त्वा काहाशो ऊपरके गुणस्थानोंकेलिये उत्तेजित करता है।

## दर्शनान्तरके साथ जैनदर्शनका साम्य ।

जो दर्शन, आस्तिक अर्थात् आत्मा, उसका पुनर्जन्म, उसकी विकासशीलता तथा मोक्ष-योग्यता माननेवाले हैं, उन सबमें किसी न किसी रूपमें आत्माके क्रमिक विकासका विचार पाया जाना स्वाभाविक है। अत एव आचार्यर्षिके जैन, वैदिक और बौद्ध, इन तीनों प्राचीन दर्शनोंमें उक्त प्रश्नका विचार पाया जाता है। यह विचार जैनदर्शनमें गुणस्थानके नामसे, वैदिक दर्शनमें भूमिकाओंके नामसे और बौद्धदर्शनमें अवस्थाओंके नामसे प्रसिद्ध है। गुणस्थानका विचार, जैसा जैनदर्शनमें सूक्ष्म तथा विस्तृत है, वेसा अब दर्शनोंमें नहीं है, तो भी उक्त तीनों दर्शनोंकी उक्त विचारके सम्बन्धमें बहुत कुछ समता है। अर्थात् सकेत, वर्णनशैली आदिकी भिन्नता होनेपर भी वस्तुतत्त्वके विषयमें तीनों दर्शनोंका भेद नहींके बराबर ही है। वैदिकदर्शनके योगवाशिष्ठ, पातञ्जल योग आदि ग्रन्थोंमें आत्माकी भूमिकाओंका अच्छा विचार है।

जैनशास्त्रमें मिथ्यादृष्टि या बहिरात्माके नामसे अज्ञानी जीवका लक्षण बतलाया है कि जो अनात्मामें अर्थात् आत्म भिन्न जडतत्त्वमें आत्म बुद्धि करता है, वह मिथ्यादृष्टि या बहिरात्मा \* है। योग

ॐ "तत्र मिथ्यादर्शनोदयवर्गीकृता मिथ्यादृष्टि ।"

—तत्त्वार्थ अध्याय ९, सू० १, राजवार्त्तिक १२।

वही योगवाशिष्ठमें प्रहामाहात्म्यके नामसे चलिखित है ॥

चित्ते परिणत यस्य, चारित्रमकुतोभयम् ।

अखण्डज्ञानराज्यस्य, तस्य साधो कुतो भयम् ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, त्रिभयाष्टक ।

“अदृष्टार्थेतु धावन्त, शास्त्रदीप विना जडा ।

प्राप्नुवन्ति पर खेद, प्रस्खलन्त पदे पदे ॥ ५ ॥

“अज्ञानाहिमहामन्त्र, स्वाच्छन्द्यञ्चरलङ्घनम् ।

धर्माराममुघाकृत्या, शास्त्रमाद्भुमहर्षय ॥ ७ ॥

शास्त्रोक्ताचारकर्त्ता च, शास्त्रज्ञ शास्त्रदेशक ।

शास्त्रैकदृग् महायोगी, प्राप्नोति परम पदम् ॥ ८ ॥”

ज्ञानसार, शास्त्राष्टक ।

“ज्ञानमेव बुधा प्राहु, कर्मणा तापनात्तप ।

तदाभ्यन्तरमेवेष्ट, बाह्य तद्गुणवृद्धकम् ॥ १ ॥

आनुस्रातसिकी वृत्ति, -र्वाळाना सुखशीलता ।

प्रातिस्रातसिकी वृत्ति, क्षान्तिना परम तप ॥ २ ॥”

“सद्गुणायप्रवृत्ताना, सुपेयमधुरत्वत ।

क्षान्तिना नित्यमानन्द, वृद्धिरेव तपस्विनाम् ॥ ४ ॥”

ज्ञानसार, तपोष्टक ।

● “न तद्गुरोर्न शास्त्रार्था, न पुण्यात्पाप्यते पदम् ।

यत्साधुसङ्गाभ्युदिता, द्विचारविशदाद्भृद ॥ १७ ॥

सुन्दर्या निजया बुद्ध्या, प्रज्ञयेष वयस्यया ।

पदमासाद्यते राम, न नाम क्रिययाऽन्यया ॥ १८ ॥

यस्योज्ज्वलति तीक्ष्णाम्ना, पूर्वापराविचारिणी ।  
 प्रज्ञादीपशिखा जातु, जाह्यान्ध्य त न बाधते ॥१९॥  
 दुरुत्तरा या विपदा, दुःखकलोलसकुला ।  
 तीर्थते प्रज्ञया ताभ्यो, नावाऽपद्रुभ्यो महामते ॥२०॥  
 प्रज्ञाविरहित मूढ, मापदल्पापि बाधते ।  
 पेलवाधानिलकला, सारहीनमिबोलपम् ॥२१॥”  
 “प्रज्ञावानसहोऽपि, कार्यान्तमावेगच्छति ।  
 दुष्प्रज्ञ कार्यमासाद्य, प्रधानमपि नश्यति ॥२३॥  
 शास्त्रसज्जनससंगं प्रज्ञा पूर्वं विवर्धयेत् ।  
 सेकसरक्षणारम्भै, फलप्राप्तौ लतामिव ॥२४॥  
 प्रज्ञाबलवृहन्मूल, काले सत्कार्यपादप ।  
 फल फलत्यतिस्वादु भामोर्विन्नामिवैन्दवम् ॥२५॥  
 य एव यत्न क्रियते, बाह्यार्थोपार्जन जनै ।  
 स एव यत्न कर्तव्य, पूर्वं प्रज्ञाविवर्धने ॥२६॥  
 सीमान्त सर्वदुःखाना, मापदा कोशमुत्तमम् ।  
 बीज ससारवृक्षाणा, प्रज्ञामान्द्य विनाशयत् ॥२७॥  
 स्वर्गाद्यद्यच्च पाताला, द्राज्याद्यत्समवाप्यते ।  
 तत्समासाद्यते सर्वं, प्रज्ञाकोशान्महात्मना ॥२८॥  
 प्रज्ञयोर्तीर्थत भीमा, त्तस्मात्ससारसागरात् ।  
 न दानैर्न च वा तीर्थै, स्तपसा न च राघव ॥२९॥  
 यत्प्राप्ता सपद् दैवी, मापि भूमिचरा नरा ।  
 प्रज्ञापुण्यलतायास्त, स्फल स्वादु समुत्थितम् ॥३०॥

वैसे ही धर्मानुसारी आदि उक्त पाँच प्रकारके आत्मा भी मार—  
कामके वेगको उत्तरोत्तर अल्प धमसे जीत सकते हैं ।

बौद्ध शास्त्रमें दस सयोजनाएँ—बन्धन वर्णित \* हैं । इनमेंसे  
पाँच 'ओरभागीय' और पाँच 'उद्धभागीय' कही जाती हैं । पहली  
तीन सयोजनाओंका क्षय हो जानेपर सोतापन्न अवस्था प्राप्त  
होती है । इसके बाद राग द्वेष और मोह शिथिल होनेसे सकदा  
गामी अवस्था प्राप्त होती है । पाँच ओरभागीय सयोजनाओंका  
नाश हो जानेपर औपपत्तिक अनावृत्तिधर्मा किंवा अनागामी-  
अवस्था प्राप्त होती है और दसों सयोजनाओंका नाश हो जानेपर  
अरहा पद मिलता है । यह वर्णन जैनशास्त्र-गत कर्मप्रकृतियोंके  
क्षयके वर्णन-जैसा है । सोतापन्न आदि उक्त चार अवस्थाओंका  
विचार चाहेसे लेकर चौदहवेंतकके गुणस्थानोंके विचारोंसे  
मिलता-जुलता है अथवा यों कहिये कि उक्त चार अवस्थाएँ चतुर्थ  
आदि गुणस्थानोंका सक्षेपमात्र हैं ।

जैसे जैन शास्त्रमें लब्धिका तथा योगदर्शनमें योगविभूतिका  
वर्णन है, वैसे ही बौद्ध शास्त्रमें भी आध्यात्मिक विकास कालीन  
सिद्धियोंका वर्णन है, जिनको उसमें 'अभिज्ञा' कहते हैं । ऐसी अभि-  
ज्ञाएँ छह हैं, जिनमें पाँच लौकिक और एक लोकोत्तर कही  
गयी † है ।

\* ( १ ) सकायदिट्ठि, ( २ ) विचिकच्छा, ( ३ ) सीलवपत्त  
परामाम, ( ४ ) कामराग, ( ५ ) पटीध, ( ६ ) रूपराग, ( ७ )  
अरूपराग, ( ८ ) मान, ( ९ ) उद्धव और ( १० ) अविज्जा ।  
मराठीभाषान्तरित, दीघनिकाय, पृ० १७५ टिप्पणी ।

† देखिये,—मराठीभाषान्तरित मज्झिमनिकाय, पृ० १५६ ।

प्रज्ञया नत्पराखून, मत्तवारणयूथपा ।  
 जम्बुकैर्विजिता सिद्धा, सिद्धैर्हरिणका इव ॥३१॥  
 सामान्यैरपि भूपत्व, प्राप्त प्रज्ञावशात्तरैः ।  
 स्वर्गापवगयोग्यत्व प्राक्षस्यैवह दृश्यते ॥३२॥  
 प्रज्ञया षादिन सर्वे स्वविकल्पविलासिन ।  
 जयन्ति सुभटप्ररया, क्षरानप्यतिभारव ॥३३॥  
 चिन्तामणिरिय प्रज्ञा, इत्कोशस्था विवेकिन ।  
 फल कल्पतेर्वेषा, चिन्तित सम्प्रयच्छति ॥३४॥  
 भव्यस्तरति ससार प्रज्ञयापोह्यतेऽधम ।  
 शिक्षित पारमाप्नोति, नावा नाप्नोत्यशिक्षित ॥३५॥  
 धी सम्यग्योजिता पार, मसम्यग्योजिताऽऽपदम् ।  
 नर नयति ससारे, भ्रमन्ता नौरिवार्णवे ॥३६॥  
 विवेकिनमसमूह, प्राक्षमाशागणोत्थिता ।  
 दोषा न परिबाध ते, सन्नद्धमिव सायका ॥३७॥  
 प्रज्ञयेह जगत्सर्व, सम्यगवाङ्ग दृश्यते ।  
 सम्यग्दर्शनमायान्ति, नापदो न च सपद ॥३८॥  
 पिधान परमार्कस्य, जडात्मा विवृताऽमित ।  
 अहकाराम्बुदो मत्त, प्रज्ञावातेन बाध्यते ॥३९॥”

उपशम प्र०, प्रज्ञामाहात्म्य ।

बौद्ध शास्त्रमें बोधिसत्त्वका जो लक्षण \* है, वही जैन शास्त्रके अनुसार सम्पगृष्टिका लक्षण है। जो सम्पगृष्टि होता है वह यदि गृहस्थके आरम्भ समाप्त आदि कार्योंमें प्रवृत्त होता है, तो भी उसकी वृत्ति तप्तलोहपद-यासवत् अर्थात् गरम लोहेपर रक्खे जानवाले पैरके समान सकम्प या पाप भीठ होती है। बौद्ध शास्त्रमें भी बोधिसत्त्वका वैसा ही स्वरूप मानकर उसे कायपाती अर्थात् शरीरमात्रसे [ चित्तसे नहीं ] साक्षारिक प्रवृत्तिमें पडनेवाला कहा है †। वह चित्तपाती नहीं होता।

इति ।

ॐ “कायपातिन एवेह, बोधिसत्त्वा परोदितम् ।

न चित्तपातिनस्ताव, देतदत्रापि शुक्तिमत् ॥२७१॥’

—योगविन्दु ।

† “एव च यत्परैरुक्त, बोधिसत्त्वस्य लक्षणम् ।

विचार्यमाण सञ्जीत्या, तदप्यत्रोपपद्यते ॥ १० ॥

तप्तलोहपदन्त्यास, -तुल्यावृत्ति षचिद्यदि ।

इत्युक्ते कायपात्येष, चित्तपाती न स स्मृत ॥ ११ ॥”

५५

—सम्पगृष्टिद्वारिणिका ।

## योगसम्बन्धी विचार ।

गुणस्थान और योग के विचार में अन्तर क्या है ? गुणस्थानके किया अज्ञान व ज्ञान की भूमिकाओंके घर्णनसे यह ज्ञात होता है कि आत्माका आध्यात्मिक विकास किस क्रमसे होता है और योगके घर्णनसे यह ज्ञात होता है कि मोक्षका साधन क्या है । अर्थात् गुणस्थानमें आध्यात्मिक विकासके क्रमका विचार मुख्य है और योग में मोक्षके साधनका विचार मुख्य है । इस प्रकार दोनोंका मुख्य प्रतिपाद्य तत्र भिन्न भिन्न होनेपर भी एकके विचारमें दूसरेकी छाया अग्रथ्य आ जाती है, क्योंकि कोई भी आत्मा मोक्षके अन्तिम—अन्तर या अव्यवहित—साधनको प्रथम ही प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु विकासके क्रमानुसार उत्तरोत्तर सम्भविता साधनोंको सोपान परम्पराकी तरह प्राप्त करता हुआ अन्तमें चरम साधनको प्राप्त कर लेता है । अतएव योगके—माक्षसाधनविषयक विचार में आध्यात्मिक विकासके क्रमकी छाया आ ही जाती है । इसी तरह आध्यात्मिक विकास किस क्रमसे होता है, इसका विचार करते समय आत्माके शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम परिणाम, जो मोक्षके साधनभूत हैं, उनकी छाया भी आ ही जाती है । इसलिये गुणस्थानके घर्णन प्रसङ्गमें योगका स्वरूप सक्षेपमें दिखा देना अप्रासङ्गिक नहीं है ।

योग किसे कहते हैं ? —आत्माका जो धर्म व्यापार मोक्षका मुख्य हेतु अर्थात् उपादानकारण तथा बिना विलम्बसे फल देने वास्ता हो, उसे योग कहते हैं । ऐसा व्यापार प्रणिधान आदि शुभ

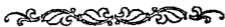
• ' मोक्षेण योजनादेव, योगो ह्यत्र निरुच्यते ।

लक्षण तेन तन्मुख्य, हेतुव्यापारतास्य तु ॥१॥

—योगलक्षण द्वार्थशिका ।



# चौथा कर्मग्रन्थ मूल ।



नमिय जिणं जिअमग्गण, गुणठाणुवओगजोगळेसाभो ।  
पंधप्पयह्मावे, सखिज्जाई किमवि चुच्छ ॥ १ ॥  
इह सुहुमवापरेगि, दिवितिचउअसनिसनिपचिंदी ।  
अपजत्ता पजत्ता, कमेण चउदस जियट्ठाणा ॥ २ ॥  
यापरअसंनिविगले, अपज्जि पढमयिय संनि अपजत्ते ।  
अजपजुअ संनि पज्जे, सब्वगुणा मिच्छ सेसेसु ॥ ३ ॥  
अपजत्तअक्कि कम्मुर, लमीसजोगा अपज्जसंनीसु ।  
ते सविउयमीस एसु, तणुपज्जेसु उरलमझे ॥ ४ ॥  
सव्वे सनि पजत्त, उरलं सुहुमे सभासु तं चउसु ।  
यायरि सविउव्विदुग, पजसनिसु यार उवओगा ॥ ५ ॥  
पजचउरिंदिअसनिसु, दुदंस दु अनाण दससु चक्खुविणा  
सनिअपज्जे मणना, एचक्खुकेवलदुगविट्ठणा ॥ ६ ॥  
सनिदुगे छलेस अप, उजयायरे पढम चउ ति सेसेसु ।  
सत्तट्ठ धन्धुदीरण, सतुदया अट्ठ तेरससु ॥ ७ ॥  
सत्तट्ठेगयधा, सतुदया सत्तअट्ठचत्तारि ।  
सत्तट्ठपचदुग, उदीरण सनिपज्जसे ॥ ८ ॥  
गइइंदिए य काये, जोण वेए कसायनाणेसु ।  
सजमदसणलेसा, मवसम्मे सनिआहारे ॥

भाव या शुभभावपूर्वक की जानेवाली क्रिया \* है। पातञ्जलदर्शनमें वृत्तकी वृत्तियोंके निरोधको योग † कहा है। उसका भी वही मत सब है, अर्थात् ऐसा निरोध मोक्षका मुख्य कारण है, क्योंकि उसके साथ कारण और कार्य रूपसे शुभ भावका अवश्य सम्बन्ध होता है।

योगका आरम्भ कबसे होता है? —आत्मा अनादि कालसे जन्म मृत्यु के प्रवाहमें पड़ा है और उसमें नाना प्रकारके व्यापारोंको करता रहता है। इसलिये यह प्रश्न पैदा होता है कि उसके व्यापार को कबसे योगस्वरूप माना जाय? इसका उत्तर शास्त्रमें ‡ यह दिया गया है कि जब तक आत्मा मिथ्यात्वसे व्याप्त बुद्धिवाला, अत एव दिक्मूढकी तरह उलटी दिशामें गति करनेवाला अर्थात् आत्म—लक्ष्यसे भ्रष्ट हो, तब तक उसका व्यापार प्रणिधान आदि शुभ भाव

\* "प्रणिधान प्रवृत्तिश्च, तथा विघ्नजयस्त्रिधा ।

सिद्धिश्च विनियोगश्च, एते कर्मशुभाशया ॥१०॥"

"एतैराशययोगैस्तु, विना धर्माय न क्रिया ।

प्रत्युत प्रत्यपायाय, लोभक्रोधक्रिया यथा ॥१६॥"

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका ।

† " योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।—पातञ्जलसूत्र, पा० १, सू० २ ।

‡ "मुख्यत्वं चान्तरङ्गत्वात्, ऽत्फलाक्षेपाच्च दर्शितम् ।

चरमे पुद्गलावर्ते, यत एतस्य सभव ॥२॥

न सम्मार्गाभिमुख्य स्या, दावर्तेषु परेषु तु ।

मिथ्यात्वच्छन्नबुद्धीना, दिक्मूढानामिवाङ्गिनाम् ॥३॥"

—योगलक्षणद्वात्रिंशिका ।

सुरनरतिरिनिरयगई, इगवियतियचउपणिदि छफ्राया ।  
 भूजलजलाशानिलवण,-तसा घमणघयणतणुजांगा ॥१०॥  
 वेय नरित्थिनपुसा, कसाय कोहमयमायलोम त्ति ।  
 महसुयवहि मणकेवल,-विहंगमहसुअअनाण सागारा ॥११॥  
 सामाइछेयपरिहा,-रसुहुमअहखायदेसजयअजया ।  
 चक्खुअचक्खुथोही,-केवलदसण अणागारा ॥१२॥  
 किण्हा नीला काऊ, तेऊ पम्हा य सुक्क भवियरा ।  
 वेयगलइगुधम्ममि,-च्छमीससासाण मनियरे ॥१३॥  
 आहारेयर भेया सुरनरयविभगदइसुओहिदुगे ।  
 सुम्मत्तातिगे पम्हा, सुक्कामन्नीसु सन्निदुग ॥ १४ ॥  
 तमसनिअपज्जजुय,-नरे मयायरअपज्ज तेऊए ।  
 धावर इगिदि पढमा, चउ धार असन्निदुदु विगले ॥१५॥  
 दस चरम तसे अजया,-हारगतिरितणुकमायदुअनाणे ।  
 पढमातिलोमाभावियर,-अचक्खुनपुमिच्छि सव्वे रि ॥ १६ ॥  
 पजसती केवलदुग,-सजयमणनाणदेसमणमीत्ते ।  
 पण धरमपज्ज घयणे, तिय छ व पजियर चक्खुमि ॥१७॥  
 धीनरपणिदि चरमा, चउ अणठारे दु सनि छ अपज्जा ।  
 ते सुहुमअपज्ज विणा, सासणि इत्तो गुणे वुच्छ ॥ १८ ॥  
 पण तिरि चउ सुरारए, नरसनिपणिदिमव्वतासि सव्वे ।  
 इगविगलभुदगवणे, दु दु एग, गइतसुअभव्व ॥ १९ ॥  
 वेयनिस्साय नव दस, लोभे चउ अ

रहित होनेके कारण योग नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत जबसे मिथ्यात्वका निमित्त कम होनेके कारण आत्माकी भ्रान्ति मिटने लगती है और उसकी गति सीधी अर्थात् सन्मार्गके अभिमुख हो जाती है, तभी से उसके व्यापारको प्रणिधान आदि शुभ भाव सहित होनेके कारण 'योग' सहा दी जा सकती है। सारांश यह है कि आत्माके अनादि सासारिक कालके दो हिस्से हो जाते हैं। एक चरमपुद्गलपरावर्त और दूसरा अचरम पुद्गलपरावर्त कहा जाता है। चरमपुद्गलपरावर्त अनादि सासारिक कालका आखिरी और बहुत छोटा अंश है। अचरमपुद्गलपरावर्त उसका बहुत बड़ा भाग है, क्योंकि चरमपुद्गलपरावर्तको बाद करके अनादि सासारिक काल, जो अनन्तकालचक्र परिमाण है, वह सब अचरमपुद्गल परावर्त कहलाता है। आत्माका सासारिक काल, जब चरमपुद्गल परावर्त परिमाण घाकी रहता है, तब उसके ऊपरसे मिथ्यात्व मोहका आवरण हटने लगता है। अत एव उसके परिणाम निर्मल होने लगते हैं और क्रिया भी निर्मल भावपूर्वक होती है। ऐसी क्रियासे भाव शुद्धि और भी बढ़ती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर भाव शुद्धि बढ़ते जानेके कारण चरमपुद्गलपरावर्तकालीन धर्म-व्यापार को योग कहा है। अचरमपुद्गल परावर्त कालीन व्यापार न तो शुभ भावपूर्वक होता है और न शुभ भावका कारण ही होता है। इसलिये वह परम्परासे भी मोहके अनुकूल न होनेके सबब से योग नहीं कहा जाता। पातञ्जलदर्शनमें भी अनादि सासारिक कालके निवृत्ताधिकार प्रकृति और अनिवृत्ताधिकार प्रकृति इस

ॐ "चरमावर्तिनो जन्तो, सिद्धेरासन्नता ध्रुवम् ।

भूयासोऽभी व्यतिक्रान्ता, स्तेष्वेको विन्दुरन्वुधौ ॥२८॥"

—मुक्त्यद्वेषप्रधान्यद्वार्त्तशिक्षा ।

मणनाणि सग जयाई, नमइयछेय चउ दुन्नि परिहारे ।  
केवलदुगि दो चरमा, -जयाइ नव मडसुओहिदुगे ॥२१॥  
अइ उवसमि चउ वेयगि, खइए टकार मिच्छतिगि देसे ।  
सुहुमे य सठाण तेर, -स जोग आहार सुक्काए ॥ २२ ॥  
अस्मानिसु पढमदुग, पढमतिलेमासु छ च दुसु सत्त ।  
पढमतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥  
सवेयरमीसअस, -चमोसमणवडविउव्वियाहारा ।  
उरल मीसा कम्मण, इय जोगा कम्ममणहारे ॥२४॥  
नरगइपणिंदितसनणु, -अचक्खुनरनपुकमायसमदुगे ।  
अनिछलेमात्तरग, -भवनइसुओहिदुगे सव्वे ॥२५॥  
तिरिइत्थिअजयसासण, -अनाणउवसमअमव्वमिच्छेसु ।  
तेराहारदुगूणा, ने उरलदुगूण सुरनरण ॥ २६ ॥  
कम्मुरलदुग थावरि, ते सविउव्विदुग पंच इगि पवणे ।  
छ अमानि चरमवइजुय, ते त्रिउवदुगूण चउ विगल ॥२७॥  
कम्मुरलमीसविणु मण, -वइसमइयछेयचक्खुमणनाणे ।  
उरलदुगकम्मपढम, -तिममणवड केवलदुगमि ॥२८॥  
मणवइउरलापरिहा, -रि सुहुमि नव ते उमीसि सविउव्वा  
देसे सविउव्विदुगा, सकम्मुरलमीस अहखाण ॥ २९ ॥  
ति अनाण नाण पण चउ, दसण पार जियणअखणुवओगा ।  
विणुमणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३॥  
तसजोगवेयसुक्का, -हारनरपणिंदिसंनिमबि मव्वे ।  
अयणेरपणलेमा, -कसाइ दम केवलदुगूणा ॥ ३० ॥

प्रकार दो भेद पतलाये हैं, जो शास्त्र के धर्म और अधर्म पुत्रनपरा धर्मके जैन भ्रमानार्थक \* हैं।

योगके भेद और उनका आधार —

जैनशास्त्रमें † (१) अध्यात्म (२) भावना, (३) ध्यान, (४) समता और (५) वृत्तिसंक्षय, ऐसे चार भेद योगके विषय हैं। पातञ्जलदर्शनमें योगके (१) सम्प्रसात और (२) असम्प्रसात, ऐसे दो भेद ‡ हैं। जो मात्स्य साह्यात्—अप्यवहित कारण हा अर्थात् जिसके प्राप्त होनेके बाद तुरन्त ही मात्स्य हो, वही यथायथे यात कहा जा सकता है। एसा योग जैनशास्त्रके सर्वेदानुसार वृत्तिसंक्षय और पातञ्जल दर्शनके संकेतानुसार असम्प्रसात ही है। अब एथ यह प्रश्न होता है कि योगके जो इतने भेद किये जाते हैं, उनका आधार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि अलक्षणा वृत्तिसंक्षय किया असम्प्रसात ही मात्स्य साह्यात् कारण होनेसे वास्तवमें योग है। तथापि यह योग किसी विकासगामी आत्माके पहले ही पहले प्राप्त नहीं होता, किन्तु इसके पहले विकासक्रमके अनुसार ऐसे अनेक आन्तरिक धर्म व्यापार करने पड़ते हैं, जो उत्तरोत्तर विकासको बढ़ानेवाले और अन्तमें उस वास्तविक योग तक पहुँचानेवाले होते हैं। ये सब धर्म—

ॐ "योजनायोग इत्युच्यते, मोक्षण मुनिसत्तमे ।

स निवृत्ताधिकाराया, प्रकृतौ लेशतो ध्रुव ॥१४॥"

—अपुनर्वन्धद्वात्रिशिका ।

† "अध्यात्म भावना ध्यान, समता वृत्तिसंक्षय ।

योग पञ्चाविध प्रोक्तो, योगमार्गविशारदै ॥१॥"

—योगभेदद्वात्रिशिका ।

‡ देखिये, पाद १, सूत्र १७ और १८ ।

चउरिदिअसनिदुअना,-णदसण इगिथितिथावरि अचक्खु  
 तिअनाण दसणदुग,-अनाणतिगअमवि मिच्छदुगे ॥२२॥  
 केयलदुगे नियदुग, नव तिअनाण विणु खइयअहखाये ।  
 दंसणनाणतिग द, सि मीसि अन्नाणमीस त ॥ २३ ॥  
 मणनाणचक्खुवज्जा, अणहारि तिन्नि दसण चउ नाणा।  
 चउनाणसजमोवस,-मवेयगे ओहिदसे य ॥ २४ ॥  
 दो तेर तेर मारस, मणे कमा अट्ट दू चउ चउ वयणे ।  
 चउ दु पण तिसि काये, जियगुणजोगोवओगन्ने ॥ २५ ॥  
 अस्तु लेसास्तु सठाणं, एगिदिअसनिभूदगवणेषु ।  
 पदमा चउरो तिसि उ, नारयविगलग्गिपवणेषु ॥२६॥  
 अहखायसुहुमकेवल,-दुगि सुक्का छावि सेसठाणेषु ।  
 नरनिरयदेवतिरिया, थोवा दु असखणतगुणा ॥२७॥  
 पणचउतिदुएगिंदी, थोवा तिसिअहिया अणतगुणा ।  
 तस थोव असखगगी, भूजलानिल अहिय वण एता ॥२८॥  
 मणवयणकायजोगा, थोवा असखगुण अणतगुणा ।  
 पुरिसा थोवा इत्थी, सखगुणाणतगुण कविा ॥२९॥  
 माणी कोही माई, ओही अहिय मणनाणियो थोवा ।  
 ओहि असखा महसुय, अहियसम असख विन्मगा ॥४०॥  
 केवलियो णतगुणा, महसुयअन्नाणि णतगुण तुल्ला ।  
 सुट्टमा थोवा परिहार सव्व अहखाय सव्वगुणा ॥४१॥  
 वेयसमईय मखा, देस असखगुण णतगुण अजया ।

योगके साक्षात् किंवा परम्परासे हेतु होनेसे योग कहे जाते हैं। साराश यह है कि योगके भेदोंका आधार विकासका क्रम है। यदि विकास क्रमिक न होकर एकही बार पूर्णतया प्राप्त हो जाता तो योगके भेद नहीं किये जाते। इन एव वृत्तिसंक्षय जो मोक्षका साक्षात् कारण है उसको प्रधान योग समझना चाहिये और उसके पहलेके जो अनेक धर्म व्यापार योगकोटिमें गिने जाते हैं, वे प्रधान योगके कारण होनेसे योग कहे जाते हैं। इन सब व्यापारोंकी समष्टिको पातञ्जलदर्शनमें सम्प्रज्ञात कहा है और जैन शास्त्रमें शुद्धिके तरतम भावानुसार उस समष्टिके अध्यात्म आदि चार भेद किये हैं। वृत्तिसंक्षयके प्रति साक्षात् किंवा परम्परासे कारण होनेवाले व्यापारोंको जब योग कहा गया, तब यह प्रश्न पैदा होता है कि वे पूर्वभावी व्यापार कबसे लेने चाहिये। किन्तु इसका उत्तर पहले ही दिया गया है कि चरमपुद्गलपरावर्तकालसे जो व्यापार किये जाते हैं, वे ही योगकोटिमें गिने जाने चाहिये। इसका सबब यह है कि सहकारी निमित्त मिलते ही, वे सब व्यापार मोक्षके अनुकूल अर्थात् धर्म व्यापार हो जाते हैं। इसके विपरीत कितने ही सहकारी कारण क्यों न मिलें पर अचरमपुद्गलपरावर्तकालीन व्यापार मोक्षके अनुकूल नहीं होते।

### योगके उपाय और गुणस्थानोंमें योगावतार :—

पातञ्जलदर्शनमें (१) अभ्यास और (२) वैराग्य, ये दो उपाय योगके बतलाये हुए हैं। उसमें वैराग्य भी पर अपर रूपसे दो प्रकारका कहा गया है \*। योगका कारण होनेसे वैराग्यको योग मानकर जैन शास्त्रमें अपर वैराग्यको अतात्त्विक धर्मसंन्यास और परवैराग्यको ता

\* 'देखिये,' पाद, १, सूत्र १२, १५ और १६।



पञ्चाणुपुब्बि लेसा, थोवा दो सख णत दो अहिया ।  
 अभवियर थोवणता, मासणे योवोवसम सखा ॥४३॥  
 मीसा सखा वेयग, असंखगुण खइयमिच्छ दु अणता ।  
 सनियर थोव णता, णहार थोवेयर असखा ॥४४॥  
 सब्व जियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज सन्निदुगं ।  
 समे सन्नी दुविहो, मेसेसु सनिपज्जत्तो ॥४५॥  
 मिच्छदुगअजइ जोगा, -हारदुगूणा अपुव्वपणगे उ ।  
 मणवइ उरलं सविउ, -व्व मीसि सविउव्वदुग देसे ॥४६॥  
 साहारदुग पमत्ते, ते विउवाहारमीस विणु इयरे ।  
 कम्मुरलदुगंताइम, मणवयण मयोगि न अजोगी ॥४७॥  
 तिअनाणदुदसाइम, दुगे अजइ देसि नाणदसातिग ।  
 ते मीसि मीसा समणा, जयाइ केउलदु अतदुगे ॥४८॥  
 सासणभावे नाण, विउव्वगाहारगे उरलमिस्स ।  
 नेगिदिसु सासाणो, नेहाहिगय सुयमय पि ॥४९॥  
 छसु सव्वा तेउतिग, इगि छसु सुक्का अयोगि अल्लेसा ।  
 पंधस्स मिच्छ अविरइ, -कसायजोगत्ति चउ हेऊ ॥५०॥  
 अभिगाहियमणभिगहिया, -भिनिवसियससइयमणाभोग  
 पण मिच्छ चार अविरइ, मणकरणानियमु छजियवहो ॥५१॥  
 नव सोलकसाया पन, -र जोग इय उत्तरा उ सगवघ्ना ।  
 इगचउपणतिगुणेषु, -चउतिदुइगपचओ वधो ॥५२॥  
 चउमिच्छमिच्छअविरइ, -पघइया सायमो  
 जोग विणु तिपच्चइया, -हार सेसाओ ॥

त्त्विक धर्मसंन्यासयोग कहा\* है। जैन शास्त्रमें योगका आरम्भ पूर्व सेवासे माना गया † है। पूर्वसेवासे अध्यात्म अध्यात्मसे भावना भावनासे ध्यान तथा समता, ध्यान तथा समतासे वृत्तिसङ्घय और वृत्तिसङ्घयसे मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिये वृत्तिसङ्घय ही मुख्य याग है और पूर्व सेवासे लेकर समता पर्यन्त सभी धर्म-व्यापार साक्षात् क्रिया परम्परासे योगके उपायमात्र ‡ हैं। अपुनर्बन्धक, जो मिथ्यात्वकी त्यागनेकेलिये तत्पर और सम्यक्त्व प्राप्तिके अभिमुख होता है, उसको पूजसेवा तात्त्विकरूपसे होती है और लहृद्रन्धक, द्विर्बन्धक आदिको पूर्वसेवा अतात्त्विक होती है। अध्यात्म और भावना अपुनर्बन्धक तथा सम्यग्दृष्टिको व्यवहार नयसे तात्त्विक और देश विरति तथा सर्व विरतिको निश्चयनयसे तात्त्विक होते हैं। अममत्त सर्वविरति आदि गुणस्यात्मोर्ध्वान तथा समता बक्षरोत्तर तात्त्विकरूपसे होते हैं। वृत्तिसङ्घय तेर-

ॐ “विषयदोषदर्शनजनितमायात् धर्मसंन्यासलक्षण प्रथमम्, स तन्वाचिन्तया विषयौदासान्यन जनित द्वितीयापूर्वकरणभावि तात्त्विकधर्मसंन्यासलक्षण द्वितीय वैराग्य, यत्र क्षायोपशमिका धर्मा अपि क्षीयन्त क्षायिकाश्चोत्पद्यन्त इत्यस्माक सिद्धान्तः ॥”

—श्रीयशोविजयजी कृत पातञ्जल दर्शनवृत्ति, पाद १०, सूत्र १६।

† “पूजसेवा तु यागस्य, गुरुदेवादिपूजनम्।

सदाधारस्तपो मुक्त्य, द्वेषश्चेति प्रकीर्तिता ॥१॥”

—पूर्वसेवाद्वात्रिंशिका।

‡ “उपायत्वेऽत्र पूर्वेषा, मन्त्य एवावशिष्यते।

तत्पञ्चमगुणस्थाना, दुपायोऽर्वागिति स्थिति ॥३१॥”

—योगभेदद्वात्रिंशिका।

इस ग्रन्थके तीन विभाग हैं — (१) जीघस्थान, (२) मार्गणास्थान, और (३) गुणस्थान। पहले विभागमें जीघस्थानको लेकर आठ विषयका विचार किया गया है, यथा — (१) गुणस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्ध, (६) उदय, (७) उदीरणा और (८) सत्ता। दूसरे विभागमें मार्गणास्थानपर छह विषयोंकी विवेचना की गई है — (१) जीघस्थान, (२) गुणस्थान, (३) योग, (४) उपयोग, (५) लेश्या और (६) अल्पबहुत्व। तीसरे विभागमें गुणस्थानको लेकर बारह विषयोंका बखान किया गया है — (१) जीघस्थान, (२) योग, (३) उपयोग, (४) लेश्या, (५) बन्धहेतु, (६) बन्ध, (७) उदय, (८) उदीरणा, (९) सत्ता, (१०) अल्पबहुत्व, (११) भाव और (१२) सख्यात आदि सत्या।

१—इन विषयोंकी समग्र गाथायें ये हैं —

“नमिय जिण वत्तव्या, चउदसजिअठाणएसु गुणठाणा ।  
जोगुवओगो लेसा, वधुदओदीरणा सत्ता ॥ १ ॥  
तइ मूलचउदमग्गण, ठाणेसु वासट्ठि उत्तरेसु च ।  
जिअगुणजोगुवओगा, लेसप्पवहु च छट्ठाणा ॥ २ ॥  
चउदसगुणेसु जिअजो, गुवओगलेसा च बघहेऊ य ।  
वधाइचउअप्पा, वहु च तो भावसखाई ॥ ३ ॥”

ये गाथायें भोजीवर्द्धनवन्धी कृत और भाज्यसोमसूरि-कृत दवेमें हैं। इनके स्थानमें पाठान्तरवाला निम्नलिखित तीन गाथायें प्राचीन चतुर्थ कम ग्रन्थ हारिमद्री टीका श्रीवेदसूरि कृत स्वापण टीका और श्रीचनोमसूरि कृत दवेमें भी हैं —

“चउदसजियठाणेसु, चउदसगुणठाणाणि जोगा य ।

उ -ओदीरणसत्त अट्ठपए ॥ १ ॥

द्वयं और चौदहवें गुणस्थानमें होना\* है। सम्प्रज्ञातयोग अर्थात् से लेकर ध्यान पर्यन्तके चारों भेदस्वरूप है और असम्प्रज्ञातयोग वृत्तिसंशयरूप है। इसलिये चौथेसे षाण्दहवें गुणस्थानतकमें सम्प्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौदहवें गुणस्थानमें असम्प्रज्ञातयोग समझना चाहिये † ।

ॐ "शुक्लपक्षेन्दुदत्तप्रायो वर्धमानगुण स्मृत ।  
भवाभिनन्ददोषाणा, -मपुनर्वन्धका व्यये ॥ १ ॥  
अस्यैव पूर्वसेवाक्ता, मुरयाऽन्यस्योपचारत ।  
अस्यावस्थान्तर मार्ग, -पातितामिमुखौ पुन ॥ २ ॥"

—अपुनर्वन्धकद्वात्रिंशिका ।

"अपुनर्वन्धकस्याय, व्यवहारेण तार्त्त्रिक  
अध्यात्मभावनारूपो, निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥१४॥  
सकृदावर्तनादीना, -मतार्त्त्रिक प्रदाहृत ।  
प्रत्यपायफलप्राय, -स्तथा वेपादिमात्रत ॥१५॥  
शुद्धपेक्षा यथायोग, चाग्निश्रवत एव च ।  
हन्त ध्यानादिको योग, स्तार्त्त्रिक प्रविजृम्भते ॥१६॥"

—योगविवेकद्वात्रिंशिका ।

† "सम्प्रज्ञातोऽद्यतरति, ध्यानभेदेऽत्र तत्त्वत ।  
तार्त्त्रिकी च समापत्ति, -र्नात्मना भाव्यता विना ॥१५॥  
"असम्प्रज्ञातनामा तु, समतो वृत्तिसंशय ॥  
सर्वतोऽऽमादकरण, नियम पापगौघर ॥२१॥"

—योगावतारद्वात्रिंशिका ।

## जीवस्थान आदि विषयोंकी व्याख्या ।

(१) जीवोंके सूक्ष्म, वादर आदि प्रकारों (भेदों) को 'जीवस्थान' कहते हैं । द्रव्य और भाव प्राणोंको जो धारण करता है, वह 'जीव' है। पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोल्लास और आयु ये दस द्रव्यप्राण हैं, क्योंकि वे जड और कर्म जन्य हैं । ज्ञान, दर्शन आदि पर्याय, जो जीवके गुणोंके ही कार्य हैं, वे भावप्राण हैं । जीवको यह व्याख्या ससारी अत्रस्थको लेकर की गई है, क्योंकि जीवस्थानोंमें ससारी जीवोंका ही समावेश है, अत एव वह मुक्त जीवोंमें लागू नहीं पड

चउदसमगणठाणे -सुमूलपएसु विसट्टि इयरेसु ।

जियगुणजोगुवओगा, लेसप्पबहु च छट्ठाणा ॥ २ ॥

चउदसगुणठाणेसु, जियजोगुवओगलेसवधा य ।

बधुदयुदीरणाओ, सतप्पबहु च दस ठाणा ॥ ३ ॥”

१—जीवस्थानके अर्थमें जीवममास शब्दका प्रयोग भी शिम्बरीय साहित्यमें मिलता है । इसकी व्याख्या उसमें इस प्रकार है —

‘जेहि अणेया जीवा, णज्जते बहुविहा वि तज्जादी ।

ते पुण सगहिदत्था, जीवसमासा त्ति विण्णेया ॥७०॥

तसचदुजुगाणमज्जे, अविरुद्धेहि जुदजादिकम्मदये ।

जीवसमासा हाँति हु, तच्चभवसारिच्छसामण्णा ॥७१॥”

—जीवकाण्ड ।

जिन धर्मोद्देशारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक जातियोंका बोध होता है वे 'जीवसमासा' कहलाते हैं ॥७०॥ तथा त्रम, वादर, पर्याय और प्रत्येक गुणमेंसे अविरुद्ध नामकर्म(जैसे सूक्ष्मसे अविरुद्ध स्थावर)के उदयसे शुच जाति नामकर्मका उदय होनेपर जो ऊच्यतासामान्य जीवोंमें होती है वह जीवसमासा कहलाता है ॥ ७१ ॥

कालक्रमसे अनेक अवस्थाओंके होनेपर भी एक ही वस्तुका जो पूर्वापर सादृश्य देखा जाता है, वह 'ऊच्यतासामान्य' है । इससे उलटा एक समयमें ही अनेक वस्तुओंकी जो परस्पर समानता देवी जाती है, वह 'तियक्त्सामान्य' है ।

पाँच विभागोंमें विभाजित है। इनके नाम इस प्रकार हैं — [ १ ] धर्मानुसारी, [ २ ] सोतापन्न [ ३ ] सकदागामी, [ ४ ] अनागामी और [ ५ ] अरहा। [१] इनमेंसे 'धर्मानुसारी' या 'भद्रानुसारी' वह कहलाता है, जो निचाणमागके अर्थात् मोक्षमागके अभिमुख हो, पर उसे प्राप्त न हुआ हो। इसीका जैनशास्त्रमें 'मार्गानुसारी' कहा है और उसके पैंतास गुण यतलाये हैं\*। [२] मोक्षमागको प्राप्त किये हुए आत्माओंके विकासकी न्यूनाधिकताके कारण सोतापन्न आदि चार विभाग हैं। जो आत्मा अविनिपात, धर्मानियत और सम्बोधिपरायण हो, उसको 'सोतापन्न' कहते हैं। सोतापन्न आत्मा सातवें जन्ममें अग्रण्य निर्गण पाता है। [३] 'सकदागामी' उसे कहते हैं, जो एक ही बार इस लोकमें जन्म ग्रहण करके मोक्ष जानेवाला हो। [४] जो इस लोकमें जन्म ग्रहण न करके ग्रहलोकसे सीधे ही मोक्ष जानेवाला हो, वह 'अनागामी' कहलाता है। [५] जो सम्पूर्ण आस्रवोंका क्षय करके वृत्तकाय हो जाता है, उसे 'अरहा' † कहते हैं।

धर्मानुसारी आदि वक्त पाँच अवस्थाओंका ध्यान मज्झिम निकायमें बहुत स्पष्ट किया हुआ है। उसमें ध्यान ‡ किया है कि तत्कालजात घत्स, कुछ बड़ा किन्तु दुर्बल घत्स, प्रौढ़ घत्स, हलमें जोतने खापक बलयान् यैल और पूर्ण वृषम जिस प्रकार उत्तरोत्तर अटप अटप धमसे गङ्गा नदीके तिरछे प्रवाहको पार कर लेते हैं,

\* देखिये, अहिमचन्द्राचार्य-कृत योगशास्त्र, प्रकाश ? ।

† देखिये, प्रो० राजवाड़ संपादित मराठीभाषान्तरित दीघ निकाय, पृ० १७६ टिप्पणी ।

‡ देखिये, पृ० १५६ ।



जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान, ये सद्य जीवकी भव स्यायें हैं, तो भी इनमें अन्तर यह है कि जीवस्थान, जाति-नामकर्म, पर्याप्त-नामकर्म और अपर्याप्त-नामकर्मके औदयिक भाव हैं; मार्गणास्थान, नाम, मोहनीय, शानायरणीय, दर्शनावरणीय और वेदनीयकर्मके औदयिक आदि भावरूप तथा पारिणामिक भावरूप हैं और गुणस्थान, सिफं मोहनीयकर्मके औदयिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक भावरूप तथा योगके भावामाधरूप हैं ।

(५) चेतना शक्तिका धोधरूप व्यापार, जो जीवका असाधारण स्वरूप है और जिसकेद्वारा वस्तुका सामान्य तथा विशेष स्वरूप जाना जाता है, उसे 'उपयोग' कहते हैं ।

(५) मन, वचन या कायकेद्वारा होनेवाला वीर्य शक्तिका परिस्पन्द—आत्माके प्रदेशोंमें हलचल (कम्पन)—'धोग' है ।

(६) आत्माका सहजरूप स्फटिकके समान निर्मल है । उसके भिन्न भिन्न परिणाम जो कृष्ण, नील आदि अनेक रँगवाले पुद्गल-विशेषके असरसे होते हैं, उन्हें 'लेश्या' कहते हैं ।

(७) आत्माके प्रदेशोंके साथ कर्म-पुद्गलोंका जो दूध पानीके समान सम्बन्ध होता है, वही 'बन्ध' कहलाता है । बन्ध, मिथ्यात्व आदि हेतुओंसे होता है ।

१—गोम्प्यार जीववाण्डमें यही शक्या है ।

“वत्युनिमित्त भागो, जादो जीवस्स जो दु चवजोगो ।

सो दुविहो जायठवो, सायारो चव णायारो ॥६७१॥”

२—देसिये परिशिट क ।

३—“कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यात्परिणामोऽयमात्मन ।

स्फटिकस्येव तत्राऽय, लेश्याशब्द प्रवर्तते ॥”

यह एक प्राचीन श्लोक है । जिने श्रीहरिभद्रवृत्तिने भावरूपक-रीका १४ १-५ पर प्रमा-  
शरूपने लिया है ।



## (२)—जीवस्थानोंमें योग ।

[ दो गाथाओंसे । ]

अपर्याप्तदृष्टि कम्बुर, लमीसजोगा अपज्जसनीसु ।  
ते सविडव्वमीस एसु तणु पज्जेसु उरलमन्ने ॥४॥

अपर्याप्तपट्टके कार्मणोदारिकमिश्रयोगावपर्याप्तसंज्ञेषु ।

वा सर्वाक्रियामिभावेषु तनुपयासोपौदारिकमये ॥ ४ ॥

अर्थ—अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त विकलत्रिक और अपर्याप्त असक्षि पञ्चेन्द्रिय, इन छह प्रकारके जीवोंमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो ही योग होते हैं। अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियमें कार्मण, औदारिकमिश्र और वेक्रियमिश्र, ये तीन योग पाये जाते हैं। अन्य आचार्य ऐसा मानते हैं कि "उक्त सातों प्रकारके अपर्याप्त जीव जब शरीरपर्याप्ति पूरी कर लेते हैं, तब उन्हें औदारिक काययोग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं" ॥४॥

भावार्थ—सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त छह अपर्याप्त जीव-स्थानोंमें कार्मण और औदारिकमिश्र दो ही योग माने गये हैं इसका कारण यह है कि सब प्रकारके जीवोंको अन्तराल गतिमें तथा जन्म ग्रहण करनेके प्रथम समयमें कामणयोग ही होता है; क्योंकि उस समय औदारिक आदि स्थूल शरीरका अभाव होनेके कारण भोगप्रवृत्ति केवल कार्मणशरीरसे होती है। परन्तु उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर स्वयोग्य पर्याप्तियोंके पूर्ण बन जाने तक मिश्रयोग होता है, क्योंकि उस अवस्थामें कार्मण और औदारिक आदि

(८) घँघे हुए कर्म-दलिकोंका विपाकानुभव (फलोदय) "उदय" कहलाता है। कमीतो विपाकानुभव, अथाधाकाल पूर्ण होनेपर होता है और कमी नियत अथाधाकाल पूर्ण होनेके पहले ही अपरतर्ता आदि कारणसे होता है।

(९) जिन कर्म-दलिकोंका उदयकाल न आया हो, उन्हें प्रयत्न विशेषसे खींचकर-बन्धकालीन स्थितिसे हटाकर-उदयावलिकामें बाधिल करना 'उद्दीरणा' कहलाती है।

(१०) बन्धने या सन्मर्षण कारणसे जा कर्म-पुद्गल, जिस कर्मरूप में परिपत हुये हों, उनका, निर्जरा या सन्मर्षणसे रूपान्तर न होकर उस स्वरूपमें घना रहना 'सत्ता' है।

- १—बँधा हुआ कम वितन काल तक उदयमें नहीं आता—<sup>उदय</sup>। । कल्प है।  
 २—कम क पूर-बद्ध स्थिति और कम जिस वीर्य-शक्तिसे <sup>उदय</sup>। । अत्र उदय  
 कहाँ कहते हैं।  
 ३—जिन वीर्य विराधने कर्मका बन्ध होता है व कहना है  
 ४—जिन वीर्य विराधने एक कर्म का अन्य मनासीय होता ३  
 सन्मर्षणकरा है।  
 ५—कर्म पुद्गलको आत्म प्रवेशमें घना होना ।  
 ६—एक कर्म रूपमें स्थित प्रकृति स्थिति  
 कर्मरूपमें बन्ध जाना संक्रम है।  
 ७—एक उदय उद्दीरणा और सत्ताक वे ।  
 कर्म ग्रन्थमें इस प्रकार है —

"जीवस्त पुग्गलाण य, ७  
 मिच्छाद्देवविहिया, जा  
 करयेण सहावेण य, ११  
 ज वेयण विदारो,—अ सो ह

स्थूल शरीरकी मददसे योगप्रवृत्ति होती है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छहों जीवस्थान औदारिकशरीरवाले ही हैं, इसलिये उनको अपर्याप्त अवस्थामें कामणकाययोगके बाद औदारिकमिथकाययोग ही होता है। उक्त छह जीवस्थान अपर्याप्त कहे गये हैं। सो लब्धि तथा करण, दोनों प्रकारसे अपर्याप्त समझने चाहिये।

अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियमें मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक-सभी सम्मिलित हैं, इसलिये उसमें कामणकाययोग और कामणकाययोगके बाद मनुष्य और तिर्यञ्चकी अपेक्षासे औदारिकमिथकाययोग तथा देव और नारककी अपेक्षामें वैदिकमिथकाययोग, कुल तीन योग माने गये हैं।

गाथामें जिस मतान्तरका उल्लेख है, वह शोलाह्वा आदि आचार्योंका है। उनका अभिप्राय यह है कि "शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जानेसे शरीर पूर्ण बन जाता है। इसलिये श्राव्य पर्याप्तियोंकी पूर्णता न होनेपर भी जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण बन जाता है तभीसे मिथयोग नहीं रहता किन्तु औदारिक शरीरवालोंको औदारिककाययोग और वैक्रियशरीरवालोंको वैक्रियकाययोग ही होता है।" इस मतान्तरके अनुसार सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि छह अपर्याप्त जीवस्थानोंमें कामण, औदारिकमिथ और औदारिक, ये तीन योग और

१-ब्रह्मे - "औदारिकयोगस्तिर्यग्मनुजयो शरीरपर्याप्तेरूर्ध्व, तदा अस्तु मिथ ।" - आचारारण्य-ग्रन्थ २, उद० १ की टीका पृ० १४ ।

क्यापि मतान्तरके उल्लेखमें गाथामें उक्त एका ही है तथापि वह वैक्रियकाययोग उपलक्षक (सूचक) है। इसलिये वैक्रियशरीरवाले देव नारकोंकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण बन जानेके बाद अपर्याप्त-दरामें वैक्रियकाययोग समझना चाहिये।

इस मतान्तरको एक प्राचीन गाथाके आधारपर भीमलक्ष्मिगिरिजीने पञ्चसंग्रह भा० १ भा० ६७ की शृंखलमें विस्तारपूर्वक दिसाया है।

(११) मिथ्यात्व आदि जिन वैभाविक परिणामोंसे बुद्गल, कर्म रूपमें परिणत हो जाते हैं, उन परिणामोंको कहते हैं ।

(१२) पदार्थोंके

(१३) जीव और अजीवकी स्वाभाविक को 'भाव' कहते हैं ।

(१४) सख्यात, असख्यात और सहाय्य हैं ।

### विषयोंके क्रमका

सबसे पहले जीवस्थानका निर्देश सबसे मुख्य है, क्योंकि मार्गणास्थान आदि विचार जीवको लेकर ही किया जाता है । निर्देश करनेका मतलब यह है कि जीवके धिक् स्वरूपका बोध किसी न किसी गति आदि स्थानक ) द्वारा ही किया जा सकता है । शुणस्थानके निर्देश करनेका मतलब यह है कि स्थानवर्ती हैं, वे किसी न किसी गुणस्थानमें

कम्पाणूण जाण, करणविसेसेण

ज उदयावलियाए, पवेसणमुदीरणा सेह ॥ !

वधणसकमलद्ध, -त्तलाहकम्मस्सरुवअविणासो ।

निब्जरणसकमेहिं, सब्भावो जो य सा सत्ता ॥

१—आत्माके कर्मा य अन्य परिणाम 'वैभाविक परिणाम' है । जैसे

२—देखिये भागे गाथा ५१-५२ ।

३—देखिये भागे गा० ७३ से भागे ।

अपर्याप्त सन्नि पञ्चेन्द्रियमें उक्त तीन तथा वैक्रियमिध और वैक्रिय, कुल पाँच योग समझने चाहिये ।

उक्त मतान्तरके सम्यन्धमें टीकामें लिखा है कि यह मत युक्ति हीन है; क्योंकि केवल शरीरपर्याप्ति घन जानेसे शरीर पूरा नहीं बनता, किन्तु उसकी पूर्णताकेलिये स्वयोग्य सभी पर्याप्तियोंका पूर्ण घन जाना आवश्यक है । इसलिये शरीरपर्याप्तिके बाद भी अपर्याप्त अवस्था पर्यन्त मिश्रयोग मानना युक्त है ॥३॥

सर्वे सानिपजत्ते, उरल सुह्रुमे सभासु तं च उसु ।

वायरि सविउव्विदुग, पजसनि सुधार उवओगा ॥५॥

सर्वे सन्नि पर्याप्त औदारिक सूक्ष्मे समाप तच्चतुपु ।

बादरे सर्वैक्रियद्विक, पर्याप्तषशिपु द्वादशापयोगा ॥५॥

अर्थ—पर्याप्त सन्निमें सब योग पाये जाते हैं । पर्याप्त सूक्ष्म-एकेन्द्रियमें औदारिककाययोग ही होता है । पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रिक और पर्याप्त असन्नि पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानोंमें औदारिक और असत्यासृपावचन, ये दो योग होते हैं । पर्याप्त वादर एकेन्द्रियमें औदारिक, वैक्रिय, तथा वैक्रियमिध, ये तीन काययोग होते हैं । ( जीवस्थानोंमें उपयोग — ) पर्याप्त सन्नि पञ्चेन्द्रियमें सब उपयोग होते हैं ॥५॥

भावार्थ—पर्याप्त सन्नि-पञ्चेन्द्रियमें एहों पर्याप्तियाँ होती हैं, इसलिये उसकी योग्यता विशिष्ट प्रकारकी है । अतएव उसमें चारों वचायोग, चारों मनोयोग और सातों काययोग होते हैं ।

यद्यपि कामेण, औदारिकमिध और वैक्रियमिध, ये तीन योग अपर्याप्त-अवस्था भावी हैं, तथापि वे सन्नि पञ्चेन्द्रियोंमें पर्याप्त अवस्थामें भी पाये जाते हैं । कामेण तथा औदारिकमिधकाययोग पर्याप्त-अवस्थामें तब होते हैं, जब कि केवली भगवान् केवलि-समुद्रात रचते

गुणस्थानके बाद उपयोगके निर्देशका तात्पर्य यह है कि जो उपयो गवान हैं, उन्हींमें गुणस्थानोंका सम्भव है, उपयोग शून्य आकाश आदिमें नहीं। उपयोगके अनन्तर योगके फयनका आशय यह है कि उपयोगवाले बिना योगके फम ग्रहण नहीं कर सकते। जैसे - सिद्ध। योगके पीछे लेश्याका फयन इस अभिप्रायसे किया है कि योगद्वारा ग्रहण किये गये कर्म पुद्गलोंमें भी स्थितिवन्ध व अतृभागवन्धका निर्माण लेश्याद्वारा होता है। लेश्याके पश्चात् बन्धके निर्देशका मतलब यह है कि जो जीव लेश्या सहित हैं, वे ही कर्म बाँध सकते हैं। उसके बाद अल्पबहुत्वका फयन करनेसे ग्रन्थकारका तात्पर्य यह है कि प्रकृत करनेवाले जीव, मार्गणास्थान आदिमें वर्तमान होते हुए आपसमें अवश्यन्यूनधिक हुआ करते हैं। अल्पबहुत्वके अनन्तर भावके कहनेका मतलब यह है कि जो जीव अल्पबहुत्ववाले हैं, उनमें औपशमिक आदि किसी न किसी भावका होना पाया ही जाता है। भावके बाद सख्यात आदिके कहनेका तात्पर्य यह है कि भाववाले जीवोंका एक दूसरेसे जो अल्पबहुत्व है, उसका वर्णन सख्यात, असख्यात आदि सख्याकेद्वारा ही किया जा सकता है।

हैं। वैश्वानर-समुदायकी स्थिति आठ समय प्रमाण मानी हुई है; इसके तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें कार्मणकाययोग और दूसरे, छठे तथा सातवें समयमें औदारिकमिथ्रकाययोग होता है। वैक्रियमिथ्रकाययोग, पर्याप्त अवस्थामें तब होता है, जब कोई वैक्रिय लब्धिधारी मुनि आदि वैक्रियशरीरको बनाते हैं।

आहारककाययोग तथा आहारकमिथ्रकाययोगके अधिकारी, चतुदशपूर्वपर मुनि हैं। उन्हें आहारकशरीर बनाने व त्यागनेके समय आहारकमिथ्रकाययोग और उस शरीरको धारण करनेके समय आहारककाययोग होता है। औदारिककाययोगके अधिकारी, सभी पर्याप्त मनुष्य तिस्रञ्च और वैक्रियकाययोगके अधिकारी, सभी पर्याप्त देव नारक हैं।

सूक्ष्म-एकद्रियको पर्याप्त अवस्थामें औदारिककाययोग ही माना गया है। इसका कारण यह है कि उसमें जैसे मन तथा वचनकी लब्धि नहीं है, वैसे ही वैक्रिय आदि लब्धि भी नहीं है। इसलिये वैक्रियकाययोग आदि उसमें सम्भव नहीं है।

द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और अक्षि पञ्चेन्द्रिय, इन चार जीवस्थानोंमें पर्याप्त अवस्थामें व्यवहारभाषा—असत्यामृषाभाषा होती है क्योंकि उन्हें मुख होता है। काययोग, उनमें औदारिक ही होता है। इसीसे उनमें सा ही योग कहे गये हैं।

१—यथा काल मगसान् उमज्जानिने करी हे —

“औदारिकप्रयोक्ता, प्रथमाष्टमसमययोरसारिष्ट ।

मिभ्रौदारिकयोक्ता सप्तमपष्ठद्वितीयेषु ॥

कार्मणशरीरयोगी, चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च ।

समयज्येऽपि तस्मिन्, भवत्यनाहारको नियमात् ॥२७६॥”

## (१) -- जीवस्थान-अधिकार ।



### जीवस्थान ।

इह सुदुमवायरेगिं, दिपितिचउअसंसिसानिपंचिदी ।

अपजत्ता पज्जता, कमेण चउदस जियट्ठाणा' ॥ २ ॥

इह सुदुमवायरेकेन्द्रियदिप्रचतुरस्रसिषारूपद्वेन्द्रिया ।

अपयांता पर्यांता, नभेण चतुर्दश जीवस्थानानि ॥ २ ॥

अर्थ—इस लोफमें सूक्ष्म एकेन्द्रिय वादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, अक्षिपञ्चेन्द्रिय और सक्षिपञ्चेन्द्रिय ये सातों भेद अपर्याप्तरूपरु दो दो प्रकारके हैं, इसलिये जीवक कुल स्थान ( भेद ) चौदह होते हैं ॥ २ ॥

मायाय—यहाँपर जीवके चौदह भेद दिखाये हैं, सो ससारी अथम्माको लेकर । जीवत्वरूप सामान्य धर्मकी अपेक्षासे समानता होनेपर भी व्यक्तिकी अपेक्षासे जीव अनन्त हैं, इनकी कर्म-जन्य अथस्वार्थ भी अनन्त हैं इससे व्यक्तिशः ज्ञान सम्पादन करना दुष्करके लिये सहज नहीं । इसलिये विशेषदर्शी शास्त्रकारोंने सूक्ष्म एकेन्द्रियिष्य आक्षि जातिकी अपेक्षासे इनके चौदह वर्ग किये हैं, जिनमें सभी ससारी नीपोंका समावेश हो जाता है ।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिन्हें सूक्ष्म नामधर्मका उदय हो । ऐसे जोर सम्पूर्ण लोकमें व्याप्त हैं । इनका शरीर इतना सूक्ष्म होता

१—वही पाठा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थमें न्योकी ल्यो है ।

२—ये भेद एष्वतप्रस्य द्वार २ ग० ८२ में हैं ।



वाद्दर एकेन्द्रियको—पाँच स्थावरको, पर्याप्त अवस्थामें औदारिक, वैत्रिय और वैक्रियमिथ, ये तीन योग माने हुये हैं । इनमेंसे औदारिक-ककाययोग तो सब तरहके एकेन्द्रियोंको पर्याप्त अवस्थामें होता है, पर वैक्रिय तथा वैक्रियमिथकाययोगके विषयमें यह बात नहीं है । ये दो योग, केवल वाद्दरवायुकायमें होते हैं, क्योंकि वाद्दरवायुकायिक जीवोंको वैक्रियलब्धि होती है । इससे वे जत्र वैक्रियशरीर बनाते हैं, तब उन्हें वैक्रियमिथकाययोग और वैक्रियशरीर पूर्ण बन जानेके वाद्द वैक्रियकाययोग समझना चाहिये । उनका वैक्रियशरीर ध्वजाकार माना गया है ।

१—“आद्य तिर्यग्मनुष्याणा, देवनारकयो परम् ।

केपाचिहृद्विधमद्वायु, -सद्वितिर्यग्नृणामपि ॥ १४४ ॥”

—लोकप्रकारा सग ३ ।

‘पइला ( औदारिक ) शरीर तिनकों और मनुष्योंको होता है, दूसरा ( वैत्रिय ) शरीर देवों नारकों, लम्बिवाले वायुकायिकों और लम्बिवाले सभी तिर्यग्-मनुष्योंको होता है । वायुकायिकको लम्बि जन्य वैक्रियशरीर होता है यह बात तत्त्वाथ मूल तथा उसके भाष्यमें स्पष्ट नहीं है किन्तु हमका उल्लेख भाष्यकी टीकामें है —

“वायोश्च वैक्रिय लब्धिप्रत्ययमेव” इत्यादि ।

—तत्त्वाथ भ० २, सू० ४८ वी भाष्य-वृत्ति ।

दिग्म्बरीय साहित्यमें कुछ विरोधता है । उसमें वायुकायिकके समान तेज कायिकको भी वैक्रियशरीरका स्वामी कहा है । यद्यपि सर्वाधमिद्धिमें तेज कायिक तथा वायुकायिकके वैत्रिय शरीरके सम्बन्धमें कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आया पर राजवार्तिकमें है —

“वैक्रियिक देवनारकाणा, तेजोवायुकायिकपञ्चेन्द्रियतियग्मनु-  
ष्याणा च केपाचित् ।”

—तत्त्वाथ भ० २, सू० ४६ राजवार्तिक ८ ।

यही बात योग्यसार-जीवकाण्डमें भी है —

“वाद्दरतेऊवाऊ, पचिदियपुण्णगा विगुह्वति ।

ओरालिय सरीर, त्रिगुह्वणप्प हवे जेसिं ॥२३२॥”

॥ २—यह मन्तव्य श्रेताम्बर-दिग्म्बर दोनों सम्प्रदायों में समान है—

हे कि यदि ये सख्यातीत इकट्ठे हों तब भी इन्हें आँखें देख नहीं सकता अतएव इनको व्यवहारके अयोग्य कहा है ।

यादर एकेन्द्रिय जीव वे हैं, जिनको यादर नामकर्मका उदय हो ।  
 जीव, लोकक किसी किसी भागमें नहीं भी होते, जैसे, अचित्त—  
 सोने, चाँदी आदि घस्तुओंमें। यद्यपि पृथिवी कायिक आदि यादर  
 एकेन्द्रिय जीव ऐसे हैं, जिनके अलग अलग शरीर, आर्षोंसे नहीं  
 दीयते; तथापि इनका शारीरिक परिणमन ऐसा यादर होता है कि  
 जिससे वे समुदायरूपमें दिग्वाद वेते हैं । इसीसे इन्हें व्यवहार-योग्य  
 कहा है। सूक्ष्म या यादर सभी एकेन्द्रियोंके इन्द्रिय, फेरता त्वचा होती  
 है । ऐसे जीव, पृथिवीकायिक आदि पाँच प्रकारके म्यावर ही हैं ।

द्वीन्द्रिय वे हैं, जिनके त्वचा जीम, ये दो इन्द्रियाँ हों; ऐसे जीव  
 शत सौंप, वृमि आदि हैं ।

त्र्येन्द्रियोंके त्वचा, जीम, नासिका, ये तीन इन्द्रियाँ हैं, ऐसे जीव  
 जूँ, सडमस आदि हैं ।

चतुरिन्द्रियोंके उक्त तीन और श्राँख, ये चार इन्द्रियाँ हैं । भौरे,  
 विट्ठू आदिकी गिनती चतुरिन्द्रियोंमें है ।

पञ्चेन्द्रियोंका उक्त चार इन्द्रियोंके अतिरिक्त कान भी होता है ।  
 मनुष्य, पशु, पक्षी आदि पञ्चेन्द्रिय हैं। पञ्चेन्द्रिय दो प्रकारके हैं—(१)  
 असशरी और (२) सशरी । असशरी वे हैं जिन्हें सहा न हो । सशरी वे हैं,  
 जिन्हें सहा हो । इस जगह सहाका मतलब उस मानस शक्तिस है,  
 जिससे किसी पदार्थके स्वभावका पृष्ठापर विचार व अनुसंधान  
 किया जा सके । •

द्वीन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त सब तरहके जीव यादर तथा  
 अस ( चलने फिरने-वाले ) ही होते हैं ।

१—देखिये परिशिष्ट स ।

२—देखिये परिशिष्ट ग ।

## (३)-जीवस्थानोंमें उपयोग ।

पचास सत्रिंशद्विंशत्ये समी उपयोग पाये जाते हैं, क्योंकि गर्भज मनुष्य, जिनमें सब प्रकारके उपयोगोंका सम्मय है, ये सत्रिंशद्विंशत् हैं । उपयोग बारह हैं, जिनमें पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान, ये आठ साकार (विशेषरूप) हैं और चार इशान, ये तिराकार (सामान्यरूप) हैं । इनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शनकी स्थिति समयमात्रकी और शेष धार्मिक द्वाय उपयोगोंकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी मानी हुई है ।

“मरुता तदुध्वजाकार, द्वैधानामपि भूरुहाम् ।

स्यु शरीराप्यनियत, -सरधानानीति तद्विद् ॥२५४॥”

—श्री २०, सू १ ।

“मसुरखुर्निदसूद, -कलावधयसण्णिहो हवे देहो ।

पुदयो आदि चउण्द, तरुतसकाया अणयविहा ॥२००॥”

—जीवकारः ।

१—यह विचार पृथक् १ गा २ में है ।

२—साधारणिक उपयोगोंकी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण स्थिति में सम्बन्धित तत्कार्य-टीका में भी वे लिखे उल्लेख मिलते हैं —

“उपयोगस्थितिफालोऽन्तर्मुहूर्त्तपरिमाण प्रकर्षाद्भवति ।”

—श्री २ सू ८ की टीका ।

“उपयोगतोऽन्तर्मुहूर्त्तमेव जघन्योत्कृष्टाभ्याम् ।”

—श्री २, सू १ की टीका ।

“उपयोगतस्तु तस्याप्यन्तर्मुहूर्त्तमवस्थानम् ।”

—श्री २, सू १ की टीका ।

यह सब योग्यतादिमें भी उल्लिखित है —

“मदिसुदुधोहिमणेहि य, सगसगवितये विससविष्णाण ।

अतोमुहूर्त्तकालो, उबजोगो सो द सायारो ॥६७३॥

एकेन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय पर्यन्त उक्त सय प्रकारके जीव, अपर्याप्त, पर्याप्त इस तरह दो दो प्रकारके होते हैं । (क) अपर्याप्त वे हैं, जिन्हें अपर्याप्त नामकर्मका उदय हो । (ख) पर्याप्त वे हैं, जिनको पर्याप्त नामकर्मका उदय हो ॥२॥

## (१)-जीवस्थानोंमें गुणस्थान ।

धादरअसनिविगले, अपाञ्चि पढमविय संनि अपजत्ते ।  
अजयजुअ ननि पञ्जे, सब्वगुणा मिच्छ सेमेसु ॥ ३ ॥

बादरासशिविकलेऽप्याप्ते प्रथमादिक सशिन्यपर्याप्ते ।

अयतयुत साशेनि पर्याप्ते, मवगुणा मिध्यात्त्व शेषु ॥ ३ ॥

अर्थ—अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, अपर्याप्त असक्षिपञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त विकलेन्द्रियमें पहला दूसरा दोही गुणस्थान पाये जाते हैं । अपर्याप्त सक्षिपञ्चेन्द्रियमें पहला दूसरा और चौथा, ये तीन गुणस्थान पूरे सकते हैं । पर्याप्त सक्षिपञ्चेन्द्रियमें सय गुणस्थानोंका सम्भव है । प सात जीवस्थानोंमें—अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय, पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय, पर्याप्त असक्षिपञ्चेन्द्रिय और पर्याप्त विकलेन्द्रिय त्रयमें पहला ही गुणस्थान होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—बादर एकेन्द्रिय, असक्षिपञ्चेन्द्रिय और तीन विकलेन्द्रिय, इन पाँच अपर्याप्त जीवस्थानोंमें दो गुणस्थान कहे गये हैं, पर इस विषयमें यह जानना चाहिये कि दूसरा गुणस्थान करण अपर्याप्तमें होता है, लब्धि अपर्याप्तमें नहीं, क्योंकि सास्वादनसम्यग्दृष्टिवाला जीव, लब्धि अपर्याप्तरूपसे पैदा होता ही नहीं । इसलिये करण-

सभी उपयोग क्रमभावो' हैं, इसलिये एक जीवमें एक समयमें कोई भी दो उपयोग नहीं होते ॥ ५ ॥

अचक्षुर्दिश्रसंनिस्तु, बुदसद्बुधनाण दससु चक्षुविणा  
निश्रपञ्जे मणना, - एचक्षुकेवलदुगधिहृणा ॥ ६ ॥

पर्याप्तचक्षुरिन्द्रियासन्नो, दिदर्पद्वयज्ञानं दशसु चक्षुर्विना ।

संश्रियपर्याप्ते मनोज्ञानचक्षु कवलद्विहृणा ॥ ६ ॥

अर्थ—पर्याप्त चक्षुरिन्द्रिय तथा पर्याप्त असञ्चि पञ्चेन्द्रियमें अचक्षु दो दर्शन और मति श्रुत दो अज्ञान, कुल चार उपयोग सूक्ष्म एकेन्द्रिय, यादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय, पर्याप्त तथा अपर्याप्त और अपर्याप्त चक्षुरिन्द्रिय तथा अपर्याप्त पञ्चेन्द्रिय, इन दस प्रकारके जीवोंमें मति अज्ञान, और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग होते हैं । अपर्याप्त जीवोंमें मन पर्यायज्ञान, चक्षुर्दर्शन, केवलज्ञान, केवल श्रुतको छोड़ शेष आठ (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अघधि

अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय आदि उक्त पाँच जीवस्थानोंमें दो गुणस्थान और छविध अथवात वादर एकेन्द्रिय आदि पाँचोंमें पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये ।

वादर एकेन्द्रियमें दो गुणस्थान कहे गये हैं सो भी सब वादर एकेन्द्रियोंमें नहीं, किन्तु पृथिवीकायिक, जलकायिक और घनस्पति कायिकमें । क्याकि तेज कायिक और वायुकायिक जीव, चाहे वे वादर हों, पर उनमें ऐसे परिणामका सम्भव नहीं जिससे सास्वादनसम्यक्क युक्त जीव उनमें पैदा हो सके । इसलिये सूक्ष्मके समान वादर तेज कायिक-वायुकायिकमें पहला ही गुणस्थान समझना चाहिये ।

इस जगह एकेन्द्रियोंमें दो गुणस्थान पाये जाने का कथन है, सो धर्मग्रन्थके मतानुसार, क्योंकि सिद्धांतमें एकेन्द्रियोंको पहला ही गुणस्थान माना है ।

अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियमें तीन गुणस्थान कहे गये हैं, सो इस अपेक्षात कि जब कोई जीव चतुर्थ गुणस्थान सहित मर कर सक्षि पञ्चेन्द्रियरूपसे पैदा होता है तब उसे अपर्याप्त अधस्थामें चौथे गुणस्थानका सम्भव है । इस प्रकार जो जीव सम्यक्त्वका त्याग करता हुआ सास्वादन भावमें घतमान होकर सक्षिपञ्चेन्द्रियरूपसे पैदा होता है, उसमें शरीर पर्याप्त पूर्ण न होने तक दूसरे गुणस्थान का सम्भव है और अन्य सब सक्षि पञ्चेन्द्रिय जीवोंको अपर्याप्त अधस्थामें पहला गुणस्थान होता ही है । अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियमें तान

१—देखिये ४८ वीं पायाकी निष्पत्ती ।

२—गोम्भन्सारमें तेरेहमें गुणस्थानक समय कर्तितमुद्दान अवस्थामें योगकी अपर्याप्तकारण अपर्याप्तता मानी हुई है तथा छठे गुणस्थानक समय भी आहारकर्मिक नियम-योग-ग्राममें आहारकरीर पूरा न बन जाने तक अपर्याप्तता मानी हुई है । इसलिये गोम्भन्सार ( भाग या ११५-११६ ) में निर्द्वन्द्वपर्याप्त और ( शत्राभ्यन्तर्ग्रन्थ मन्त्रिक



गुणस्थानोंका सम्भव दिखाया, सो करण अपर्याप्तमें; क्योंकि लब्धि-अपर्याप्तमें तो पहलेके सिवाय किसी गुणस्थानकी योग्यता ही नहीं होती ।

पर्याप्ति सक्षि पञ्चेन्द्रियमें सब गुणस्थान माने जाते हैं । इसका कारण यह है कि गर्भज मनुष्य, जिसमें सब प्रकारके शुभाशुभ तथा शुद्धाशुद्ध परिणामोंकी योग्यता होनेसे चौदहों गुणस्थान पाये जा सकते हैं, वे सक्षि पञ्चेन्द्रिय ही हैं ।

यह शङ्का हो सकती है कि सक्षि पञ्चेन्द्रियमें पहले बारह गुणस्थान होते हैं, पर तेरहवाँ चौदहवाँ, ये दो गुणस्थान नहीं होते । क्योंकि इन दो, गुणस्थानोंके समय सक्षित्वका प्रभाव हो जाता है । उस समय क्षायिक ज्ञान होनेके कारण क्षायोपशमिक प्रानात्मक सञ्ज्ञा, जिसे 'भावमन' भी कहते हैं, नहीं होती । इस शङ्काका समाधान इतना ही है कि सक्षि पञ्चेन्द्रियमें तेरहवें चौदहवें गुणस्थानका जो फलन है सो द्रव्यमनके सम्यग्बन्धसे सक्षित्वका व्यवहार अङ्गीकार करके, क्योंकि भावमनके सम्यग्बन्धसे जो सजी हैं, उनमें बारह ही गुणस्थान होते हैं ।

करण-अपर्याप्त ) सक्षि-पञ्चेन्द्रियमें पहला, दूसरा चौथा छठा और तेरहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे गये हैं ।

इस कामधर्ममें करण अपर्याप्त सक्षिपञ्चेन्द्रियमें तीनों गुणस्थानोंका कथन है सो उपर्युक्त कानून अपर्याप्त अवस्थाको लेकर । और गोमटशरमें पाँच गुणस्थानोंका कथन है, सो उपर्युक्तकालीन लक्षिकानून उभय अपर्याप्त अवस्थाको लेकर । इस तरह ये दोनों कथन अपेक्षाकृत होनेसे आरम्भमें विरुद्ध नहीं है ।

लक्षिककालीन अपर्याप्त अवस्थाको लेकर सजीमें गुणस्थानका विचार करना हो सो चौदहों गुणस्थान भी गिनना चाहिये, क्योंकि उस गुणस्थानमें वैकियलक्षिते वैकियशरीर रहे जानेके समय अपर्याप्त अवस्था पायी जाती है ।

१—यही बात सप्ततिकाचूणिक निम्नलिखित पाठमें स्पष्ट होती है —



सक्षि-पञ्चेन्द्रियको, अपर्याप्त अवस्थामें आठ उपयोग माने गये हैं। सो इस प्रकार —तीर्थङ्कर तथा सम्यक्त्थी देव नारक आदिको उत्पत्ति क्षणसे ही तीन ज्ञान और दो दर्शन होते हैं तथा मिथ्यात्वी देव-नारक आदिको जन्म समयसे ही तीन अज्ञान और दो दर्शन होते हैं। मन पर्याय आदि चार उपयोग न होनेका कारण यह है कि मन पर्यायज्ञान, समयवालोंको हो सकता है, परन्तु अपर्याप्त-अवस्थामें समयका सम्भव नहीं है, तथा चक्षुर्दर्शन, चक्षुरिन्द्रियके व्यापारकी अपेक्षा रखता है, जो अपर्याप्त अवस्थामें नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग कर्मक्षय-जन्य हैं, किन्तु अपर्याप्त अवस्थामें कर्म क्षयका सम्भव नहीं है। सक्षि पञ्चेन्द्रियको अपर्याप्त अवस्थामें आठ उपयोग कहे गये, सो करण अपर्याप्तकी अपेक्षासे, क्योंकि लब्धि अपर्याप्तमें मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और अचक्षुर्दर्शनके सिवाय अन्य उपयोग नहीं होते।

इस गाथामें अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असक्षि पञ्चेन्द्रिय और अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियमें जो जो उपयोग बतलाये गये हैं, उनमें चक्षुर्दर्शन परिगणित नहीं है, सो मतान्तरसे, क्योंकि पञ्चसङ्ग्रहकारके मतसे उक्त तीनों जीवस्थानोंमें, अपर्याप्त अवस्थामें भी इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके बाद चक्षुर्दर्शन होता है। दोनों मतके तात्पर्यको समझनेकेलिये गा० १७वींका नोट देखना चाहिये ॥ ६ ॥

१—इमवा वल्लेख श्रीमलयगिरिसुरिने इम प्रकार किया है —

“अपर्याप्तकाश्चेह लब्ध्यपर्याप्तका वेदितव्या, अन्यथा करणापयाप्तकेपु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते मूलटाकायामाचार्येणाभ्यनुज्ञानात् ।” —पृष्ठ० द्वार १, गा० ८ की टीका ।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त श्रेय सात जीवस्थानोंमें परिणाम ऐसे सङ्घिष्ट होते हैं कि जिससे उनमें मिथ्यात्वके सिद्धापत्र अथ किसी गुणस्थानका सम्भव नहीं है ॥३॥



“मणकरण केवलिणा वि अतिव, तेन सनिणो भन्नति, मनोविन्नाण पडुच्च ते सनिणो न भवति सि ।”

कवनीको भी द्रव्यमन होता है इससे वे मशी बहे जने हैं परन्तु मनोस्थानकी अपेक्षासे वे मशी नहीं हैं। कवना भवस्थानमें द्रव्यमनके सम्बन्धसे सञ्चलिका व्यवहार गोम्भार जीवजाणमें भी माना गया है। यथा —

“मणसद्वियाण वयण, दिट्ठ तप्पुव्वमिदि सजोगमिह ।

उत्तो मणोवयारे,—णिदियणाणेण हीणमिह ॥ २२७॥

अगोवगुदयादो, दव्वमणट्ठ जिणिदच्चदमिह ।

मणव्वमणस्वधाण, आगमणादो दु मणजागो ॥२२८॥”

सशोभी बरती गुणस्थानमें मन न होनेपर भी बचन होनेके कारण उपचारमे मन माना जाता है, उपचारका कारण यह है कि पहलेक गुणस्थानमें मनवाणोंकी बचन देखा जाता है ॥ २२७ ॥

जिनेश्वरकी भी द्रव्यमनकलिये भङ्गापात्र नामकमके उदयसे मनोवगणाक स्वर्भोका आगमन हुआ करता है इसलिये उन्हें मनोयोग कहा है ॥ २२८ ॥

या सत्ताईसवाँ आदि भाग बाकी रहनेपर ही परमजके आयुका बन्ध होता है ।

इस नियमके अनुसार यदि बन्ध न हो तो अन्तमें जय वर्तमान आयु, प्रन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण बाकी रहती है, तब अगले भवकी आयुका बन्ध अवश्य होता है ।

## २ उदीरणा ।

उपर्युक्त तेरह प्रकारके जीवस्थानोंमें प्रत्येक समयमें आठ कर्मोंकी उदीरणा हुआ करती है । सात कर्मोंकी उदीरणा, आयुकी उदीरणा न हानेके समय—जीवनकी अन्तिम आधलिकामें—पायी जाती है, क्योंकि उस समय, आधलिकामात्र स्थिति शेष रहनेके कारण वर्तमान ( उद्यमान ) आयुकी और अधिक स्थिति होनेपर भी उद्यमान न होनेके कारण अगले भवकी आयुकी उदीरणा नहीं होती । शास्त्रमें उदीरणाका यह नियम बतलाया है कि जो कर्म, उद्य प्राप्त है, उसकी उदीरणा होती है, दूसरेकी नहीं । और उद्य प्राप्त कर्म भी आधलिकामात्र शेष रह जाता है, तबसे उसकी उदीरणा रुक जाती है ।

१—“वृद्ध्यावलियावहिरिह्ठ ठिह्ठितो कसायसहिया सहिएण ओगकरणेण दलियमाकहिह्ठय उद्यपत्तदलियेण सम अणुभरण-मुदीरणा ।”

—कर्मप्रवृत्ति-वृत्ति ।

अर्थात् उद्य आधलिकामें बाहरकी स्थितिवाने दलिकोंके देत या कषाय-रदिन योग्यता खींचकर—उस स्थितिमें उन्हें छुड़ाकर—उद्य भोग लेना उदीरणा कहलाती है ।

उक्त तेरह जीवस्थानोंमें जो अपर्याप्त जीवस्थान हैं, वे सभी लब्धि अपर्याप्त समझने चाहिये, क्योंकि उन्हींमें सात या आठ कर्मकी उदीरणा घट सकती है । वे अपर्याप्त अवस्थाहीमें मर जाते हैं, इसलिये उनमें आवलिकामात्र आयु बाकी रहनेपर सात कर्मकी और इसके पहले आठ कर्मकी उदीरणा होती है । परन्तु करणापर्याप्तोंके अपर्याप्त अवस्थामें मरनेका नियम नहीं है । वे यदि लब्धिपर्याप्त हुये तो पर्याप्त अवस्थाहीमें मरते हैं । इसलिये उनमें अपर्याप्त अवस्थामें आवलिकामात्र आयु शेष रहनेका और सात कर्मकी उदीरणाका समय नहीं है ।

### ३-४ सत्ता और उदय ।

आठ कर्मोंकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान तक होती है और आठ कर्मका उदय दसवें गुणस्थान तक बना रहता है, परन्तु पर्याप्त सत्ताके सिवाय सब प्रकारके जीवोंमें अधिकसे अधिक पहला, दूसरा और चौथा, इन तीन गुणस्थानोंका समय है, इसलिये उक्त तेरह प्रकारके जीवोंमें सत्ता और उदय आठ कर्मोंका माना गया है ॥७॥

सत्तद्वृद्धेगवधा, सतुदया सत्तद्वृद्धचत्तारि ।

सत्तद्वृद्धपंचदुग, उदीरणा सनिपज्जत्ते ॥ ८ ॥

सत्ताष्टपदेकवधा, सदुदयो सत्ताष्टचत्वारि ।

सत्ताष्टपट्पञ्चदिकमुदारणा सज्जि पर्वत्ते ॥ ८ ॥

अर्थ—पर्याप्त सत्तामें सात कर्मका, आठ कर्मका, द्वादश कर्मका और एक कर्मका, ये चार बन्धस्थान हैं, सत्तास्थान और उदयस्थान सात, आठ और चार कर्मके हैं तथा उदीरणास्थान सात, आठ, द्वादश, पाँच और दो कर्मका है ॥ ८ ॥

भाषार्थ—जिन प्रकृतियोंका बन्ध एक साथ (युगपत्) हो, उनके समुदायको 'बन्धस्थान' कहते हैं । इसी तरह जिन प्रकृतियोंकी सत्ता

यह पुद्गलमय स्वरूप प्रज्ञापनासूत्र इन्द्रियपदनी टीका पृ० ३९४ के अनुसार है । आचाराह वृत्ति पृ० १०४ में उसका स्वरूप चेतनामय इतलाथा है ।

आन्तरके सम्बन्धमें यह बात जाननी चाहिये कि त्वचाकी आवृत्ति भौक प्रकारकी होगी है पर उसने बाह्य और आभ्यन्तर आकारमें जुगुर्न नहीं है । किन्ती प्राणीकी त्वचाका जैसा बाह्य आकार होता है वैसा ही आभ्यन्तर आकार होता है । परन्तु प्रत्येक इन्द्रियोंके विषयमें ऐसा नहीं है — त्वचाको द्योत प्रत्येक इन्द्रियोंके, आभ्यन्तर आकार, बाह्य आकारसे नहीं मिलते । सब नातिक प्राणियोंकी सनातीय इन्द्रियाँ आभ्यन्तर आकार, एक तरहके माने हुये हैं । जैसे — कानका आभ्यन्तर आकार बद्ध-युष्प-जैसा आँखका मसुरके दाना-जैसा, नाकका अतिमुत्तकके फूल जैसा और जीमरा घुरा जैसा है । किन्तु बाह्य आकार सब जानिये भिन्न-भिन्न देखे जानें हैं । उदाहरणार्थ — मनुष्य हाथी, घोड़ा बैल विल्ली चूहा आदिये कान आँख नाक जीमको देखिये ।

(ख) आभ्यन्तरनिवृत्तिकी विषय ग्रहण-शक्तिकी उपकरणोद्भूत कहते हैं ।

(२) भावेन्द्रिय दो प्रकारकी है — (१) लघिरूप और (२) उपयोगरूप ।

(१) — मतिशान्तरणके लघोपरामको — चेतना शक्तिकी योग्यता-विरोधको — लघिरूप भावेन्द्रिय कहते हैं । (२) — इस लघिरूप भावेन्द्रियके अनुसार प्रात्माकी विषय-ग्रहणमें प्रवृत्ति होती है, उसे 'उपयोगरूप भावेन्द्रिय' कहते हैं ।

इस विषयको विस्तारपूर्वक जाननेकेलिये प्रज्ञापना पृ० १५, पृ० २६३, तत्त्वाद्य अध्याय २ सू० १७-१८ तथा वृत्ति विरोधक गा० २२६३-२००३ तथा लोकप्रकाश-सर्ग ३ श्लोक ४६४ में आगे देखना चाहिये ।

एक साथ पाया जाय, उनके समुदायको 'सत्तास्थान,' जिन् प्रवृत्तियों का उदय एक साथ पाया जाय, उनके समुदायको 'उदयस्थान' और जिन् प्रवृत्तियोंकी उद्दीरणा एक साथ पायी जाय, उनके समुदायको 'उद्दीरणास्थान' कहते हैं ।

### ५. बन्धस्थान ।

उपयुक्त चार बन्धस्थानोंमेंसे सात कर्मका बन्धस्थान, उस समय पाया जाता है जिस समय कि आयुका बन्ध गढ़ीं होता । एक बार आयुका बन्ध हाजानके बाद दूसरी बार उसका बन्ध होनेमें जघन्य कात्, अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण चार उत्कृष्ट काल, अन्तर्मुहूर्त्त-धर्म ३ फरोड पूर्ववत् तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम प्रमाण चला जाता है । अत एव सात बन्धस्थानकी स्थिति भी उतनी ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त धर्म ५ फरोड पूर्ववत् तथा छह मास कम तेतीस सागरोपम प्रमाण समझने चाहिये ।

आठ कर्मका बन्धस्थान, आयु बन्धके समय पाया जाता है । आयु बन्ध जघन्य या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक होता है इसलिये आठ के बन्धस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है ।

१—तीस समय प्रमाण धर्म मान्य-प्रमाण धर्म पर एक एक समय बन्धने के तत्कालमें एक समय धर्म मुहूर्त्त प्रमाण धर्म-धर्म प्रकारका सात अन्तर्मुहूर्त्त कहलाता है । जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त नर समयक, उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त एक मनव-कर्म मुहूर्त्तका और मध्यम अन्तर्मुहूर्त्त दस समय बन्धने समय और बीचके सब प्रकारके बन्धका समझना चाहिये । दो धर्मोंको—अन्तर्गामीन भित्तियों—मुहूर्त्त कहते हैं ।

२—अन्तर्गामीन भित्तियोंके एक 'सागरोपम' और असम्यक दशोंका एक पत्त्यापम होता है ।  
—गर्वाध ३०४ म० १५ का भाष्य ।

३—जब कोई पूर्व वकी आयुवाला कर्म मनुष्य अपनी आयुके तीसरे भागमें अन्तर्गामीन भित्तियोंके तेनाम सागरोपम-प्रमाण आयु बंधित है तब अन्तर्मुहूर्त्त पत्त्यापम आयुका बन्ध करके फिर वह देवकी आयुके छह महीने रात्र रहनेपर ही आयु बंध सकता है इस अर्थसे आयुके दशका उत्कृष्ट अन्तर्गामीन समझना ।

## परिशिष्ट "ग" ।

## पृष्ठ १०, पंक्ति १६ के "सज्ञा" शब्दपर—

सहाय्य मतलब आभाग (मानसिक क्रिया विरोध)में है। इसक (क) ज्ञान और (ख) अनुभव ये दो भेद हैं।

(क) मति शुभ आदि पाँच प्रकारका ज्ञान ज्ञानसज्ञा है।

(ख) अनुभवसज्ञाके (१) आहार (२) भव (३) मैथुन (४) परिग्रह (५) क्रोध (६) मान (७) माया, (८) लोभ, (९) भय (१०) लोका (११) मोह (१२) धर्म, (१३) दुःख (१४) दुःख (१५) जुगुप्सा और (१६) गीर्षा ये मोहक भेद हैं। आचारान्त नियुक्ति ग० ३८—३९ में तो अनुभवसज्ञाके ये सातह भेद किये गये हैं। लेकिन भगवती-राजव ७ उद्रेक ८ में तथा प्रज्ञापना-पद ८ में इनमेंसे पहले दस ही भेद निश्चित हैं।

ये संशयों सब जीवोंमें न्यूनाधिक प्रमाथमें पाई जाती हैं। इसलिये ये कश्चि अमूर्च्छि-भ्रमव्यवहारकी नियामक नहीं हैं। शास्त्रमें संक्षिप्त अमूर्च्छि भेद हैं, सो अन्य मंशाओंकी अपेक्षासे। एकैन्द्रियमें लेकर पञ्चैन्द्रिय पर्यन्तके जीवोंमें चतन्यका विकास क्रमशः अधिक-अधिक है। इस विकासके दर-क्रम मात्रको समझानेकेलिये शास्त्रमें इसक स्थूल रीतिपर चार विभाग किये गये हैं।

(१) पहले विभागमें ज्ञानका अत्यन्त अल्प विकास विवक्षित है। यह विकास इतना अल्प है कि इस विकासमें युक्त जीव मूर्च्छिजनकी तरह वेष्टारहित होने हैं। इस अल्पततर चेतन्यकी 'ओषमज्ञा' कही गई है। एकैन्द्रिय जीव ओषमज्ञावाले ही हैं।

(२) दूसरे विभागमें विकासकी इतनी मात्रा विवक्षित है कि जिसमें कुछ भूतकालका—सुगोचं भूतकालका नहीं—स्मरण किया जाता है और जिसमें इष्ट विषयोंमें प्रवृत्ति तथा अनिष्ट विषयोंसे निवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति निवृत्ति कारी ज्ञानको हेतुवाचोपदेशिकीसज्ञा कहा है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और सम्मूर्च्छिम पञ्चैन्द्रिय जीव हेतुवाचोपदेशिकीसज्ञावाले हैं।

(३) तीसरे विभागमें इतना विवक्षित है कि जिससे सुगोचं भूतकालमें अनुभव किये हुये विषयोंका स्मरण और स्मरणद्वारा वर्तमान कालके कर्त्तव्योंका निश्चय किया जाता है। यह ज्ञान विशिष्ट मनकी सहायतासे होता है। इस ज्ञानको दीर्घकालोपदेशिकीसज्ञा कहा है। देव नारक और गर्भव मनुष्य-तिस्य दीर्घकालोपदेशिकीसज्ञावाले हैं।

(४) चौथे विभागमें विशिष्ट शुभज्ञान विवक्षित है। यह ज्ञान इतना शुद्ध होता है कि सम्भवित्वयोंके सिवाय अन्य जीवोंमें इसका समभव नहीं है। इस विशुद्ध ज्ञानको वृष्टिवाचोपदेशिकीसज्ञा कहा है।

छह कर्मका बन्धस्थान दसवें ही गुणस्थानमें पाया जाता है, क्योंकि उसमें ध्रायु और मोहनीय, दो कर्मका बन्ध नहीं होता । इस बन्धस्थानकी जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति दसवें गुणस्थानकी स्थितिके धराबर—जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्तकी—समझनी चाहिये ।

एक कर्मका बन्धस्थान ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें, तीन गुणस्थानोंमें होता है । इसका कारण यह है कि इन गुणस्थानोंके समय सातवेंदनीयके सिवाय अन्य कर्मका बन्ध नहीं होता । ग्यारहवें गुणस्थानकी जघन्य स्थिति एक समयकी और तेरहवें गुणस्थानकी उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष कम करोड़ पूर्व वर्षकी है । अतएव इस बन्धस्थानकी स्थिति, जघन्य समयमात्रकी और उत्कृष्ट नौ वर्ष कम करोड़ पूर्ववर्षकी समझनी चाहिये ।

### ६ सत्तास्थान ।

तीन सत्तास्थानोंमेंसे आठ वा सत्तास्थान, पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें पाया जाता है । इसकी स्थिति, अभव्यकी अपेक्षासे अनादि अनन्त और भव्यकी अपेक्षासे अनादि सान्त है । इसका सवय यह है कि अभव्यकी कर्म परम्पराकी जैसे आदि नहीं है, वैसे अन्त भी नहीं है; पर भव्यकी कर्मपरम्पराके विषयमें ऐसा नहीं है, उसकी आदि तो नहीं है, किन्तु अन्त होता है ।

सातका सत्तास्थान केवल बारहवें गुणस्थानमें होता है । इस

१—भयन्त सूक्ष्म क्रियावाला भयान् सबम जघन्य गतिवाला परमाणु जितने कालमें अपने आकारा प्रदेशसे भग्नतर आकारा प्रदेशमें जाता है वह काल 'समय' कहलाता है ।

—तत्त्वाथ अ० ४ सू० १५ का माध्य ।

२—चौरासी लघु वर्षका एक पूर्वार्ध और चौरासी लघु पूर्वार्धका एक पूर्व होता है ।

—तत्त्वार्ष अ० ४ सू० १५ का माध्य ।



शास्त्रमें जहाँ-कहाँ मशी अमशीका उल्लेख है वहाँ सब जगह अमशीका मतलब ओष मंशावाले और हेतुवादोपदेशिकोसंज्ञावाले जीवोंसे है । तथा मशीका मतलब सब जगह दीर्घका लोपदेशिकोसंज्ञावालोंसे है ।

उन विषयका विशेष विचार तत्त्वार्थ अ० २, सू० २५ वृत्ति नन्दी सू० ३५ विगोपावश्यक गा० १०४—१२६ और लोकप्र०, म० ३ श्लो० ४४२—४६३ में है ।

सगी अमशीके व्यवहारके विषयमें दिगम्बर सम्प्रदायमें श्वेताम्बरकी अपेक्षा थोड़ासा भेद है । उसमें गर्भ-न-तयर्चाको सशीमान न मानकर मशी तथा अमशी माना है । इसी तरह समूच्छिद्रम तियर्चको मिय अमशी न मानकर मशी अमशी उभयम्प माना है । (जीव० गा० ७६) इनके मिश्रण यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्वेताम्बर-ग्रन्थ में हेतुवादोपदेशिकी अर्थ को तीन मशायें वर्णित हैं उनका विचार दिगम्बरीय प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें दृष्टि-गौरव नहीं होना ।

गुणस्थानकी जघन्य या उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी मानी जाती है । अन पक्ष सातके सत्तास्थानकी स्थिति बतानी समझनी चाहिये । इस सत्तास्थानमें मोहनीयके सिषाय सात कर्मोंका समावेश है ।

चारका सत्तास्थान तरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें चार अघातिशर्मकी ही सत्ता शेष रहती है । इन दो गुणस्थानोंको मिलाकर उत्कृष्ट स्थिति नौ वर्ष सात मास कम करोड़ पूर्व प्रमाण है । अत एव चारके सत्तास्थानकी उत्कृष्ट स्थिति उतना समझना चाहिये । उसकी जघन्य स्थिति तो अतर्मुहूर्त्त प्रमाण है ।

### ७ उदयस्थान ।

आठ कर्मका उदयस्थान, पहलसे दसवें तक दस गुणस्थानोंमें रहता है । इसकी स्थिति अमयकी अपेक्षासे अनादि घनन्त और मयकी अपेक्षासे अनादि-सात है । परन्तु उपशम श्रेणिसे गिरे हुए मयका अपेक्षासे उसकी स्थिति सादि सात है । उपशम श्रेणिसे गिरनेके बाद फिरसे अतर्मुहूर्त्तमें श्रेणिकी जा सकती है यदि अन्तर्मुहूर्त्तमें न जा सकी तो अन्तमें कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्त्तके बाद अवश्य की जाती है । इसलिये आठके उदयस्थानकी सादि सान्त स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट देश-जन ( कुछ कम ) अर्धपुद्गल परावर्त्त प्रमाण समझनी चाहिये ।

सातका उदयस्थान, ग्यारहवें और बारहवें गुणस्थानमें पाया जाता है । इस उदयस्थानकी स्थिति, जघन्य पक्ष समयकी और उत्कृष्ट अतर्मुहूर्त्तकी मानी जाती है । जो जीव ग्यारहवें गुणस्थानमें एक समयमात्र रह कर मरता है और अनुत्तरेधिमानमें पैदा होता है, वह पैदा होते ही आठ कर्मके उदयका अनुभव करता है, इस अपेक्षासे सातके उदयस्थानकी जघन्य स्थिति समय प्रमाण कही गई है । जो जीव, बारहवें गुणस्थानको पाता है, वह अधिकसे अधिक



उस गुणस्थानकी स्थिति तक—अन्तर्मुहूर्त्त तकके सातकर्मके उदय-का अनुभव करता है, पीछे अवश्य तेरहवें गुणस्थानको पाकर चार कर्मके उदयका अनुभव करता है, इस अपेक्षासे सातके उदय-स्थानकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण कही गई है । चारका उदयस्थान, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें पाया जाता है क्योंकि इन दो गुणस्थानोंमें अघातिकर्मके सिवाय अन्य किसी कर्मका उदय नहीं रहता । इस उदयस्थानकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट, देश-ऊन करोड पूर्व वर्षकी है ।

### ८ उदीरणास्थान ।

आठका उदीरणास्थान, आयुकी उदीरणाके समय होता है । आयुकी उदीरणा पहले छह गुणस्थानोंमें होती है । अत एव यह उदीरणास्थान इन्हीं गुणस्थानोंमें पाया जाता है ।

सातका उदीरणास्थान, उस समय होता है जिस समय कि आयुकी उदीरणा रुक जाती है । आयुकी उदीरणा तब रुक जाती है, जब वर्तमान आयु आवलिका प्रमाण शेष रह जाती है । वर्तमान आयुकी अन्तिम आवलिकाके समय पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये पाँच गुणस्थान पाये जा सकते हैं, दूसरे नहीं । अत एव सातके उदीरणास्थानका सम्भव, इन पाँच गुणस्थानोंमें समझना चाहिये । तीसरे गुणस्थानमें सातका उदीरणास्थान नहीं होता, क्योंकि आवलिका प्रमाण आयु शेष रहनेके समय, इस गुणस्थानका सम्भव ही नहीं है । इसलिये इस गुणस्थानमें आठका ही उदीरणा-स्थान माना जाता है ।

छहका उदीरणास्थान सातवें गुणस्थानसे लेकर दसवें गुण-स्थानकी एक आवलिका प्रमाण स्थिति धाकी रहती है, तब तक

दिग्भ्रम साहित्यमें करण अर्थात्तव 'दले 'निवृत्ति अपवाप्तक शब्द मिलता है। अर्थमें भी थोड़ासा फर्क है। निवृत्ति शब्दका अर्थ शरीर हो लिया हुआ है। अत एव शरीरपवाप्ति पूर्ण न होने तक ही दिग्भ्रमीय साहित्य, जीवकी निवृत्ति अर्थात्तव बहना है। शरीरपवाप्ति पूर्ण होनेके बाद वह, निवृत्ति अर्थात्तवका 'दबहार करनेकी सम्मति नहीं देता। यथा —

“पञ्चतस्तस्य उदये, णियणियपञ्जतिणिट्ठिदो होदि ।

जाव सरीरमपुण्ण, णिठ्ठत्तिअपुण्णगो ताव ॥१०॥”

—जीववाण्ड ।

माराश यह कि दिग्भ्रम साहित्यमें पवाप्तनान्तमरा उदयवाला ही शरीरपवाप्ति पूर्ण न होने तक 'निवृत्ति अर्थात्तव शब्दमें अभिमत है।

परंतु श्वेताम्बरीय साहित्यमें करण शब्दका 'शरीर इन्द्रिय आदि पवाप्तियों स्तना अर्थ लिया हुआ मिलता है। यथा —

“करणानि शरीराक्षादीनि ।”

—लोकाप्र०, म० ३ भा० १० ।

अत एव श्वेताम्बरीय सम्प्रदाय अनुसार जिनमें शरीर पवाप्ति पूर्ण की है पर इन्द्रिय-पवाप्ति पूर्ण नहीं की है वह भी करण अर्थात्तव कहा जा सकता है। अर्थात् शरीररूप करण पूर्ण करनेमें करण-पवाप्त और इन्द्रियरूप करण पूर्ण न करनेमें करण-अर्थात्तव कहा जा सकता है। इस प्रकार श्वेताम्बरीय सम्प्रदायकी दृष्टिमें शरीरपवाप्तिमें लेकर मन पवाप्ति पयन्त पूर्व पूर्ण पवाप्तिक पूर्ण होनेपर करण पवाप्त और वचरोत्तर पवाप्तिक पूर्ण न होनेमें करण-अर्थात्तव कह सकते हैं। परंतु जब जाव, स्वयंग्य सम्पूर्ण पवाप्तियोंको पूर्ण कर लेवे तब उसे 'करण अर्थात्तव नहीं कह सकते।

पवाप्तिका स्वरूप — पवाप्ति वह शक्ति है जिसकेद्वारा जीव आहार-शान्तिच्छाया आदिके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है और गृहीत पुद्गलोंको आहार आदिरूपमें परिणत करता है। यही शक्ति जीवमें पुद्गलोंके उपबन्धमें बनती है। अर्थात् निम्न प्रकार केन्द्रके भीतरके भागमें बन-मान पुद्गलोंमें एक तरहकी शक्ति होती है, जिनमें कि खाया हुआ आहार भिन्न-भिन्नरूपमें बदल जाता है इसी प्रकार जन्मस्थान-प्राप्त जीवोंद्वारा गृहीत पुद्गलोंमें यही शक्ति बन जाती है जो कि आहार आदि पुद्गलोंको खल-रस आदिरूपमें बदल देती है। वही शक्ति पवाप्ति है। पवाप्ति-जनक पुद्गलोंमेंसे कुछ तो ऐसे होते हैं जो कि जन्मस्थानमें आये हुये जीवोंद्वारा प्रथम समयमें ही ग्रहण किये हुये होते हैं और कुछ ऐसे भी होते हैं, जो पीछेमें प्रत्येक समयमें ग्रहण किये जाकर, पूर्व गृहीत पुद्गलोंके समर्थमें तद्रूप बने हुये होते हैं।

पाया जाता है; क्योंकि उस समय आयु और वेदनोप, इन दोकी उदीरणा नहीं होती ।

दसवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका, जिसमें मोहनीयकी भी उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका पर्यन्त पाँचका उदीरणास्थान होता है ।

बारहवें गुणस्थानकी अन्तिम आवलिका, जिसमें ज्ञानावरण दर्शनावरण और अंतराय, तीन कर्मकी उदीरणा रुक जाती है, उससे लेकर तेरहवें गुणस्थानके अन्त पर्यन्त दोका उदीरणा-स्थान होता है । चौदहवें गुणस्थानमें योग न होनेके कारण उद्वय रहने पर भा नाम-गोत्रकी उदीरणा नहीं होती ।

उक्त सब षड्धस्थान, सत्तास्थान आदि पयाप्त सक्षीके हैं; क्योंकि चौदहों गुणस्थानोंका अधिकारी वही है । किस किस गुणस्थानमें कौनसा कौनसा षड्धस्थान, सत्तास्थान, उद्वयस्थान और उदीरणा स्थान है, इसका विचार आगे गा० ५६ से ६२ तकमें है ॥ ८ ॥



कार्य-भेदसे पर्याप्तिके छह भेद हैं—(१) आहारपदाति (२) सरीरपदाति (३) इन्द्रिय पदाति (४) श्वासाच्छ्वासपर्याति (५) माषापदाति और (६) मन पदाति । इनको व्याख्या पहले कर्मग्रन्थकी ४६वीं गाथाके भावार्थमें पृ. ६७वेंमें देख लेनी चाहिये ।

इन छह पदातियोंमेंम पहली चार पदातिय क अधिकारी षकेन्द्रिय ही हैं । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और असाक्ष पर्षेन्द्रिय नीचे मन पर्याप्तिक सिवाय शेष षोंच पर्याप्तियोंके अधिकारी हैं । सति पर्षेन्द्रिय नीचे छहों पदातियान अधिकारी हैं । इस विषयकी गाथा श्री जिनभगणिस समाश्रमण कुत वृद्धमग्रदृष्टीमें है—

“आहारसरीरिन्द्रिय, -पञ्चत्ता आणपाणभासमणो ।

चत्तारि पच छप्पि य, एगिंदियविगलसनीण ॥३४९॥”

यही गाथा गोम्मत्सार-जीवकाण्डमें १२८वें नम्बरपर द्रज है । प्रस्तुत विषयना विशेष स्वरूप जाननेकेलिये ये स्थल देखन योग्य है—

नन्ती पृ० १०४-१ ५ पचस० डा० १ गा० ५ वृत्ति लोवप्र० म० ३ श्लो० ७-४२ तथा जीवकाण्ड पदाति अधिकार गा० ११७-१२७ ।



## प्रथमाधिकारके परिशिष्ट ।

### परिशिष्ट "क" ।

#### पृष्ठ ५ के "लेश्या" शब्दपर—

१—लेश्याके (क) द्रव्य और (ख) भाव, इस प्रकार दो भेद हैं ।

(क) द्रव्यलेश्या पुद्गल विशेषात्मक है । इसके स्वरूपके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन मत हैं । (१) कर्मवर्गण निष्पन्न (२) कर्म निष्पन्न और (३) योग परिणाम ।

१ले मतका यह मताना है कि लेश्या द्रव्य कर्म-वर्गणासे बने हुये हैं, फिर भी वे आठ काममें भिन्न ही हैं, जैसा कि कामपरशरि । यह मत उत्तराध्ययन अ० ३४ की टीका पृ० ६५० पर उल्लिखित है ।

२रे मतका आशय यह है कि लेश्या द्रव्य कर्म निष्पन्नरूप (संयमा कर्म प्रवाहरूप) है । चौदहवें गुणस्थानमें कर्मक होनेपर भी उसका निष्पन्न न होनेसे लेश्याके अभावकी उपपत्ति हो जाती है । यह मत उक्त पृष्ठपर ही निश्चित है, जिसकी टीकाकार वादिवैताल श्रीशान्तिसूरिने 'गुरवस्तु व्याचक्षते कश्चक लिखा है ।

३रा मत श्रीरिभद्रसूरि आश्रित है । इस मतका आशय श्रीमलयगिरिजीने पञ्चव्या पद १७ की टीका पृ० ३३ पर स्पष्ट बतलाया है । वे लेश्या द्रव्यका योगवर्गणा अतगत स्वान्द्र द्रव्य मानते हैं । उपाध्याय श्रीविनयविजयजीने अपने आगम-दोहनरूप लोचप्रकाश सर्ग ३ श्लोक २८५ में इस मतकी ही प्राप्ति ठहराया है ।

(ख) भावलेश्या आत्माका परिणाम विरोध है, जो सङ्घरा और योगमें अनुगत है । सङ्घराके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम मन्द मन्दतर, मन्दतम आदि अनेक भेद होनेमें वस्तुतः भावलेश्या, अमरय प्रसारणी हैं तथापि मन्त्रमें छह विभाग करके शास्त्रमें उसका स्वरूप दिखाया है । देखिये गा० १२वीं । छह भेदोंका स्वरूप समझनेकेलिये शास्त्रमें नीचे लिखे दो दृष्टान्त दिये गये हैं —

पहिला — कोई छह पुरुष जम्बूपल (जामुन) खानेकी इच्छा करते हुये चले जा रहे थे इनमें जम्बूवृक्षका देव उनमेंसे एक पुरुष बोला— 'लीजिये जम्बूवृक्ष तो आ गया । अब कर्णकलिये ऊपर चानकी अपेक्षा कर्णसे लदी हुई बड़ी-बड़ी शाखावाले इस वृक्षको काट गिराना ही अच्छा है ।

यह सुनकर दूसरेने कहा— 'वृक्ष काटनेसे क्या लाभ ? केवल शाखाओंको काट दो ।'



परिशिष्ट "च" ।

पृष्ठ २१ के 'क्रममावी' शब्दपर—

द्वयपरकं चतुर्वर्ग क्रममावी है "समे मतभेद नहीं है पर कतमीके उपयोगक सम्बन्धमें मुख्य तीन पक्ष हैं—

(१) सिद्धान्त-पक्ष वेदान्तान और वेदान्तानव क्रममावी मानता है । सम्ये समर्थन भी "नानागणि सप्तमस्य आदि है ।

(२) दूसरा पक्ष वेदान्तान-व्यवहारान उभय उपयोगको सहभावी मानता है । "सप्तमस्य श्रीमद्भक्तिकी आदि है ।

(३) तीसरा पक्ष, उभय उपयोगोंका नाना मानकर उनका पक्ष मानता है । सम्ये "पक्ष भीमिदसेन दिखार है ।

तीनों पक्षोंकी कुछ मुख्य-मुख्यदलीमें क्रममावी नीचे दी जाती है—

१—(क) सिद्धान्त (मगवती शतक १८ और २४ कं ६ उद्गार, तथा प्रमाण-पद ३०) में ज्ञान-दर्शन दोनोंका अलग अलग कथन है तथा उनका क्रममावित्व स्पष्ट बरित है । (ख) त्रिभुक्ति (आ० नि० या० ६७७-६७९) में वेदान्तान-वेदान्तदर्शन दोनोंका भिन्न-भिन्न लक्षण उनका द्वारा सर्व-विषय ज्ञान तथा दर्शनका हाता और युगपत् दो उपयोगोंका निषेध स्पष्ट बतलाया है । (ग) वेदान्तान-वेदान्तदर्शन भिन्न भिन्न आवरण और उपयोगोंकी बारह संख्या शास्त्रमें (प्रमाण पद २६ पृ० ५-५ आदिमें) जगह जगह बरित है । (घ) वेदान्तान और वेदान्तदर्शन, अलग बने जाते हैं भौतिक अवेद्यामे, उपयोगको अवेद्यासे नहीं । उपयोगकी अवेद्यामें उनकी स्थिति एक समवती है क्योंकि उपयोगकी अवेद्याम अनन्तता शास्त्रमें बड़ी भी प्रतिपादित बर है । (ङ) उपयोगोंका स्वभाव ही ऐसा है जिनमें कि वे क्रममावी प्रकृत होते हैं । सम्ये अवेद्याम और वेदान्तदर्शनका क्रममावी और अलग-अलग मानना चाहिये ।

२—(क) आवरण व्यवस्था निमित्त और सामान्य-विरागणक विषय, सम्ये अवेद्याम हीनेन वेदान्तान और वेदान्तदर्शन युगपत् होते हैं । (ख) ध्यामरिवक-उपयोगमें वायकारणमाव या पर स्पष्ट प्रतिबन्ध प्रतिबन्धक-माव घट सकता है चाकि-उपयोगोंमें नहीं, क्योंकि बोध-स्वभाव स्पष्ट बतलाया जब निराकरण हो तब उभय दोनों वायिक-उपयोग निराकरण ही होने चाहिये । (ग) वेदान्तान-वेदान्तदर्शनकी यदि अवेद्यामिगत, जो शास्त्रमें बड़ी है, वह भी युगपत्-पक्षमें ही बर सकती है, क्योंकि सम पक्षमें दोनों उपयोग युगपत् और निरन्तर होने रहते हैं । सम्ये अवेद्याम वेदान्तदर्शनके सम्बन्धमें सिद्धान्तमें बड़ी-बड़ी जो कुछ कहा गया है वह सब दोनोंमें स्थिति भेदका सम्बन्ध है सम्ये अवेद्याम नहीं । सम्ये दोनों उपयोगोंके सहभावी मानना चाहिये ।

तामर पुरुषने कहा— यह भी ठीक नहीं छोटी-छोटी शाखाओंके काट लेना भी ता काम निकला जा सकता है ?

चौधने कहा— शाखाएँ भी क्यों काटना ? फलोंके गुच्छोंको तोड़ लीजिये ।

पाँचवाँ बोला— गुच्छामें क्या प्रयोजन ? उनमेंसे कुछ फलोंको ही लेलेना अच्छा है।

अन्तमें छठे पुरुषने कहा— वे सब विचार निरर्थक हैं, क्योंकि हम लोग जिन्दे चाहते हैं वे फल तो नीचे भी गिरे हुए हैं, क्या उन्हेंसे अपनी प्रयोजन-सिद्धि नहीं हो सकती है ?

दूसरा — कोई बड़ा पुरुष धन लूटने पर शरणाग्र हो रहा है। रान्नेमें किसी गाँवका पाकर रुकनेमें एक बोला — इन गाँवको नहस नहस कर दो—मनुष्य पशु पक्षी जो कोई मिले उन्हें मारो और धन लूट ला ।

यह सुनकर दूसरा बोला — पशु पक्षी आदिको क्यों मारना ? केवल विराध करनेवाले मनुष्योंहीना मारा ।

तीसरेने कहा — बेचारी छिपीकी हत्या क्यों करना ? पुरुषोंको मार दो ।

चौधने कहा — सब पुरुषोंको नहीं, जो सशस्त्र हों उन्हींको मारा ।

पाँचवेंने कहा — जा मगध पुरुष भा विरोध नहीं करते उन्हें क्यों मारना ?

अन्तमें छठे पुरुषने कहा — किसीको मारनेमें क्या लाभ ? निम प्रकारस धन अप हरण किया जा सक, उस प्रकारस धन उठा ला और किसीको मारो मत । एक ता धन लूटना और दूसरे उन्का मालिकोंको मारना यह ठीक नहीं ।

इन दो दृष्टान्तोंमें लेश्याश्रया स्वरूप स्पष्ट जाना जाता है । प्रत्येक दृष्टान्तके छह-छह पुरुषोंमें पूरा पूर्व पुरुषके परिणामोंकी अपेक्षा उत्तर उत्तर पुरुषके परिणाम शुभ सुमतर और सुमनस पाये जाते हैं—उत्तर-उत्तर पुरुषके परिणामोंमें महेराश्री दूनता और शृङ्गाकी अधिकता पाई जाती है । प्रथम पुरुषके परिणामकी कृपाकेत्या दूननेके परिणामको 'नीलनेरवा' इन प्रकार क्रमस एक पुरुषके परिणामका 'गुरुशशा समभना चाहिये ।—आवरयक शरित्नी कृत्तिष्ट०

३५० तथा लो० प्र म ३ प्रा ३६३-३६० ।

लेश्या द्रव्यके स्वरूपमन्त्रा उक्त तीनों मन्त्र अनुसार लेशवें गुणस्थान पयन्त भाव लेश्याका मन्त्राक समभना चाहिये । यह निदान्त गोमन्त्रार जीवकाएकी भी मान्य है क्योंकि उसमें गोव मन्त्रको लेश्या कहा है । क्या —

“अयदोत्ति छलेस्साओ, सुहृत्तियलेस्सा दु देसविरदनिये

तत्ता सुष्ठा लेस्सा, अजोगिठाण अलेस्स तु ॥५३१॥”

मन्त्राधिकारमें और गोमन्त्र मारक रयानान्तमें कथाको अनुश्रुति तयोग मन्त्राचिवाँ लेश्या कहा है । यद्यपि इन कथनमें लेशवें गुणस्थान पयन्त ही लेश्याका होना पाया जाता है पर यह

३—(क) जैसे सामग्री मिलनेपर एक ज्ञान पर्यायमें अनेक घट पटादि विषय भावित होने हैं वैसे ही आवरण चय विषय आदि सामग्रियों मिलनेपर एक ही कवल-उपयोग पर्यायोंके सामान्य विशेष उभय स्वरूपक ज्ञान मकता है। (ख) जैसे कवलज्ञानक समय, मतिज्ञानावरणादि अभाव होनेपर भी मति आदि ज्ञान कवलगत नभे अलग नहीं माने जाये वैसे ही कवलदराना-वरणका छय होनेपर भी कवलज्ञानको कवलज्ञानमें अलग मानना उचित नहीं। (ग) विषय और लक्ष्योपशमनी भिन्नताके कारण सामान्य ज्ञान और दर्शनमें परस्पर भेद माना जा सकता है पर अन्त विषयज्ञान और ज्ञान-भाव समान होनेमें कवलज्ञान-कवलदर्शनमें किसी तरह भेद नहीं माना जा सकता। (घ) यदि कवलदर्शनका कवलज्ञानसे अलग माना जाय तो वह सामान्यमात्रों विषय करनेवाला होनेमें अल्प विषयक सिद्ध होगा जिसमें उभयता स्वरूपक अन्त विषयज्ञान नहीं हो सकेगा। (ङ) कवलीका भाषण कवलज्ञान-कवलदर्शन पूर्वक होता है यह गाल-कवन अनेक पंक्तिमें पूर्णतया हो सकता है। (च) आवरण भेद कथञ्चु है अर्थात् वस्तु आवरण एवं होनेपर भी वार्थ और उपाधि-भेदकी अवेधाने उसके भेद समझने चाहिये इसलिये एक उपयोग-व्यक्तिमें ज्ञान-व्यंगनत्व का धर्म अलग अलग मानना चाहिये। उपयोग ज्ञान दर्शन दो अलग अलग मानना युक्त नहीं है पर ज्ञान-दर्शन दोनों जन्म पर्यायमात्र (एक शब्दानी) है।

उपाध्याय श्रीश्रीश्रीश्रीश्रीश्री अपने ज्ञानविन्दु पृ० ५५ में नय-दृष्टम तोनों पक्षोंका समन्वय किया है—मिद्धाण पण शुद्ध अनुभवदर्शी अपेक्षान् श्रीश्रीश्रीश्रीश्री पक्ष व्यवहार नयवी अपेक्षामे और शिमिद्धमेन विचारका पक्ष सम्यक्त्वकी अपेक्षास ज्ञानत्वा चाहिये। इस विषयका मन्त्रित्व बलन सम्यक्तिके अविच्छादन या ३ मे भाग विशेषावरणक भाष्य गा० ३ ८-३१३५ श्रीहरिमन्त्रिकृत धर्ममग्नहणा गा० १३३६-१३५६ भोमिद्धसेनगणितकृत तत्त्वाधरीका अ १ सू० ३१ पृ ५७ श्रीनलशारि-न-श्रीश्रीश्री पृ० १३४-१३८ और ज्ञानविन्दु पृ १५४-१६४ में ज्ञान सेना चाहिये।

विष्णु-मन्त्रादयै उक्त तीन पक्षमें दूसरा अर्थात् युगपत् उपयोग दर्शन पक्ष ही प्रसिद्ध है—

‘जुगव घट्टइ णाण केवलणणिरस दसण च तहा ।

दिणयरपयासताप, जह वट्टइ तह मुणेयव्व ॥१६०॥’

—नियमसार ।

‘मिद्धाण सिद्धगई, केवलणण च दसण न्ययिय ।

सम्मत्तमणाहार, उवजागाणकमपडत्ती ॥७३०॥’—जीवकण्ठ ।

‘दसणपुञ्ज णाण, छदमत्थाण ण दोण्णि उवत्तमा ।

जुगव जम्हा कवालि—गाहे जुगव तु ते दोवि ॥४४॥’

—द्वयमंश ।

कथन अपेक्षा-शून्य होनेके कारण पूर्व-कथनमें विरुद्ध नहीं है । पूर्व कथनमें केवल प्रकृति प्रदेशा-  
बन्धके निमित्तभूत परिणाम लेशवाक्यमें विवक्षित हैं । और हम कथनमें स्थिति अनुभाग आदि  
चारों बन्धोंके निमित्तभूत परिणाम लेशवाक्यमें विवक्षित हैं कबल प्रकृति प्रदेश-बन्धके निमित्त  
भूत परिणाम नहीं । यथा —

“भावलेख्या कषायोदयरश्चिता योग प्रवृत्तिरिति कृत्या औदयि-  
कीत्युच्यते ।”

—मवाथनिर्दिष्ट अध्याय २ सूत्र ८ ।

“जोगपउत्ती लेस्सा, कसायउदयाणुरजिया होइ ।

तत्तो दोण्ण कज्ज, वधचउक्क समुद्धिट्ठ ॥४८९॥”

—जीवकारण ।

द्रव्यनेरवाके वर्ण-नाथ अश्विका विचार तथा भावलेख्याके लक्षण आदिका विचार उत्तरा-  
ध्यायन अ० ३४ में है । इसकेलिये प्रज्ञापना-संग्रहण आवश्यक, लोकप्रकाश आदि आकर ग्रन्थ  
खेताम्बर-आदियमें है । उक्त दो दृष्टान्तोंमेंसे पहला दृष्टान्त, जीवकारण गा० ५०६ ५०७ में है ।  
लेख्यारी कर्तृ विरोध बतलानेकेलिये जीवकारणवा लेख्यामागणधिकार (गा० ४८८-५५५)  
देखने योग्य है ।

जीवोंके आन्तरिक भावोंकी मतिनता तथा पवित्रताके लक्षण-भावना मनुक लेख्याका  
विचार तैसा जैन-शास्त्रमें है, कुछ उमीके मंगल छह जातिधोंका विभाग मन्त्रीगोसावपुत्रके  
मतमें है जो कर्मकी शुद्धि अशुद्धिको लेकर कृष्ण-नील आदि छह वर्णोंके आधारपर विभा-  
गया है । इसका वर्णन दीपनिकाय-भासम्भफलमुक्त में है ।

‘महाभारत’ के १२ २८६ में भी छह ‘जीव वर्ण’ लिखे हैं जो उक्त विचारसे कुछ  
भिन्न-जुगले हैं ।

‘पातञ्जलयोगदर्शन’ के ४७ में भी ऐसी कल्पना है क्योंकि उमें कर्मके चार विभा-  
गके जीवोंके भावोंकी शुद्धि अशुद्धिका पृथक्पृथक् क्रिय है । इसकेलिये देखिये जीवनिश्चयका  
महाटी-भाषान्तर, पृ० ५२ ।

## परिशिष्ट "छ" ।

## पृष्ठ २२ के 'एकेन्द्रिय' शब्दपर—

एकेन्द्रियेति तीन उपयोग माने गये हैं। इसलिये यह शक्य होती है कि रसरान्द्रिय मति-  
ज्ञानावरणकमरा से उपराम होनेमें एकेन्द्रियोंमें मति उपयोग मानना ठीक है परन्तु भाषा-लक्षि  
(बोनेकी शक्ति) तथा श्रवणलक्षि (सुननेकी शक्ति) न होनेके कारण उनमें श्रुत-उपयोग कैसे  
माना जा सकता है, क्योंकि शास्त्रमें भाषा तथा श्रवणलक्षि-ध्वानोंको ही अतज्ञान माना है।  
यथा—

“भावसुय भासासो,—यलद्धिणो जुज्जए न इयरस्स ।

भासाभिमुहस्स जय, सोऊप य ज हविज्जाहि ॥१००॥”

—विशेषावरण ।

बोनेकी व सुननेकी शक्तिकानेहीसे भावश्रुत हो सकता है दूसरेको नहीं। क्योंकि श्रुत  
ज्ञान उन ज्ञानको कहने है जो बोनेकी शक्तिकाने या सुननेकी शक्तिको होता है।

इसका समाधान यह है कि रसरान्द्रियके मित्राय अथ द्रव्य (बाष्प) शिद्रियों व हानि  
पर भी वृत्ति जीवमें शक्ति भावे द्रव्य जन्य ज्ञान का ज्ञाना, जैसा शास्त्र-सम्मत है वैन ही बोने  
और सुननेकी शक्ति न होनेपर भी एकेन्द्रियोंमें भावश्रुत-ज्ञानका ज्ञाना शास्त्र-सम्मत है। यथा—

“जह सुहुम भाविंदिय,—नाण दळ्विदियावरणेह वि ।

तह दळ्वसुयाभाव, भावसुय पत्थिवाईण ॥१०३॥”

—विशेषावरण ।

त्रिम प्रकार द्रव्य-शुद्धियोंके अभावमें भावेन्द्रिय न य सुदृढ ज्ञान होता है इसी प्रकार  
द्रव्य-शुद्ध भाषा-शक्ति-निमित्तके अभावमें भी पृथ्वी-स्थित आदि-जीवोंको अथ भावश्रुत  
होता है। यही शक्ति-शक्ति-जैसा स्पष्ट ज्ञान होता है वसा एकेन्द्रियोंको नहीं होता। शास्त्र  
में एकेन्द्रियोंको आहारका अभाव माना है यही उनका अथ ज्ञान माना है हेतु है।

आहारका अभाव सुखवेदनायुक्तक उत्पन्न होना आहारका विशेष  
(अवसाय) है। यथा—

“आहारसज्ञा आहाराभिलाप क्षुब्धेदनीयोदयप्रभव सत्त्वात्मपरि-  
णाम इति ।”

—आवरण, हाथि-शुद्धि पृ० ५०० ।

## परिशिष्ट "ख" ।

## पृष्ठ १०, पक्ति १८के 'पञ्चेन्द्रिय' शब्दपर—

जीवके एकेन्द्रिय भाति पाँच भेद किये गये हैं ना द्रव्येन्द्रियक आधारपर, क्योंकि भावेन्द्रियाँ तो सभी सत्तापी जीवोंको पाँचों होती हैं। यथा—

“अहवा पञ्च लङ्घि,—दिय पि पंचेदिया सब्बे ॥२९९९॥”

—विशेषावरमक ।

अर्थात् लङ्घीन्द्रियको अपेक्षासे सभी समारी जीव पञ्चन्द्रिय हैं ।

‘पचदिउ ढव घण्डो, नरा ढव सढ्य विसओवलभाओ ।’ इत्यादि

—विशेषावरमक गा ३००१ ।

प्रयात् सब विषयका ज्ञान होनेकी योग्यताक कारण बहुजन्तु मनुष्यकी तरह पाँच इन्द्रियोंवाला है ।

यह ठीक है कि प्राण्डिय आदिकी भावेन्द्रिय एकन्द्रिय आदिकी भावेन्द्रियमे उत्तरोत्तर व्यक्त-व्यक्ततरही होती है । पर हममें कोर सन्देह नहीं कि जितनी द्रव्येन्द्रियाँ पाँच पूरी नहीं हैं उतनी भी भावेन्द्रियाँ ता सभी इशती ही हैं । यह बात आधुनिक विज्ञानसे भी प्रमाणित है । वा जगन्नीशचन्द्र बसुकी खोजने बनस्पतिमें स्मरणशक्तिका अस्तित्व सिद्ध किया है । स्मरण जो कि मानसशक्तिका काय है वह यदि एकेन्द्रियमें पाया जाता है तो फिर उसमें अन्य इन्द्रियाँ जो कि मनसे नीचेकी शक्तिकी मानी जाती हैं उनक होनेमें कोई बाधा नहीं । इन्द्रियके स्मरण म प्राचीन कालमें विराष नरा महात्माअनि बहुत विचार किया है नी अनेक जैन-ग्रंथोंमें उल्लेख है । उनका बुद्ध अरा इस प्रकार है—

इन्द्रियों दो प्रकारको हैं—(१) द्रव्यरूप और (२) भावरूप । द्रव्येन्द्रिय पुनः जन्म होनेमे नश्यत है, पर भावेन्द्रिय शान्तर है क्योंकि यह चेतना-शक्तिका पय है ।

(१) द्रव्येन्द्रिय अज्ञानरूप और निमाण-नामकके उदय जन्म है । इसके दो भेद हैं—  
(क) निवृत्ति और (ख) उपकरण ।

(क) इन्द्रियके आकारका नाम निवृत्ति है । निवृत्तिके भी (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर ये दो भेद हैं । (१) इन्द्रियका बाह्य आकारको बाह्यनिवृत्ति कहते हैं और (२) भीतरी आकारको आभ्यन्तरनिवृत्ति । बाह्य भाग तलवारके समान है और आभ्यन्तर भाग तलवारकी तलवारके समान जो अभ्यन्त स्वयं परमाणुओंका बना हुआ होता है । आभ्यन्तरनिवृत्तिकी

इस अभिलाषरूप अध्यवसायमें मुझे अमूल्य वस्तु मिल तो अच्छा इस प्रकारका राग और अर्थात् विकल्प होता है। जो अध्यवसाय विकल्पमहीन होता है वही क्षुत्तान कहलाता है। यथा —

“इन्द्रियमणोनिमित्त, ज विष्णाण सुयाणुसारेण ।

निययत्युत्तिसमत्थ, त भावसुय मई सेस ॥१००॥”

—विरोधावश्यक ।

अर्थात् इन्द्रिय और मनः निमित्तम उत्पन्न होनेवाला ज्ञान जो नियत अर्थात् कथन करनेमें समर्थ और श्रुतानुसारी (गुरु तथा अधक विकल्पमें युक्त) है उसे भावश्रुत तथा उसमें मिला ज्ञानको मतिज्ञान समझना चाहिये। अब यदि पृथ्वीमें श्रुत-उपयोग न माना जाय तो उनमें आशरका अभिलाष जो शास्त्र सम्मन है वह कैसे बट सवेगा ? इसलिये बालों और गुननेकी शक्ति न होकर भी उनमें अत्यन्त सूक्ष्म श्रुत उपयोग अवश्य ही मानना चाहिये ।

भाषा तथा अक्षरबन्धित्वानेना ही भावश्रुत जाना है दूसरेको नहीं इस शास्त्र-कथनका तात्पर्य इतना ही है कि उक्त प्रकारकी शक्तिमानकी स्पष्ट भावश्रुत होता है और दूसरोंका अज्ञान ।

## (२) मार्गणास्थान-अधिकार ।

### मार्गणाके मूल भेद ।

गइहंदि ए य काये, जो ए वे ए कसायणाणेषु ।

सजमदसणलेसा, - भवसम्मं सनिआहारे ॥ ६ ॥

गतीन्द्रिये च काये, यागे वेदे कपायज्ञानयो ।

भयमदशनलेस्यामव्यसम्यक्त्वे सइवाहारे ॥ ९ ॥

अर्थ—मार्गणास्थानके गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कपाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, सधित्व और आहारकत्व, ये चौदह भेद हैं ॥ ६ ॥

### मार्गणाओंकी व्याख्या ।

भाषार्थ—( १ ) गति—जो पर्याय, गतिनामकर्मके उदयसे होते हैं और जिनसे जीवपर मनुष्य, तिर्यञ्च, देव या नारकका व्यवहार होता है, वे गति हैं ।

१—यह गाथा पञ्चमग्रहकी है ( गार १ गा० २१ ) । गोमन्गमार त्रयकाण्डमें दह इम प्रकार है—

“गइहदियेसु काये, जोगे वेदे कसायणाणे य ।

सजमदसणलेस्माभविआसम्मत्तमाणिआहारे ॥ १४१ ॥”

२—गोमन्गमार त्रयकाण्डके मार्गणाधिकारमें मार्गणाओंके ये लक्षण हैं व मत्वपर्वे इम प्रकार है—

(१) गतिनामकर्मके उच्च जन्म कपाय या चार गति पानेके कारणभूत जा पदार्थ वं गति कहलते हैं । —गा० १४५ ।

(२) अइमिद्र त्वम ममान आरममें ग्वत्तत्र होनेम नेत्र आणिकी इन्द्रिय कहते हैं ।

—गा० १६३ ।



हैं, जिसको इत्वरसामायिकसयमवाले षडी दीक्षाके रूपमें ग्रहण करते हैं। यह सयम, भरत ऐरवत क्षेत्रमें प्रथम तथा चरम तीर्थद्वारके साधुओंको होता है और एक तीर्थके साधु, दूसरे तीर्थमें जयदाखिल होते हैं, जैसे—श्रीपार्श्वनाथके 'केशीगाह्ये' आदि सान्त्वानिक साधु, भगवान् महावीरके तीर्थमें दाखिल हुये थे, तब उन्हें भी पुनर्दीक्षारूपमें यही सयम होता है।

( ३ ) 'परिहारविशुद्धसयम' वह है जिसमें 'परिहारविशुद्धि' नामकी तपस्या ली जाती है। परिहारविशुद्धि तपस्याका विधान सक्षेपमें इस प्रकार है—

१—इस बातका वर्णन मगवतीमंत्रमें है।

२—इस संयमका अधिकार पानेकेलिये गृहस्थ-प्राय (उभ) का जन्म-प्रमाण २५ साल साधु-पर्याय (श्रीघाकान) का जन्म-प्रमाण २० साल और दोनों पर्यायका उत्कृष्ट प्रमाण कुत्र कम कराइ पूर्व वप माना है। यथा —

“एयस्स एस नेओ, गिहिपरिखाओ जहन्नि गुणतीसा ।

जइपरियाओ घीसा, दोसु वि उक्कोस देसूणा ॥”

इस सयमके अधिकारीका माद्रे नव पूर्वका ज्ञान होता है यह श्रीजयमोममूर्तिने अपने स्वमें लिखा है। इसका ग्रहण तीर्थद्वारके या तीर्थद्वारके अन्तर्वासीके पाम माना गया है। इस सयमको धारण करनेवाले मुनि, दिनके तीर्थमें प्रहरमें भिक्षा व विहार कर सकते हैं और अन्य सयममें ध्यान कार्योत्सर्ग आदि। परन्तु इस विषयमें दिगम्बर शास्त्रका धोड़ासा मत-भेद है। जन्ममें तीस वर्षकी उम्रवालेको इस सयमका अधिकारी माना है। अधिकारीनलिये नौ पूर्वका ज्ञान आवश्यक बननाया है। तीर्थद्वारके मिवाय और किभीके पाम उस सयमके ग्रहण करनेकी उममें मनाही है। साथ ही तीन सव्याओंको छोड़कर दिनके किसी भागमें दो कोस तक जानेकी उममें सम्मति है। यथा —

“तीस वासो जम्मे, वासपुधत्त खु तित्थयरमूले ।

पञ्चकखाण पट्टिदो, सङ्गण दुगाढयाविहारो ॥४७२॥”

## ( २ ) इन्द्रिय—स्वप्ना, नेत्र आदि जिन साधनोंसे सर्दी गर्मी,

(१) पातिनामकमय (नवय गृहचारी जम वा स्थावर-नामकमके उच्यते होनेवाले पर्याय काय है । —गा० १८० ।

(४) पुनल शिपाकी शरीरनामकमके उच्यते मन वचन आर वायु युक्त जीवकी कर्म ग्रहणमें कारणभूत ओ शक्ति वह यो है । —गा० २१५ ।

(४) वैश्वोदनीयके उदय-उदीरणास होनेवाला परिणामका समोह (चापव्य) जिसमें गुण-शेषका विवेक नहीं रहता वह वै है । —गा० २७१ ।

(६) 'वषाय' जीवर उस परिणामको कहते हैं जिसमें सुख-दुःखरूप अनेक प्रकारके घामर। पैंग करनेवाले और ससाररूप विगृह्य भीमावाले कमरूप चयना वपण किया जाता है । —गा० २८१ ।

मन्वक्त्वा देगचारित्र सबचारित्र आर य शब्दाचारित्रका घान (प्रतिबन्ध) करनेवाला परिणाम कषाय है । —गा० २८२ ।

(७) निमज्जद्वारा तीन तीर काल-मन्त्र वा प्रमद प्रकारक द्रव्य गुण और पर्यायको ज्ञान सकता है वह ज्ञान है । —गा० २९८ ।

(८) अहिमा आदि जनोंके धारण ईशा आदि सुभितियोंके पालन कषायोंके निग्रह मन आदि उच्यते त्वाग और इन्द्रियोंकी जड़को मयम कहा है । —गा ४६३ ।

(९) पदावीक आकारकी विशेषणमें न जानना मामा-धरपमें जानना वह दर्शन है । —गा ४८१ ।

(१०) जिस परिणामद्वारा जीव पुण्य पाप कर्मको अपने स्थ मिला लेता है वह तेरथा है । —गा० ४८८ ।

(११) जिन जीवोंकी मिद्धि कभी होनेवाली हो—जो सिद्धिके योग्य हैं वे मज्ज और हमक विपरीत जो कभी मरणमें मुक्त न होंगे वे अभव्य हैं । —गा ५५६ ।

(१२) नीनतामके कहे हुये पाँच अग्निकाय धृष्ट द्रव्य वा नव प्रकारके पशुओंपर आशा भूक वा अग्निमयूक (प्रमाथ-नय-निचेप-पारा) उदा धरन मन्वक्त्वा है । —गा० ५६० ।

(१३) जो-इन्द्रिय (मन) के आवरणवा लोपोपराम या उससे होनेवाला ज्ञान जिसे महा कहते हैं उसे धारण करनेवाला जीव मनी और हमक विपरीत जिसका मनवे सिवाय अन्य मन्वक्त्वा मान होता है वह असदी है । —गा० ६१६ ।

(१४) शैश्वरिक वैक्रिय और आचारक मन तीनमेंसे किसी भी शरीरके योग्य वर्ग मन्वक्त्वा ग्रहण करनेवाला जीव आहारन है । —गा० ६६४ ।

(७) किसी प्रकारके सयमका स्वीकार न करना 'अविरति' है। यह पहलेसे चौथे तक चार गुणस्थानोंमें पायी जाती है।

(९) - दर्शनमार्गशास्त्रके चार भेदोंका स्वरूप:—

(१) चक्षु ( नेत्र ) इन्द्रियकेद्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'चक्षुदर्शन' है।

(२) चक्षुको छोड़ अन्य इन्द्रियकेद्वारा तथा मनकेद्वारा जो सामान्य बोध होता है, वह 'अचक्षुदर्शन' है।

परिमाण बहुत कम कहा गया है। यदि मुनियोंकी दयाकी भीस अरा मान लें तो आवकीकी दयाकी सवा अरा कहना चाहिये। इसा बादमें तैनशास्त्रोय परिभाषामें कहा है कि साधुओंकी नवा भीम विरता और आवकीकी दया सवा विरता है। इसका कारण यह है कि आवक प्रम गीतोंकी हिंसाकी छोड़ सकते हैं बाद गीतोंकी हिंसाको नहीं। इसमें मुनियोंकी भीम विरता दयाकी अपेक्षा आधा परिमाण रह जाता है। इसमें भी आवक प्रसकी सकल्पपूर्वक हिंसाका स्मरण कर सकते हैं आरम्भ अन्य हिंसाका नहीं। अत एव उस आधे परिमाणमेंसे भी आधा हिंस्र निकल जानेपर पाँच बिन्दा दया बचती है। इरात-पूर्वक हिंसा भी उर्ही प्रमोंकी नवा की जा सकती है जो निरपराध है। सापराध प्रसोंकी हिंसामें आवक मुक्त नहीं हो सकते, इससे उन्हें विरता दया रहती है। इसमेंसे भी आधा अरा निकल जाता है, क्योंकि निरपराध प्रमोंकी भी आधेविहिंसा आवकोंद्वारा ही ही जाती है वे उनकी निरपेक्षहिंसा नहीं करते। इसीसे प्रमोंकी दयाका परिमाण सवा विरता माना है। इस भावका जाननेकेलिये एक प्राचीन गाथा इस प्रकार है—

“जीवा सुहुमा थूला, सकप्पा आरभा भवे दुविहा ।

साधराह निरवराहा, सविकखा चेव निरविकखा ॥”

इसके शिरोध सुनायेकलिये देविये जैनतत्त्वशास्त्रका परिच्छेद २८वाँ ।

२—अपि सब जगद् दर्शनं चार भेद हा प्रसिद्ध है और इसीमें मन पर्यायशास्त्र नहीं माना जाता है। तथापि कहीं-कहीं मन पर्यायशास्त्रकी भी स्वीकार किया है। इसका उल्लेख पराध प्र० १ मू० २४ की टीकामें है—

“केचित्तु मन्यन्ते प्रज्ञापनाया मन पर्यायज्ञान दर्शनता पठयन्ते—”

काले पीले आदि विषयोंका ज्ञान होता है और जो अज्ञोपाङ्ग तथा निर्माणनामकर्मके उदयसे प्राप्त होते हैं, वे 'इन्द्रिय' हैं ।

( ३ ) काय—जिसकी रचना और वृद्धि यथायोग्य औदारिक, वैक्रिय आदि पुद्गल स्कन्धोंसे होती है और जो शरीरनामकर्मके उदयसे घनता है, उसे 'काय' ( शरीर ) कहते हैं ।

( ४ ) योग—वीर्य शक्तिके जिस परिस्पन्दने—आत्मिक प्रदेशोंकी हल चलसे—गमन, भोजन आदि क्रियायें होती हैं और जो परिस्पन्द, शरीर, भाषा तथा मनोवर्गणाके पुद्गलोंकी सहायतासे होता है, वह 'योग' है ।

( ५ ) वेद—सभोग-जन्य सुखके अनुभवकी इच्छा, जो वेद-मोहनीयकर्मके उदयसे होती है, वह 'वेद' है ।

( ६ ) कपाय—किसीपर आसक्त होना या किसीसे नाराज हो जाना, इत्यादि मानसिक विकार, जो ससार वृद्धिके कारण हैं और जो कपायमोहनीयकर्मके उदय-जन्य हैं, उनको 'कपाय' कहते हैं ।

( ७ ) ज्ञान—किसी वस्तुको विशेषरूपसे जाननेवाला चेतना शक्तिना व्यापार ( उपयोग ), ज्ञान' कहलाता है ।

( ८ ) सयम—कर्मवन्ध-जनक प्रवृत्तिसे अलग हो जाना, 'सयम' कहलाता है ।

( ९ ) दर्शन—विषयको सामान्यरूपसे जाननेवाला चेतना शक्तिका उपयोग 'दर्शन' है ।

( १० ) लेश्या—आत्माके साथ कर्मका मेल करनेवाले परिणाम-विशेष 'लेश्या' हैं ।

( ११ ) मयत्व—मोक्ष पानेकी योग्यताको 'भव्यत्व' कहते हैं ।

( १२ ) सम्यन्त्य—आत्माके उस परिणामको सम्यक्त्व कहते हैं, जो मोक्षका अविरोधी है—जिसके व्यक्त होते ही आत्माकी प्रवृत्ति,

( ३ ) अवधिलब्धिघालोंको इन्द्रियोंकी सहायताके विना ही रूपी द्रव्य विषयक जो सामान्य बोध होता है, वह 'अवधिदर्शन' है ।

( ४ ) सम्पूर्ण द्रव्य-पर्यायोंको सामान्यरूपसे विषय करनेवाला बोध 'केवलदर्शन' है ।

दर्शनको अनाकार-उपयोग इसलिये कहते हैं कि इसकेद्वारा वस्तुके सामान्य विशेष, उभय रूपोंमेंसे सामान्य रूप ( सामान्य आकार) मुख्यतया जाना जाता है । अनाकार-उपयोगको न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनोंमें 'निर्गुणव्यवसायात्मकज्ञान' कहते हैं ॥१२॥

( १० )—लेश्याके भेदोंका स्वरूपः—

किण्वा नीला काज, तेज पम्हा य सुक्क भव्वियरा ।

वेयगखइगुवसममि,—च्छमीससासाण सनियरे ॥१३॥

कृणा नीला कापोता, तेज पद्म च शुक्का मव्वतरौ ।

वदकञ्जायिकोपगमामिध्यामिधसासादनान सञ्जीतरौ ॥ १३ ॥

अर्थ—कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म और शुक्ल, ये छह लेश्यायें हैं । अव्यत्य, अव्यत्य, ये दो भेद भयमार्गणाके हैं । वेदक ( ज्ञायो-पशमिष ), ज्ञायिक, औपशमिक, मिथ्यात्व, मिथ्र और सासादन, ये छह भेद सम्यक्त्वमार्गणाके हैं । सक्षित्व, असक्षित्व, ये दो भेद सक्षिमार्गणाके हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—( १ ) काजलके समान कृष्ण वर्णके लेश्या-जातीय पुद्गलोंके सम्बन्धसे आत्मामें ऐसा परिणाम होता है, जिससे हिंसा आदि पाँच आन्त्रवोंमें प्रवृत्ति होती है, मन, वचन तथा शरीरका समय नहीं रहता, स्वभाव लुप्त बन जाता है, गुण-दोषकी परीक्षा किये विना ही कार्य करनेकी आदतसी हो जाती है और क्रूरता आ जाती है, यह परिणाम 'कृष्णलेश्या' है ।

मुख्यतया अन्तर्मुख ( भीतरकी ओर ) हो जाती है । तर्क-रुचि, इसी परिणामका फल है' । प्रशम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिकता, ये पाँच लक्षण प्रायः सम्यक्त्वमें पाये जाते हैं ।

( ३ ) सशिव—दीर्घकालिकी सज्ञाकी प्राप्ति को 'सशिव' कहते हैं ।

( १४ ) आहारकत्व—किसी-न किसी प्रकारके आहारको ग्रहण करना, 'आहारकत्व' है ।

मूल प्रत्येक मार्गमें सम्पूर्ण ससारी जीवोंका समावेश होता है ॥ ६ ॥

१—यही बात मट्टारक श्रीमकलजुदेवने कही है —

“तस्मात् सम्यग्दर्शनमात्मपरिणाम श्रेयोभिमुखमध्यवस्थाम”

—तत्त्वा० प्र १ सू० २ श्ल० १६ ।

२—आहार तीन प्रकारका है —(१) भोज आहार (२) सोम आहार और (३) ज्वन आहार । इनका लक्षण इस प्रकार है —

“सरीरेणोयाहारो, तथाह फासेण श्लेम आहारो ।

पक्ववाहारा पुण, कवलियो होइ नायव्वो ॥”

राममें ज्वन होनेके समय जो शुक्-शोणितरूप आहार कर्मवरात्परिच्छेदात् लिया जाता है वह भोज वायुका त्वन्द्रियद्वारा जो ग्रहण किया जाता है वह सोम और जो अन्न आदि ज्वन मुखारा ग्रहण किया जाता है वह कवल आहार है ।

आहारका स्वरूप गाम्भटसार जीवकाण्डमें इस प्रकार है —

‘उदयावण्णसरीरो,—दयेण तद्देहवयणाचित्ताण ।

णोरुम्मवग्गणाण, गहण आहारय नाम ॥६६३॥”

शरीरनामकर्मक उदयमे देह वचन और द्रव्यमनके बनने योग्य नोकर्म-वग्गणाणोण जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं ।

कृपादित्यमें आहारके छह भेद किये हुये मिलते हैं । यथा —

( २ ) अशोक वृक्षके समान पीले रंगके लेश्या-पुद्गलोंसे ऐसा परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है कि जिससे ईर्ष्या, अनहिष्णुता तथा माया कपट होने लगते हैं निबद्धता आ जाती है, विषयोंकी झालसा प्रदीप्त हो उठती है रस लापुपता होती है और सदा पौष्टिलिङ्ग सुपका घाज की जाती है, वह परिणाम 'नीललेश्या' है ।

( ३ ) कवूतरके गलेके समान रक्त तथा कृष्ण वर्णके पुद्गलोंसे इस प्रकारका परिणाम आत्मामें उत्पन्न होता है, जिससे घोलने, काम करने और विचारनेमें सब कहां कष्टता ही चक्रता होती है, किसी विषयमें सरलता नष्ट होनी नास्तिकता आती है और दूसरोंको कष्ट हो, ऐसा भाषण करनेकी प्रवृत्ति होती है, वह परिणाम 'कापोतलेश्या' है ।

( ४ ) तोतेकी आंखके समान रक्त वर्णके लेश्या पुद्गलोंसे एक प्रकारका आत्मामें परिणाम होता है, जिसमें कि नम्रता आ जाती है शक्तता दूर हो जाती है, चपलता गक जाती है धममें रुचि तथा दृढता होती है और सब रागोंका हित करनेकी इच्छा होती है, वह परिणाम तजोलेश्या है ।

( ५ ) हृत्दीके समान पीले रंगके लेश्या-पुद्गलोंसे एक तरहका परिणाम आत्मामें होता है, जिसमें क्रोध, मान आदि कषाय बहुत अश्योंमें मन्द हो जाते हैं, चित्त प्रशान्त हो जाता है आत्म समय किया जा सकता है मित भाषित और जितेन्द्रियता आ जाती है, वह परिणाम 'पद्मलेश्या' है ।

( ६ ) 'शुक्ललेश्या', उस परिणामको समझना चाहिये, जिससे कि आर्त्त-रोद्ध घ्याय यद् होकर धम तथा शुक्ल ध्यान करने यचन और शरीरको नियमित रखावट नहीं उपशान्ति होती है और

## मार्गणास्थानके अवान्तर (विशेष) भेद ।

[ चार गायत्रियों ]

सुरनरतिरिनिरयगई, इगवियतियचउपणिदि छकाया ।  
भूजलजलणानिलवण, तसा य मणवयणतणुजोगा ॥१०॥

सुरनरतिर्यइनिरयगतिरेकादकत्रिकचतुष्पञ्चेन्द्रियाणि षट्काया ।

भूजलज्वलनानिलवनत्रसाश्च मनोवचनन्युयागा ॥ १० ॥

अर्थ—देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक, ये चार गतियाँ हैं ।  
एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय, ये पाँच  
इन्द्रिय हैं । पृथ्वीकाय, जलकाय, धायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय  
और व्रसकाय, ये छह काय हैं । मनोयोग, वचनयोग और काययोग,  
ये तीन योग हैं ॥ १० ॥

( १ )—गतिमार्गणाके भेदोंका स्वरूप —

भावार्थ—( १ ) देवगतिनामकर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय  
(शरीरका विशिष्ट आकार), जिससे 'यह देव' है, ऐसा व्यवहार किया  
जाता है, वह 'देवगति' । ( २ ) 'यह मनुष्य है,' ऐसा व्यवहार कराने  
वाला जो मनुष्यगतिनामकर्मके उदय-जन्य पर्याय, वह 'मनुष्यगति' ।  
( ३ ) जिस पर्यायसे जीव 'तिर्यञ्च' कहलाता है और जो तिर्यञ्चगतिनाम  
कर्मके उदयसे होता है, वह 'तिर्यञ्चगति' । ( ४ ) जिस पर्यायको  
पाकर जीव, 'नरक' कहा जाता है और जिसका कारण नरकगति  
नामकर्मका उदय है, वह 'नरकगति' है ।

'णोकम्मकम्महारो, कजलाहारो य छेप्पमाहारो ।

ओजमणो वि य कमसो, आहारो छव्विहो णेयो ॥”

—प्रमेयकमलमात शब्दके द्वितीय परिच्छेदमें प्रमाणरूपसे उद्धृत ।



कृतता हो जाती है । ऐसा परिणाम शब्दके समान श्वेत वर्णके लेश्या  
जातीय पुद्गलोंके सम्बन्धसे होता है ।

(११)—भव्यत्वमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) 'भव्य' वे हैं, जो अनादि तादृश पारिणामिक भावके  
कारण मोक्षको पाते हैं या पानेकी योग्यता रखते हैं ।

(२) जो अनादि तथाविध परिणामके कारण किसी समय  
मोक्ष पानेकी योग्यता ही नहीं रखते, वे 'अभव्य' हैं ।

(१२)—सम्यक्त्यमार्गणाके भेदोंका स्वरूप —

(१) चार अनन्तानुबन्धीकपाय और दर्शनमोहनीयके उपशमसे  
प्रकट होनेवाला तत्त्व रुचिरूप आत्म परिणाम, 'औपशमिकसम्यक्त्य'  
है । इसके ( क ) 'ग्रन्थि भेद-जन्य' और (ख) 'उपशमश्रेणि भावी', ये  
दो भेद हैं ।

( क ) 'ग्रन्थि भेद जन्य औपशमिकसम्यक्त्य', अनादि मिथ्यात्वी  
भव्योंको होता है । इसके प्राप्त होनेकी प्रक्रियाका विचार दूसरे

१—अनेक भव्य ऐसे हैं कि जो मोक्षकी योग्यता रखने हुए भी उसे नहीं पाने, क्योंकि  
उन्हें वैसी अनुकूल सामग्री ही नहीं मिलती जिससे वि मोक्ष प्राप्त हो । इसलिये उन्हें 'जाति  
भव्य' कहते हैं । ऐसी भी मिट्टी है कि जिसमें सुवर्णक अश तो है, पर अनुकूल साधनके  
अभावसे वे न तो अन्न तक प्रकट हुए और न आगे ही प्रकट होनेकी सम्भावना है, तो भी यह  
मिट्टीकी योग्यताकी अपेक्षामें जिम् प्रकार 'सुवर्ण मृत्तिका (सोनेकी मिट्टी) कह सकते हैं, वैसे ही  
मोक्षकी योग्यता होने हुए भी उसके विशिष्ट साधन न मिलनेमें मोक्षको कभी न पा सकनेवाले  
औरोंकी 'जातिभव्य' कहना विरुद्ध नहीं । इसका विचार प्रस्थापनाके १८वें पदकी टीकामें  
उपाध्याय-समवसु-दरगण-हून विरोधराटकमें तथा भगवतीके १२वें शतकके २रे 'जयन्ती नामक  
अधिकारमें है ।

२—शेषवे, परिशिष्ट 'क ।

## (२)—इन्द्रियमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

(१) जिस जातिमें सिर्फ दृचा इन्द्रिय पायी जाती है और जो जाति, एकेन्द्रियजातिनामकमक उदयसे प्राप्त होती है, वह 'एकेन्द्रियजाति' । (२) जिस जातिमें दो इन्द्रियाँ (त्वचा, जीम) हैं और जो द्वीन्द्रियजातिनामकमके उदय जन्य है, वह 'द्वीन्द्रियजाति' । (३) जिस जातिमें इन्द्रियाँ तीन (उक्त दो तथा नाक) होती हैं और त्रीन्द्रियजातिनामकमके उदय जिसका कारण है, वह 'त्रीन्द्रियजाति' । (४) चतुरिन्द्रियजातिमें इन्द्रियाँ चार (उक्त तीन तथा नेत्र) होती हैं और जिसकी प्राप्ति चतुरिन्द्रियजातिनामकमके उदयसे होती है । (५) पञ्चेन्द्रियजातिमें उक्त चार और कान, ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं और उसके होनेमें निमित्त पञ्चेन्द्रियजातिनामकमके उदय है ।

## (३)—कायमार्गणाके भेदोंका स्वरूप.—

(१) पार्थिव शरीर, जो पृथ्वीका घनता है, वह 'पृथ्वीकाय' । (२) जलीय शरीर, जो जलसे घनता है, वह 'जलकाय' । (३) तेजसशरीर, जो तेजका घनता है, वह 'तेज काय' । (४) वायवीय शरीर, जो वायु-जन्य है, वह 'वायुकाय' । (५) वनस्पति शरीर, जो वनस्पतिमय है, वह 'वनस्पतिकाय' है । ये पाँच काय, स्थावरनामकमके उदयसे होते हैं और इनके स्वामी पृथ्वीकायिक आदि एकेन्द्रिय जीव हैं । (६) जो शरीर चल फिर सकता है और जो गतनामकमके उदयसे प्राप्त होता है, वह 'असकाय' है । इसके धारण करनेवाले द्वीन्द्रियसे पञ्चेन्द्रिय तक सब प्रकारके जीव हैं ।

## (४)—योगमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:—

(१)

व्यापार 'मनोयोग' है

धैर्य

कर्मग्रन्थकी श्रेय गत्याके मारार्थमें लिखा गया है । इनको 'प्रथमोपशमसम्यक्त्व' भी कहा है ।

( ४ ) 'उपशमश्रेयि भावी औपशमिकसम्यक्त्व'की प्राप्ति चौथे, गँधये, उठे या सातवेंमेंसे किसी भी गुणस्थानमें हो सकती है, परन्तु आठवें गुणस्थानमें तो उसकी प्राप्ति अशक्य ही होती है ।

औपशमिकसम्यक्त्वके समय आयुग्रन्थ, मरण, अनन्तानुबन्धी कपायका ग्रन्थ तथा अनन्तानुबन्धीकपायका उदय, ये चार बातें नहीं होती । पर उससे च्युत होनेके बाद सास्वादन भावके समय एक चारों बातें हो सकती हैं ।

( २ ) अनन्तानुबन्धीय और दर्शनमोहनोयके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाला तत्र रुचिरूप परिणाम, 'क्षायोपशमिकसम्यक्त्व' है ।

( ३ ) जो तत्र रुचिरूप परिणाम, अनन्तानुबन्धी-चतुष्क और दर्शनमोहनोय त्रिकके क्षयसे प्रकट होता है, वह 'क्षायिकसम्यक्त्व' है ।

यह क्षायिकसम्यक्त्व, जिन कालिक मनुष्योंको होता है । जो जीव, आयुग्रन्थ करनेके बाद इसे प्राप्त करते हैं, वे तीसरे या चौथे भवमें मातृ पाते हैं परन्तु अगले भवकी आयु बाँधनेके पहिले जिनको यह सम्यक्त्व प्राप्त हाता है, वे वर्तमान भवमें ही मुक्त होते हैं ।

१—यह मत श्वेताम्बर दिगम्बर दोनोंके एकान्त १८ है ।

“इसणखवणस्सरिहो, जिणकालीयो पुमट्टवासुवरिं” इत्यादि ।

—पञ्चमग्रह पृ० ११११ ।

“इसणमोहकखवणा, -पट्टवगो कम्मभूमिजो मणुसो ।

तिथपरपायमूले, केवलिमुदकेवलीमूले ॥११०॥”

या आहारक शरीरके द्वारा ग्रहण किये हुये मनोद्रव्य-समूहकी मददसे होता है । (२) जीनके उस व्यापारको 'वचनयोग' कहते हैं, जो श्रौदारिक, वैक्रिय या आहारक शरीरकी क्रियाद्वारा सचय किये हुये भाषाद्रव्यकी सहायतासे होता है । (३) शरीरधारी आत्माकी धीर्य शक्तिका व्यापार विशेष 'काययोग' कहलाता है ॥१०॥

(५)—वेदमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

वेद्य नरिस्त्रिनपुमा, क्माय कोहमयमायलोभ ति ।

महसुयवहि मणकेवल, -विहगमडसुअनाण सागारा ॥११॥

वेद्य नरस्त्रिनपुमक, कपाया क्रोधमदभायालोभा इति ।

मातधुतावाघमन केयलावमङ्गमातधुताजानानि साकाराणि ॥११॥

अर्थ—पुरुष, स्त्री और नपुंसक, ये तीन वेद हैं । क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चार भेद रूपायके हैं । मति, धृत, अयधि, मन पर्याय और केयलाव तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभङ्गज्ञान ये आठ साकार ( विशेष ) उपयोग हैं ॥११॥

भाषार्थ—( १ ) स्त्रीके ससर्गकी इच्छा 'पुरुषवेद', (२) पुरुषके ससर्ग करनेकी इच्छा 'स्त्रीवेद' और ( ३ ) स्त्री-पुरुष दोनोंके ससर्गकी इच्छा 'नपुंसकवेद' है ।

१—यह लक्षण भावबद्ध है । द्रव्यवेदका नियम बाहरी चिह्नोमे किया जाता है — पुरुषके चिह्न, वही मद्र अदि है । स्त्रीके चिह्न दाही-भूँदका अभाव तथा स्तन आदि है । नपुंसकने स्त्री-पुरुष दोनोंके कुछ कुछ चिह्न होते हैं ।

५३) वाग प्रहायना मयापको टीकामें कही हुई है —

“योनिर्मृदुत्वमस्थैर्य, सुगंधता स्त्रीयता स्तनौ ।

पुंस्काभिवेति लिङ्गानि, सप्त स्त्रीत्ये प्रचक्षते ॥१॥

मेहन सरता दाह्य, शौण्डीर्यं श्मश्रु घृष्टता ।

स्त्रीकाभिवेति लिङ्गानि, सप्त पुंस्त्वे प्रचक्षते ॥२॥

(४) औपशमिकसम्यक्त्वका त्याग कर मिथ्यात्वके अभिमुख होनेके समय, जीवका जो परिणाम होता है, उसीको 'सासादन सम्यक्त्व' कहते हैं। इसकी स्थिति, जघन्य एक समयकी और उत्कृष्ट बृह आलिकाओंकी होनी है। इसके समय, अनन्तानुबन्धी कपायोंका उदय रहनेके कारण जीवके परिणाम निर्मल नहीं होते। सासादनमें अतत्त्व रुचि, अव्यक्त होती है और मिथ्यात्वमें व्यक्त, यही दोनोंमें अन्तर है।

(५) तत्त्व और अतत्त्व, इन दोनोंकी रुचिरूप मिथ्र परिणाम, जो सम्यङ्मिथ्यामोहनीयकर्मके उदयसे होता है, वह 'मिथ्रसम्यक्त्व (सम्यङ्मिथ्यात्व)' है।

(६) 'मिथ्यात्व' वह परिणाम है, जो मिथ्यामोहनीयकर्मके उदयसे होता है, जिसके होनेसे जीव, जड चेतनका भेद नहीं जान पाता, इसीसे आत्मोन्मुख प्रवृत्तिवाला भी नहीं हो सकता है। हठ, कदाग्रह आदि दोष इसीके फल हैं।

### (१३)-सङ्गीमार्गणाके भेदोंका स्वरूप:--

(१) विशिष्ट मन शक्ति अर्थात् दीघकालिकीसञ्ज्ञाका होना 'सङ्घित्व' है।

(२) उक्त सञ्ज्ञाका न होना 'असङ्घित्व' है ॥१३॥

— १—यद्यपि प्राणीमात्रकी किसी न किन्ही प्रकारकी मञ्जा होती ही है, क्योंकि उसने बिना जीवत्व ही भ्रमम्भव है तथापि शास्त्रमें जो मञ्जी-असञ्ज्ञाका भेद किया गया है सो दीघ-कालिकीमञ्जाके आधारपर। इसकेलिये देखिये, परिशिष्ट ग।

स्तनादिश्मश्रुकेशादि, भावाभावममन्यितम् ।

नपुसक बुधा प्राहुः-भोहानलसुदीपितम् ॥३॥”

बाह्य चिह्नके सम्बन्धमें यह कथन बहुतगत्ती कपेकासे है, क्योंकि कभी-कभी पुरुषके चिह्न स्त्रीमें और स्त्रीके चिह्न पुरुषमें दले जाते हैं । इस बातकी सत्यताकेलिये नीचे लिखे उदाहरण देखने योग्य है —

“मेरे परम मित्र डाक्टर शिवप्रसाद, जिस समय कोटा हास्पिटल में थे ( अब आपन स्वतन्त्र मेडिकल हाल रोलनके इरादेसे नौकरी छोड़ दी है , अपनी आँसों देखा हाल इस प्रकार बयान करते हैं कि ‘डाक्टर मेकवाट साहब के जमाने में ( कि जो उस समय कोटा में चीफ मेडिकल आफिसर थे ) एक व्यक्ति पर मूलावस्था ( अन्डर ड्योरोग्राम ) में शस्त्रचिकित्सा ( औपरेशन ) करनी थी, अतएव उस मूर्च्छित किया गया, देखते क्या हैं कि उसके शरीरमें स्त्री और पुरुष दोनोंके चिह्न विद्यमान हैं । ये दोनों अब यव पूर्ण रूपसे विकास पाए हुए थे । शस्त्रचिकित्सा किये जाने पर उसे होश में लाया गया, होशमें आने पर उससे पूछने पर मालूम हुआ कि उसने उन दोनों अवयवोंसे पृथक् २ उनका कार्य लिया है, किन्तु गर्भादिक शकाके कारण उसने स्त्री विषयक अवयवसे कार्य लेना छोड़ दिया है ।’ यह व्यक्ति अब तक जीवित है ।”

“सुनने में आया है और प्रायः सत्य है कि ‘मेरवाड़ा डिस्ट्रिक्ट (Merwara District) में एक व्यक्ति के लड़का हुआ । उसने बचस्क होने पर एण्ट्रेन्स पास किया । इसी अस में माता पिता ने उसका विवाह भी कर दिया, क्योंकि उसके पुरुष होने में किसी प्रकार की शका तो था ही नहीं, किन्तु विवाह होने पर मालूम हुआ कि वह पुरुषत्वके विचारसे सर्वथा अयोग्य है । अतएव डाक्टरी जांच करवाने पर मालूम हुआ कि वह वास्तव में स्त्री है और

## (१)—मार्गणाओंमें जीवस्थान ।

[ पाँच गाथाओंमें । ]

आहारेपर भेया, सुरनरयविभगमइसुओहिदुगे ।

सम्मत्ततिगं पन्हा,—सुक्कासचीसु सन्निदुग ॥ १४ ॥

आहारेतरौ भेदास्सुरनरकविभङ्गमतिश्रुतावधिद्विके ।

मन्यक्त्वत्रिके पद्याशुक्लामक्षिपु सञ्चिद्विकम ॥ १४ ॥

अर्थ—आहारकमार्गणाके आहारक और अनाहारक, ये दो भेद हैं । देवगति, नरकगति, विमङ्गज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अपधिज्ञान, अवधिदर्शन, तीन सम्यक्त्व ( औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक ), दो लेश्याएँ ( पद्या और शुक्ला ) और सञ्चित्व, इन तरह मार्गणाओंमें अपर्याप्त सशी और पर्याप्त नशी, ये दो जीवस्थान होते हैं ॥ १४ ॥

## (१४)—आहारकमार्गणाके भेदोंका स्वरूप.—

भाषार्थ—(१) जो जीव, ओज, लोम और कपल, इनमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको करता है, वह 'आहारक' है ।

(२) उक्त तीन तरहके आहारमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको जो जीव ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है ।

देवगति और नरकगतिमें वर्तमान कोई भी जीव, असशी नहीं होता । चाहे अपर्याप्त हो या पर्याप्त, पर होते हैं नशी सशी ही । इसीसे इन दो गतिधर्मोंमें दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

विमङ्गज्ञानको पानेकी योग्यता किसी असशीमें नहीं होती । अतः उसमें भी अपर्याप्त पर्याप्त सशी, ये दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

१—यह विषय पञ्चमस्कंध गाथा २२ स २७ तकमें है ।

२—एवमि पञ्चमस्कंध द्वादश गाथा २७२में यह उक्त है कि विमङ्गज्ञानमें

(६)—कषायमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

(१) 'क्रोध' वह विकार है, जिससे किसीकी भली-बुरी बात सहन नहीं की जाती या नाराजी होती है। (२) जिस दोषसे छोटे घड़ेके प्रति उचित नम्र भाव नहीं रहता या जिससे घेंठ हो, वह 'मान' है।

ऊपर पुरुषचिन्ह नाम मात्र को धन गया है—इसी कारण वह चिन्ह निरर्थक है—अतएव डाक्टर के उस कृत्रिम चिन्ह को दूर कर देने पर उसका शुद्ध स्त्रीस्वरूप प्रकट हो गया और उन दोनों स्त्रियों ( पुरुषरूपधारी स्त्री और उसकी विवाहिता स्त्री ) की एक ही व्यक्ति से शादी कर दी गई। ' यह स्त्री कुछ समय पहिले तक जीवित धतलाई जाती है । ”

—मानव-मन्त-निशास प्रकरण छठा ।

यह नियम नहीं है कि द्रव्यवेद और भाववेद समान ही हों। ऊपरमे पुरुषके षिष्ट दोषोंपर भी भावसे स्त्रीवेदके अनुभवका सम्भव है। यथा —

“प्रारब्धे रतिकैलसकुलरणारम्भे तथा साहस —

प्राय कान्तजयाय किञ्चिदुपरि प्रारम्भितत्सभ्रमात् ।

खिन्ना येन कटीतटी शिथिलता दोर्बल्लिरत्कम्पितम्,

वक्षो मीलितमौक्षि पौरुपरस स्त्रीणा कुत सिद्ध्यति ॥१७॥”

—गुणभितरसभाष्यद्वारा-विपरीतरत्निक्रिया ।

इसी प्रकार अन्य वेदोंके विषयमें भी विपर्ययका सम्भव है तथापि बहुतरकर द्रव्य और भाव वेदमें समानता—बाह्य चिह्नके अनुसार हो मानसिक-विक्रिया—पार्य जाती है।

गोमूटसार-जीवकाण्डमें पुरुष आदि वेदका लक्षण शब्द-न्युत्पत्तिके अनुसार किया है।

—गा०२७२—७५ ।

१—बाधाविक रक्तिके तीव्र-मन्द भावकी अपेक्षासे श्लेष्मादि प्रत्येक कषायके अनन्तानुबन्धी आदि चार-चार भेद कर्मप्रय और गोमूटसार-जीवकाण्डमें समान है। किन्तु गोमूटसारमें श्लेष्माकी अपेक्षासे धी-ह-बीरह और आयुके कषायकी अपेक्षामें बीस-बीस भेद किये गये हैं, उनका विचार श्लेष्माक्रोध प्रयोगमें नहीं देखा गया। इन भेदोंकेलिये टकिये जीव० गा० २६१ से २६४ तक ।



मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि द्विक, औपशमिक आदि उक्त तीन सम्यक्त्व और पद्म शुक्ल लेश्या, इन नौ मार्गणाश्रमों में दो सही जीवस्थान माने गये हैं। इसका कारण यह है कि किसी असहीमें सम्यक्त्वका सम्भव नहीं है और सम्यक्त्वके सिवाय मति श्रुत ज्ञान आदिका होना ही असम्भव है। इन प्रकार सहीके सिवाय दूसरे जीवोंमें पद्म या शुक्ल लेश्याके योग्य परिणाम नहीं हो सकते। अपर्याप्त अवस्थामें मति श्रुत-ज्ञान और अवधि द्विक इसलिये माने जाते हैं कि कोई-कोई जीव तीन ज्ञानसहित जन्मग्रहण करते हैं। जो जीव, आयु बाँधनेके बाद क्षायिकसम्यक्त्व प्राप्त करता है, वह बँधी हुई आयुके अनुसार चार गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें जाता है। इसी अपेक्षामें अपर्याप्त अवस्थामें क्षायिकसम्यक्त्व माना जाता है। उस अवस्थामें क्षायोपशमिकसम्यक्त्व माननेका कारण यह है कि भावी तीर्थङ्कर आदि, जब देव आदि गतिसे निकल कर मनुष्य जन्म ग्रहण करते हैं, तब वे क्षायोपशमिकसम्यक्त्वसहित होते हैं। औपशमिकसम्यक्त्वके विषयमें यह जानना चाहिये कि आयुके पूरे हो जानेसे जब कोई औपशमिकसम्यक्त्वकी ग्यारहवें गुणस्थानसे

एक ही जीवस्थान है तथापि उसके माथ इम कर्मग्रन्थवा कोई विरोध नहीं क्योंकि मूल एक मंत्रमें विमङ्गज्ञानमें एक ही जीवस्थान कहा है, जो अपेक्षा विरोधमे। अतः अथ अपेक्षामें विमङ्गज्ञानमें दो जीवस्थान भी उभे इष्ट हैं। इम बातका सुत्रामा श्रीमलवगिरिसूरिने उक्त २७वीं गाथाकी टीकामें स्पष्ट कर दिया है। वे लिखते हैं कि मन्त्र-पञ्चेन्द्रियतिर्यंघ और मनुष्यको अपर्याप्त अवस्थामें विमङ्गज्ञान उपपन्न नहीं होता। तथा जो असही जीव भरकर स्वप्नमानसकमें नारकका जन्म लेते हैं उन्हें भी अपर्याप्त अवस्थामें विमङ्गज्ञान नहीं होता। इम अपेक्षामें विमङ्गज्ञानमें एक (पर्याप्त मङ्गिण्य) जीवस्थान कहा गया है। सामान्य-दृष्टिसे उसमें दो जीवस्थान ही सम्भवे चाहिये। क्योंकि जो मन्त्री जीव, भरकर देव या नारकत्वमें पैदा होते हैं उन्हें अपर्याप्त-अवस्थामें भी विमङ्गज्ञान होता है।

जिसकी काल-मयादा उपस्थापन पर्यन्त—बड़ी दीक्षा लेने तक—मानी गई है। यह समय भरत-पेरवत क्षेत्रमें प्रथम तथा अन्तिम तीर्थद्वारके शासनके समय ग्रहण किया जाता है। इसके धारण करनेवालोंको प्रतिब्रमणसहित पाँच महायत अङ्गीकार करने पड़ते हैं तथा इस समयके स्वामी 'स्थितकल्पी' होते हैं।

( ४ ) 'यावत्कथितसामायिकसयम' यह है, जो ग्रहण करनेके समयसे जीवनपर्यन्त पाला जाता है। ऐसा समय भरत पेरवत क्षेत्र में मध्यवर्ती घाईस तीर्थद्वारोंके शासनमें ग्रहण किया जाता है, पर महाविदेहक्षेत्रमें तो यह समय, सय समयमें लिया जाता है। इस समयके धारण करनेवालोंको महायत चार और कल्प स्थितास्थित होता है।

( २ ) प्रथम समय पर्यायको छेदकर फिरसे उपस्थापना (व्रता रोपण) करना—पहले जितने समय तक समयका पालन किया हो, उतने समयको व्यवहारमें न गिनना और दुबारा समय ग्रहण करनेके समयसे दीक्षाकाल गिनना य छोटे-बड़ेका व्यवहार करना—'छेदो पस्थापनीयसयम' है। इसके (क) 'सातिचार' और (ख) 'निरतिचार,' ये दो भेद हैं।

( क ) 'सातिचार-छेदोपस्थापनीयसयम' यह है, जो किसी कारणसे मूलगुणोंका—महायतोंका—भङ्ग हो जानेपर फिरसे ग्रहण किया जाता है।

( ख ) 'निरतिचार-छेदोपस्थापनीय', उस समयको कहते

{—आचेनक्य औदेशिक शय्यातरपिए राजपिए कृतिकर्म मग ज्येष्ठ प्रतिक्रमण मास और पद्यपद्या, इन दस क-पोंमें जो दिवस है वे स्थितकल्पी और शय्यातरपिए मग ज्येष्ठ तथा कृतिकर्म इन चारमें नियमसे स्थित और शेष छह क-पोंमें जो अस्थित होते हैं वे 'स्थितास्थितकल्पी' बड़े माने हैं। —आव० चारिमद्रीवृत्ति पृ० ७६० पञ्चरात्र प्रकरण } ।

## (१)—मार्गणाओंमें जीवस्थान ।

[ पाँच गाथाओंमें । ]

आहारेपर भेषा, सुरनरकविभगमहसुओरिदुगे ।

सम्मत्ततिग पग्हा,—सुक्कासत्रीसु सन्निदुग ॥ १४ ॥

आहारेतरो भेदास्सुरनरकविभङ्गमतिश्रुतावधिद्विके ।

सम्यक्त्वात्रिके पद्माशुक्लासन्निपु सन्निद्विकम् ॥ १४ ॥

अथ—आहारकमार्गणाके आहारक और अनाहारक, ये दो भेद हैं । देवगति नरकगति, विमङ्गलान, मतिज्ञान, ध्रुतज्ञान, अधिज्ञान, अधिदर्शन, तीन सम्यक्त्व ( औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक), दो लेश्याएँ ( पद्मा और शुक्ला) और सक्षित्व, इन तरह मार्गणाओंमें अर्थात्त सक्षी और पर्यात्त सक्षी, ये दो जीवस्थान होते हैं ॥१४॥

(१४)—आहारकमार्गणाके भेदोंका स्वरूपः—

भाषा—(१) जो जीव, ओज, लोम और कजल, इनमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको करता है, वह 'आहारक' है ।

(२) उक्त तीन तरहके आहारमेंसे किसी भी प्रकारके आहारको जो जीव ग्रहण नहीं करता है, वह 'अनाहारक' है ।

देवगति और नरकगतिमें उत्तमान कोई भी जीव, असक्षी नहीं होता । चाहे अप्यात्त हो या पर्यात्त, पर होते हैं सभी सक्षी ही । इसीसे इन दो गतियोंमें दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

विमङ्गलानको पानेकी योग्यता किसी असक्षीमें नहीं होती । अतः उसमें भी अप्यात्त प्यात्त सक्षी, ये दो ही जीवस्थान माने गये हैं ।

१—यह विषय पञ्चमस्कंध भाषा २२ स २७ तकमें है ।

२—स्वरूपि पञ्चमस्कंध ६२२ १ गाथा २७५में यह उक्तेत है कि विमङ्गलानमें संनि-पदोत्त

सद्धिमार्गणामें दो सद्धि-जीवस्थानके सिवाय अन्य किसी जीवस्थानका सम्भव नहीं है, क्योंकि अत्र सब जीवस्थान असञ्जी ही हैं ।

देवगति अदि उपर्युक्त मार्गणाओंमें अपर्याप्त सञ्जीका मतलब करण अपर्याप्तसे है, लब्धि अपर्याप्तमे नहीं । इसका कारण यह है कि देवगति और नरकगतिमें लब्धि अपर्याप्तरूपसे कोई जीव पैदा नहीं होते और न लब्धि अपर्याप्तको, मति आदि ज्ञान, पद्म आदि लेश्या तथा सम्यक्त्व होता है ॥ १४ ॥

तमसनिअपज्जजुय,-नरे सवायरअपज्ज तेज्ज ।

थावर इगिंदि पढमा,-चउ चार असन्नि दु दु ावगले ॥१५॥

तदसत्र्यपर्याप्तयुत, नरे सवादरापयात् तेजसि ।

स्यावर एकेद्वये प्रथमानि, चत्वारि द्वादशासंशानि द्वे द्वे विकले ॥१५॥

सम्यक्त्वमोहनीय पुत्रको उद्यावलिकामें लाकर उमे बेदता है इसमें अपयात् अवरयामे श्रीपरा मिरसम्यक्त्व पाया नहीं जा सकता ।

इस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें किसी तरहके श्रीपराभिवसम्यक्त्वका सम्भव न होनेसे उन आशुयौक मनमे सम्यक्त्वमें केवल पर्याप्त मत्री जीवस्थान ही माना जाता है ।

इस प्रसङ्गमें श्रीजीवविजयजीने अपने टिप्पणमें प्रथमे नामका उल्लेख किये बिना ही उसकी गाथाको उद्धृत करके लिखा है कि श्रीपराभिवसम्यक्त्वी ग्यारहवें गुणस्थानसे गिरता है सही, पर उममें मरता नहीं । मरनेवाला घायिकसम्यक्त्वी हो होता है । गाथा इस प्रकार है —

‘उवसमसेहिं पत्ता, मरति उवसमगुणेषु जे सत्ता ।

ते लयसत्तम देवा, सब्वट्टे खयसमत्तजुआ ॥”

उसका मतलब यह है कि ‘जो जीव उपरामश्रेष्ठिको पाकर ग्यारहवें गुणस्थानमें मरते हैं, व सवार्थभिद्धविमानमें घायिकसम्यक्त्व-युक्त ही पैदा होने हैं और लवमत्तम देव कहलाते हैं । लवमत्तम बदलानेका सबब यह है कि सात लव प्रमाण आयु कम होनेसे उनकी देवता जन्म ग्रहण करता पड़ता है । यदि उनकी आयु और भी अधिक होती तो देव हुए बिना उसी जन्ममें मोक्ष होता ।

परिहारविशुद्धसयममें रहकर श्रेणि नहीं की जा सकती, इस लिये उसमें छटा और सातवाँ, ये दो ही गुणस्थान समझने चाहिये ।

केवलज्ञान और केवलदर्शन दोनों क्षायिक है । क्षायिक ज्ञान और क्षायिक-दर्शन, तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें होते हैं, इसीसे केवल द्विकमें उक्त दो गुणस्थान माने जाते हैं ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि द्विकवाले, चौथेसे लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं, क्योंकि सम्यक्त्व प्राप्त होनेके पहले अर्थात् पहले तीन गुणस्थानोंमें मति आदि अज्ञानरूप ही हैं और अन्तिम दो गुणस्थानमें क्षायिक-उपयोग होनेसे इनका अभाव ही हो जाता है ।

इस जगह अत्रधिदर्शनमें नव गुणस्थान कहे हुए हैं, सो कर्म ग्रन्थिक मतके अनुसार । कर्मग्रन्थिक विद्वान् पहले तीन गुणस्थानोंमें अत्रधिदर्शन नहीं मानते । वे कहते हैं कि विभङ्गज्ञानसे अत्रधिदर्शनकी भिन्नता न माननी चाहिये । परन्तु सिद्धान्तके मतानुसार उसमें और भी तीन गुणस्थान गिनने चाहिये । सिद्धान्ती, विभङ्गज्ञानसे अत्रधिदर्शनको जुदा मानकर पहले तीन गुणस्थानोंमें भी अत्रधिदर्शन मानते हैं ॥ २१ ॥

अड उवसमि चउ वेयगि, खहए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।  
सुद्धमे य सठाण तेर,-स जोग आहार सुक्काए ॥ २२॥

अशेषमे चत्वारि वेदके, क्षायिक एकारस्य मिष्यात्रिके देस ।

सुद्धमे च स्वस्थान त्रयोदश योगे आहारे शुक्लायाम् ॥ २३ ॥

अथ—उपशमसम्यक्त्वमें चौथा आदि आठ, वेदक ( क्षायोपशमिक-) सम्यक्त्वमें चौथा आदि चार और क्षायिकसम्यक्त्वमें चौथा

अथ—मनुष्यगतिमें पूर्वोक्त सक्षि द्विक (अपर्याप्त तथा पर्याप्त सक्षी) और अपर्याप्त असक्षी, ये तीन जीवस्थान हैं। तेजोलोक्यामें यादर अपर्याप्त और सक्षि द्विक, ये तीन जीवस्थान हैं। पाँच स्थायर और एकेन्द्रियमें पहले चार (अपर्याप्त सूक्ष्म, पर्याप्त सूक्ष्म, अपर्याप्त यादर और पर्याप्त यादर) जीवस्थान हैं। असक्षिमार्गणामें सक्षि-द्विकके सिवाय पहले चारही जीवस्थान हैं। विक्लेन्द्रियमें दो-दो (अपर्याप्त तथा पर्याप्त) जीवस्थान हैं ॥ १५ ॥

भाषा—मनुष्य दो प्रकारके हैं—गर्भज और समुच्छिद्रम। गर्भज सभी सक्षी ही होते हैं, वे अपर्याप्त तथा पर्याप्त दोनों प्रकारके पाये जाते हैं। पर समुच्छिद्रम मनुष्य, जो दार द्वीप समुद्रमें गर्भज मनुष्यके मल मूत्र, शुक शोणित आदिमें पैदा होते हैं, उनकी आयु अतर्मुहूर्त्त प्रमाण ही होती है। वे स्वयोग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण क्रिये बिना ही मर जाते हैं, इसीसे उन्हें लब्धि अपर्याप्त ही माना है, तथा वे अमक्षी ही माने गये हैं। इसलिये सामान्य मनुष्यगतिमें उपर्युक्त तीन ही जीवस्थान पाये जाते हैं।

१—इसे भगवान् श्यामाचार्य प्रस्तापना पृ २७ में बखन करते हैं—

“कहिण भते समुच्छिद्रमणुस्सा समुच्छति ? गोयमा ! अतो मणुस्सरेत्तस्स पणयालीसाए जोयणसयसइस्सेसु अहाइजेसु दीवस सुरेसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पनाए अतर दीवसेसु गम्भवक्कतियमणुस्साण चेव उचारेसु वा पासवणेसु वा खलेसु वा वतेसु वा पित्तेसु वा सुक्केसु वा सोणिणसु वा सुक्कपुग्गलपरिसाडेसु वा विगयजीवकलेधरेसु वा थीपुरिससजोगेसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइठाणसु इच्छण समुच्छिद्रमणुस्सा समुच्छति अगु लस्स असखभागमित्ताए ओगाहणाए असक्षी मिच्छदिट्ठा अजाणी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्ता अतमुहुत्ताइया चेव काल करति ति ।”

आदि ग्यारह गुणस्थान हैं । मिथ्यात्व त्रिक ( मिथ्यादृष्टि, साक्षादन और मिथ्रदृष्टि-) में, देशविरतिमें तथा सूक्ष्मसम्परायचरित्रमें स्व स्व स्थान ( अपना अपना एक ही गुणस्थान ) है । योग, आहारक और शुक्रलेश्यामार्गणोंमें पहले तेरह गुणस्थान हैं ॥ २२ ॥

भागार्थ—उपशमसम्यक्त्वमें आठ गुणस्थान माने हैं । इनमेंसे चौथा आदि चार गुणस्थान, प्रथि भेद जब प्रथम सम्यक्त्व पाते समय और आठवाँ आदि चार गुणस्थान, उपशमश्रेणि करते समय होते हैं ।

वेदकसम्यक्त्व तथा होता है, जब कि सम्यक्त्वमोहनीयका उदय हो । सम्यक्त्वमोहनीयका उदय, श्रेणिका आरम्भ न होने तक ( सातवें गुणस्थान तक ) रहता है । इसी कारण वेदकसम्यक्त्वमें चौथेसे लेकर चार ही गुणस्थान समझने चाहिये ।

चौथे और पाँचवें आदि गुणस्थानमें द्वायिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, जो सदाश्रेणिय रहता है इसीसे उसमें चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान कहे गये हैं ।

पहला ही गुणस्थान मिथ्यात्वरूप, दूसरा ही साक्षादन भावरूप, तीसरा ही मिथ्र दृष्टिरूप पाँचवाँ ही देशविरतिरूप और षसवाँ ही सूक्ष्मसम्परायचारित्ररूप है । इसीसे मिथ्यात्व त्रिक, देशविरति और सूक्ष्मसम्परायमें एक एक गुणस्थान कहा गया है ।

तीन प्रकारका योग, आहारक और शुक्रलेश्या, इन छह मार्गणाओं में तेरह गुणस्थान होते हैं, क्योंकि चौदहवें गुणस्थानके समय न तो किसी प्रकारका योग रहता है, न किसी तरहका आहार ग्रहण किया जाता है और न लेश्याका ही सम्भव है ।

योगमें तेरह गुणस्थानोंका कथन मनोयोग आदि सामान्य योगों

तेजोलेश्या, पर्याप्त तथा अपर्याप्त, दोनों प्रकारके सक्षियोंमें पायी जाती है तथा वह वादर एकेन्द्रियमें भी अपर्याप्त अवस्थामें होती है, इसीसे उस लेश्यामें उपर्युक्त तीन जीवस्थान माने हुए हैं । वादर एकेन्द्रियको अपर्याप्त अवस्थामें तेजोलेश्या मानी जाती है, सो इस अपेक्षासे कि भवनपति, व्यन्तर' आदि देव, जिनमें तेजोलेश्याका सम्मन्य है वे जब तेजोलेश्यासहित मरकर पृथिवी, पानी या वनस्पतिमें जन्म ग्रहण' करते हैं, तब उनको अपर्याप्त (करण अपर्याप्त) अवस्थामें कुछ काल तक तेजोलेश्या रहती है ।

पहले चार जीवस्थानके सिवाय अन्य किसी जीवस्थानमें एकेन्द्रिय तथा स्थावरकायिन् जीव नहीं हैं । इसीसे एकेन्द्रिय और पाँच स्थावर-काय, इन छह मार्गणाओंमें पहले चार जीवस्थान माने गये हैं ।

इसका सार मनुष्योंमें इस प्रकार है — 'प्रश्न करनेपर भगवान् महावीर गणेश और गौतमसे कहते हैं कि पैंतालीस लाख योनि प्रमाण मनुष्य क्षेत्रके भीतर दार्द्र द्वीप समुद्रमें पन्द्रह कर्मभूमि तीस अरुणभूमि और क्षुण्ण अन्तर्द्वीपोंमें गर्भज-मनुष्योंके मूल मूत्र वृक् आदि सभी अशुचि-पदार्थोंमें समृच्छम पैदा होते हैं गिनका देह परिमाण अशुलके अमक्यातर्वे भागधे बरत-बर हैं धो अमयनी मिय्याली तथा अशानी होने हैं और जो अपर्याप्त ही है तथा अन्तमरुत्त-मात्रमें मर जाने ह ।

१—“किण्हा नीला काऊ, तेऊलेसा य भवणतरिया ।

जोइमसोहम्मीसा,—ण तेऊलेसा मुणेचव्वा ॥१९३॥”

—बृहत्समग्रहणी ।

अर्थात् भवनपति और व्यन्तरमें कृष्ण आदि चार लेश्याएँ होती हैं, किन्तु ज्योतिष और सौम्यमें ईशान देवलोचने में तेजोलेश्या ही होती है ।

२—“पुढवी आउवणरसइ, गन्भे पञ्च सखजीवेसु ।

सग्गचुयाण वासो, सेसा पडिसेहिया ठाणा ॥”

—विशेषावरयक भाष्य ।

अपत् 'पृथ्वी, जल वनस्पति और मस्यात-वर्ष आयुवाले गर्भज पर्याप्त, इन स्थानोंहीमें स्वर्ग-च्युत देव पैदा होते हैं, अन्य स्थानोंमें नहीं ।'



की अपेक्षासे किया गया है । सत्यमनोयोग आदि विशेष योगोंकी अपेक्षासे गुणस्थान इस प्रकार है —

(क) सत्यमन, असत्यामृषामन, सत्यवचन असत्यामृषावचन और आदारिक, इन पाँच योगोंमें तेरह गुणस्थान हैं ।

(ख) असत्यमन, मिथ्रमन, असत्यवचन, और मिथ्रवचन, इन चारमें पहले चारह गुणस्थान हैं ।

(ग) आदारिकमिथ्र तथा कर्मणकाययोगमें पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ, ये चार गुणस्थान हैं ।

(घ) वैक्रियकाययोगमें पहले सात और वैक्रियमिथ्रकाययोगमें पहला, दूसरा, चौथा, पाँचवाँ और छठा, ये पाँच गुणस्थान हैं ।

(च) आहारककाययोगमें छठा और सातवाँ, ये दो और आहारकमिथ्रकाययोगमें केवल छठा गुणस्थान है ॥ २० ॥

अस्सन्निसु पढमदुग, पढमातिलेसासु छध दुसु सत्त ।

पढमतिमदुगअजया, अणहारे मग्गणासु गुणा ॥२३॥

असन्निसु प्रथमद्विक, प्रथमनिवेश्यासु पट् च द्वयोःसप्त ।

प्रथमनिवेश्यासु मार्गणासु गुणा ॥ २३ ॥

अर्थ—असन्निसुओंमें पहले दो गुणस्थान पाये जाते हैं । कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओंमें पहले छह गुणस्थान और तेज और पद्म, इन दो लेश्याओंमें पहले सात गुणस्थान हैं । अनाहारकमार्गणोंमें पहले दो, अन्तिम दो और अविरतसम्यग्बुद्धि, ये पाँच गुणस्थान हैं । इस प्रकार मार्गणोंमें गुणस्थानका पूर्णन हुआ ॥ २३ ॥

भावार्थ—असन्नीमें दो गुणस्थान कहे हुए हैं । पहला गुणस्थान सब प्रकारके असन्नियोंको होता है और दूसरा कुछ असन्नियोंको । ऐसे असन्नी, करण अर्थात् पकेन्द्रिय आदि ही हैं क्योंकि

एकेन्द्रियमें भाषापर्याप्ति नहीं होती। भाषापर्याप्तिके सिवाय वचनयोगका होना सम्भव नहीं। द्वीन्द्रिय आदि जीवोंमें भाषापर्याप्तिका सम्भव है। ये जब सम्पूर्ण स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेते हैं, तभी उनमें भाषापर्याप्तिके हो जानेसे वचनयोग हो सकता है। इसीसे वचनयोगमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि उपर्युक्त पाँच जीवस्थान माने हुए हैं।

आँसुवालोंको ही चक्षुर्दर्शन हो सकता है। चतुरिन्द्रिय, अक्षि पञ्चन्द्रिय और मक्षि पञ्चन्द्रिय, इन तीन प्रकारके ही जीवोंको आँसु होती है। इसीसे इनके सिवाय अन्य प्रकारके जीवोंमें चक्षुर्दर्शनका अभाव है। उक्त तीन प्रकारके जीवोंके विषयमें भी दो मत हैं।

१—इन्द्रियपर्याप्तिकी नीचे लिखी दो व्याख्यायें इन मतोंकी जड़ हैं —

(१) इन्द्रियपर्याप्ति जीवकी वह शक्ति है जिसकेद्वारा धानुस्वयमें परिणत आत्मारपुत्र लोभमे योग्य पुत्र इन्द्रियरूपमें परिणत किये जाते हैं।

यह व्याख्या प्रजापना वृत्ति तथा पञ्चमयज्ञ वृत्ति पृ० ३ में है। इस व्याख्याके अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति मन्त्रव इन्द्रियजनक शक्तिमत् है। इस व्याख्याके माननेवाले पहले मन्त्रका आशय यह है कि स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन चुकनेके बाद (अर्थात् अवस्थामें) सबको इन्द्रिय जन्य उपयोग होता है अर्थात् अवस्थामें नहीं। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन चुकनेके बाद नेत्र होनेपर भी अपत्यात् अवस्थामें चतुरिन्द्रिय आदिको चक्षुर्दर्शन नहीं माना जाता।

(२)— इन्द्रियपर्याप्ति जीवकी वह शक्ति है जिसकेद्वारा योग्य आत्मारपुत्रलोभमे इन्द्रियस्वयमें परिणत करके इन्द्रिय जन्य बोधका सामर्थ्य प्राप्त किया जाता है।

यह व्याख्या बृहत्समन्वय १। १३० तथा मगदलीवृत्ति पृ० ३३३ में है। इसके अनुसार इन्द्रियपर्याप्तिका मन्त्रव इन्द्रियरचनामें लेकर इन्द्रिय जन्य उपयोग तककी सब क्रियाओंको करनेवाली शक्ति में है। इस व्याख्याको माननेवाले दूसरे मतके अनुसार इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण बन जानेसे अपत्यात् अवस्थामें भी सबका इन्द्रिय जन्य उपयोग होता है। इसलिये इन्द्रियपर्याप्ति बन जानेके बाद नेत्र जन्य उपयोग होनेके कारण अपत्यात् अवस्थामें भी चतुरिन्द्रिय आदिको चक्षुर्दर्शन मानना चाहिये। इस मतकी पुष्टि पञ्चमयज्ञ मन्त्रवगिरिवृत्तिके ६ एष्टपर वृत्तिखिन इस मन्त्रवमें होती है —

लघ्वि प्रपर्याप्त एकेंद्रिय आदिमें कोई जीव सास्वादन भावसहित आकार जन्म ग्रहण नहीं करता ।

कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओंमें छह गुणस्थान माने जाते हैं। इनमेंसे पहले चार गुणस्थान ऐसे हैं कि जिनकी प्राप्तिके समय और प्राप्तिके बाद भी उक्त तीन लेश्याएँ होती हैं। परन्तु पाँचवाँ और छठा ये दो गुणस्थान ऐसे नहीं हैं। ये दो गुणस्थान सम्यक्त्व मूलक चिरतिरूप हैं, इसलिये इनकी प्राप्ति तेज आदि शुभ लेश्याओंके समय होती है, कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओंके समय नहीं। तो भा प्राप्ति हो जानेके बाद परिणाम शुद्धि कुछ घट जानेपर इन दो गुणस्थानोंमें अशुभ लेश्याएँ भी आ जाती हैं।

कहीं कहीं कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याओंमें पहले चार ही गुणस्थान कहे गये हैं, सो प्राप्ति कालकी अपेक्षासे अर्थात् उक्त तीन लेश्याओंके समय पहले चार गुणस्थानोंके सिवाय अन्य कोई गुणस्थान प्राप्त नहीं किया जा सकता ।

तेजोलेश्या और पद्मलेश्यामें पहले सात गुणस्थान माने हुए हैं, सो प्रतिपद्यमान और पूज्यप्रतिपद्य, दोनोंकी अपेक्षासे अर्थात् सात गुणस्थानोंको पानेके समय और पानेके बाद भी उक्त दो लेश्याएँ रहती हैं ।

१—वही बाल भीमद्रवाट्टम्नामिने कही है —

“सम्मत्तसुय सव्वा,—सु लहइ सुद्धासु तीसु य चरित्त ।

पुव्वपडिबन्नओ पुण, अन्नयरीए उ लेसाए ॥८२२॥”

—आवरणक नियक्ति ५० २३८

अर्थात् सम्यक्त्वकी प्राप्ति मत्र लेश्याओंमें होती है चारित्रको प्राप्ति पिछली तीन शुद्ध लेश्याओंमें ही होती है। परन्तु चारित्र प्राप्त होनेके बाद लहइमेंसे कोई लेश्या आ सकती है।

२—इसकेलिये देखिये पञ्चमग्रह द्वार १ गा० ३० तथा बभ्रत्नामित्य गा २४ और जीवकावट गा० १३१ ।

पहले मतके अनुसार उनमें स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण बन जानेके बाद ही चक्षुर्दर्शन माना जाता है । दूसरे मतके अनुसार स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण होनेके पहले भी—अपर्याप्त अवस्थामें भी—चक्षुर्दर्शन माना जाता है, किन्तु इसकेलिये इन्द्रियपर्याप्तिका पूर्ण बन जाना आवश्यक है, क्योंकि इन्द्रियपर्याप्ति न बन जाय तब तक आँखके पूर्ण न बननेसे चक्षुर्दर्शन हो ही नहीं सकता । इस दूसरे मतके अनुसार चक्षुर्दर्शनमें छह जीवस्थान माने हुए हैं और पहले मतके अनुसार तीन जीवस्थान ॥ १७ ॥

धीनरपण्डि चरमा, चउ अणहारेडु मनि छ अपज्जा ।  
ते सुट्टमअपज्ज विणा, नामणि इत्तो गुणे वुच्छं ॥१८॥

छानरपण्डेन्द्रिये चरमाणि, चत्वार्यनाहारके द्वौ साञ्जनौ पदपवाता ।

ते सूक्ष्मापर्याप्त विना, सासादन इतो गुणान् वक्ष्ये ॥ १८ ॥

अर्थ—छाीवेद, पुरुषपदेद और पञ्चेन्द्रियजातिमें अन्तिम चार (अपर्याप्त तथा पर्याप्त असन्नि पञ्चेन्द्रिय, अपर्याप्त तथा पर्याप्त सन्नि पञ्चेन्द्रिय) जीवस्थान हैं । अनाहारकमागणामें अपर्याप्त पर्याप्त दो सन्नि और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, वादर एकेन्द्रिय, डीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असन्नि पञ्चेन्द्रिय, ये छह अपर्याप्त, कुल आठ जीवस्थान हैं । सासादनमम्यक्त्वमें उक्त आठमेंसे सूक्ष्म अपर्याप्तको छोड़कर शेष सात जीवस्थान हे ।

अब आगे गुणस्थान बहे जायेंगे ॥ १८ ॥

भावार्थ—छाीवेद आदि उपर्युक्त तीन मार्गणाओंमें अपर्याप्त

“करणापर्याप्तेषु चतुरिन्द्रियादिष्विन्द्रियपर्याप्तौ सत्या चक्षुर्दर्शनमपि प्राप्यते ।”

इन्द्रियपर्याप्तिको उक्त दोन' व्याख्यामाना उल्लेख लोकप्र० म० ३ श्लो० २०-२१ में है ।

अनाहारकर्मणामें पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ, ये पाँच गुणस्थान कहे हुए हैं। इनमेंसे पहले तीन गुणस्थान विग्रहगति कालीन अनाहारक अवस्थाकी अपेक्षासे, तेरहवाँ गुणस्थान फेवलिनमुद्गातके तीसरे चौथे और पाँचवें समयमें होनेवाली अनाहारक अवस्थाकी अपेक्षासे। और चौदहवाँ गुणस्थान योग निरोध-अन्य अनाहारक अवस्थाकी अपेक्षासे समझना चाहिये।

कहीं कहीं यह लिखा हुआ मिलता है कि तीसरे, चारहवें और तेरहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें मरण नहीं होता, शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें इसका सभय है। इसलिये हम जगह यह शङ्का होती है कि जब उक्त शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें मरणका सभय है, तब विग्रह गतिमें पहला, दूसरा और चौथा, ये तीन ही गुणस्थान क्यों माने जाते हैं ?

इसका समाधान यह है कि मरणके समय उक्त ग्यारह गुणस्थानोंके पाये जानेका कथन है, सो व्यावहारिक मरणको लेकर (वर्तमान भावका अन्तिम समय, जिसमें जीव मरणोन्मुख हो जाता है, उसको लेकर), निश्चय मरणको लेकर नहीं। परमवकी आयुका प्राथमिक उदय, निश्चय मरण है। उस समय जीव विरति रहित होता है। विरतिका सम्यन्त्र वर्तमान भवके अन्तिम समय तक ही है। इसलिये निश्चय मरण कालमें अर्थात् विग्रहगतिमें पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानको छोड़कर विरतिवाले पाँचवें आदि आठ गुणस्थानोंका सभय ही नहीं है ॥ २३ ॥



## (३)-मार्गणाओंमें योग ।

[ छह गाथाओंमें । ]

सद्येयरमीसञ्चस, - घमोसमणवइविडव्वियाहारा ।  
उरलं भीसा कम्मण, इय जोगा कम्मणहारे ॥२४॥

सत्यतरमिभासत्यमृशमनोवचोवेकुर्विकाहारकाणि ।

औदारिक मिभाणि कामणमिति योगा कामणमनाहारे ॥ २४ ॥

अर्थ—सत्य, अमत्य, मिथ ( मत्वासत्य ) और असत्यामृष, 'चार भेद मनोयोगके हैं । चचनयोग भी उक्त चार प्रकारका ही है वैमिय, आहारक और औदारिक, ये तीन शुद्ध तथा ये ही तीन मिथ और फार्मण, इस तरह सात भेद काययोगके हैं । सब मिला कर पन्द्रह याग हुए ।

अनाहारक अवस्थामें फार्मणकाययोग ही होता है ॥ २४ ॥

## मनायोगके भदोंका स्वरूप.-

भाषा—( १ ) जिस मनोयोगद्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप विचारा जाय जैसे—जीव द्रव्याधिकनयसे नित्य और पयाया धिकनयसे अनित्य है, इत्यादि, यह 'सत्यमनोयोग' है ।

( २ ) जिस मनोयोगसे वस्तुके स्वरूपका विपरीत चिन्तन हो, जैसे—जीव एक ही है या नित्य ही है, इत्यादि यह 'असत्यमनोयोग' है ।

( ३ ) किसी अशमें यथार्थ और किसी अशमें अयथार्थ, देसा मिश्रित चिन्तन, जिस मनोयोगकेद्वारा हो, यह 'मिथमनोयोग' है । जैसे—किसी व्यक्तिमें गुण-त्रोप दोनोंके होते हुए

बाद जब किसीको औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है, तब वह उसे त्याग करता हुआ सासादनसम्यक्त्वमहित एकेन्द्रिय आदिमें जन्म ग्रहण करता है। उक्त समय अपर्याप्त अवस्थामें कुछ काल तक दूसरा गुणस्थान पाया जाता है। पहला गुणस्थान तो एकेन्द्रिय आदिकेलिये सामान्य है क्योंकि वे सब अनाभोग (अज्ञान) के कारण तत्त्व-श्रद्धा-हीन होनेसे मिथ्यात्वो होते हैं। जो अपर्याप्त एकेन्द्रिय आदि, दूसरे गुणस्थानके अधिकारी कहे गये हैं, वे कारण अपर्याप्त हैं, लब्धि अपर्याप्त नहीं क्योंकि लब्धि अपर्याप्त तो सभी जीव, मिथ्यात्वो ही होते हैं।

तेज काय और घायुकाय, जो गतिव्रस या लब्धिव्रस कहे जावे हैं, उनमें न तो औपशमिकसम्यक्त्व प्राप्त होता है और न औपशमिकसम्यक्त्वको यत्न करनेवाला जीव ही उनमें जन्म ग्रहण करता है; इसीसे उनमें पहला ही गुणस्थान कहा गया है।

अभयोंमें सिर्फ प्रथम गुणस्थान, इस कारण माना जाता है कि वे स्वभावसे ही सम्यक्त्व-लाभ नहीं कर सकते और सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना दूसरे आदि गुणस्थान असम्भव हैं ॥ १६ ॥

वेदातिक्रमाय नव दस, लोभे च उ अजय हु ति अनाणतिगे ।  
पारस अचरुतु चकरुसु, पडमा अहराड चरम चड ॥२०॥

वेदातिक्रमाय नव दस, लोभे चत्वापयते द्वे नाप्पशानत्रिके ।

द्वादशाचधुभगुणे, प्रथमानि यथाग्नाते चरमाणि चत्वार ॥ २० ॥

अर्थ—तीन वेद तथा तीन कपाय (सज्वलन-क्रोध, मान और माया) में पहले नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। लोभमें (सज्वलन लोभ) में दस गुणस्थान होते हैं। अयन (अनिरति) में चार गुणस्थान हैं। तीन अज्ञान (मति अज्ञान, धृत अज्ञान और विभङ्गज्ञान) में दो या तीन गुणस्थान माने जाते हैं। अचलुर्दर्शन और चक्षु



दोषी समझना । इसमें एक अर्थ मिथ्या है, क्योंकि दोषकी तरह गुण भी दोषरूपसे खयाल किये जाते हैं ।

(४) जिस मनोयोगकेद्वारा की जानेवाली कल्पना विधि निषेध शून्य हो,—जो कल्पना, न तो किसी वस्तुका स्थापन ही करती हो और न उत्थापन, यह 'असत्यामृत्यामनोयोग' है । जैसे —हे देवदत्त ! हे इन्द्रदत्त ! इत्यादि । इस कल्पनाका अभिप्राय अन्य कार्यमें व्यग्र-व्यक्तिको सम्योहित करना मात्र है, किसी तत्त्वके स्थापन उत्था-पाका नहीं ।

उक्त चार भेद, व्यवहारनयकी अपेक्षासे हैं, क्योंकि निश्चय दृष्टिसे सबका समावेश सत्य और असत्य, इन दो भेदोंमें ही हो जाता है । अर्थात् जिस मनोयोगमें छल कपटकी बुद्धि नहीं है, चाहे मिथ्र हो या असत्यामृत्य, उसे 'सत्यमनोयोग' ही समझना चाहिये । इसके विपरीत जिस मनोयोगमें छल कपटका अर्थ है, वह 'असत्यमनोयोग' ही है ।

### वचनयोगके भेदोंका स्वरूपः—

(१) जिस 'वचनयोग'केद्वारा वस्तुका यथार्थ स्वरूप स्थापित किया जाय, जैसेः—यह कहना कि जीव सद्रूप भी है और असद्रूप भी, यह 'सत्यवचनयोग' है ।

(२) किसी वस्तुको अवधारणरूपसे सिद्ध करनेवाला वचन योग, 'असत्यवचनयोग' है जैसे —यह कहना कि आत्मा कोई चीज नहीं है या पुण्य-पाप कुछ भी नहीं है ।

(३) अनेकरूप वस्तुको एकरूप ही प्रतिपादन करनेवाला वचनयोग 'मिश्रवचनयोग' है । जैसे —आम, नीम आदि अनेक प्रकारके वृक्षोंके धनको आमका ही धन कहना, इत्यादि ।

(४) जो 'वचनयोग' किसी वस्तुके स्थापन उत्थापनकेलिये-

दर्शनमें पहले चारह गुणस्थान होते हैं । यथाक्यातचारित्र्यमें अंतिम चार गुणस्थान हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—तीन घेद और तीन सञ्ज्वलन कपायमें नौ गुणस्थान बड़े गये हैं, सो उदयकी अपेक्षासे समझना चाहिये, क्योंकि उनकी सत्ता ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त पाई जा सकती है । नववें गुणस्थानके अंतिम समय तकमें तीन घेद और तीन सञ्ज्वलनकपाय या तो क्षीण हो जाते हैं या उपशान्त, इस कारण आगेकी गुणस्थानोंमें उनका उदय नहीं रहता ।

सञ्ज्वलनलोममें दस गुणस्थान उदयकी अपेक्षासे ही समझने चाहिये क्योंकि सत्ता तो उसकी ग्यारहवें गुणस्थान तक पाई जा सकती है ।

अत्रिरतिमें पहले चार गुणस्थान इसलिये कहे हुए हैं कि पाँचवेंसे लेकर आगेके सब गुणस्थान विरतिरूप हैं ।

अज्ञान त्रिम्में गुणस्थानोंकी संख्याके विषयमें दो मत हैं । पहला उसमें दस गुणस्थान मानता है और दूसरा तीन गुणस्थान । ये दोनों मत कामप्रथिक हैं ।

( १ ) दो गुणस्थान माननेवाले आचार्यका अभिप्राय यह है कि तीसरे गुणस्थाक समय शुद्ध सम्यक्त्व न होनेके कारण पूर्ण यथाय ज्ञान भले ही न हो पर उस गुणस्थानमें मिथ-दृष्टि होनेसे यथार्थ ज्ञानकी थोड़ी बहुत मात्रा रहती ही है । क्योंकि मिथ-

१—“ननेसे पहला मत ही गान्ध्यार जीवकाण्डकी ६८, वी गाथामें उल्लिखित है ।

२—“मिथ्यात्वाधिकस्य मिथ्रदष्टेरज्ञानबाहुल्य सम्यक्त्वाधिकस्य पुन सम्यग्ज्ञानबाहुल्यमिति ।”

अर्थात् मिथ्यात्व अधिक होनेपर मिथ्र-दृष्टिमें ज्ञानकी बहुलता और सम्यक्त्व अधिक होनेपर ज्ञानकी बहुलता होती है ।”

प्रवृत्त नहीं होता, वह 'असत्यामृषवचनयोग' है, जैसे — किसीका ध्यान अपनी ओर खींचनेकेलिये कहना कि हे भोजदत्त ! हे मित्रसेन ! इत्यादि पद सम्योधनमात्र हैं स्थापन उत्पादन नहीं । वचनयोगके भी मनोयोगकी तरह, तत्त्व दृष्टिसे सत्य और असत्य, वे दो ही भेद समझने चाहिये ।

### काययोगके भेदोंका स्वरूप —

( १ ) सिर्फ वैक्रियशरीरकेद्वारा धीर्य शक्तिका जो व्यापार होता है, वह 'वैक्रियकाययोग' । यह योग, देवों तथा नारकोंको पर्याप्त अवस्थामें सदा ही होता है । और मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंको वैक्रियलब्धिके बलसे वैक्रियशरीर धारण कर लेनेपर ही होता है । 'वैक्रियशरीर' उस शरीरको कहते हैं, जो कभी एकरूप और कभी अनेकरूप होता है, तथा कभी छोटा, कभी बड़ा, कभी आकाशगामी कभी भूमि-गामी, कभी दृश्य और कभी अदृश्य होता है । ऐसा वैक्रिय शरीर देवों तथा नारकोंका जन्म समयसे ही प्राप्त होता है, इसलिये वह 'औप गनिक' कहलाता है । मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंका वैक्रियशरीर 'लब्धिप्रत्यय' कहलाता है, क्योंकि उन्हें ऐसा शरीर, लब्धिके निमित्तसे प्राप्त हाता है, जन्मसे नहीं ।

( २ ) वैक्रिय और कामण तथा वैक्रिय और औदारिक, इन दो शरीरोंकेद्वारा होनेवाला धीर्य शक्तिका व्यापार, 'वैक्रियमिभकाययोग' है । पहले प्रकारका वैक्रियमिभकाययोग, देवों तथा नारकोंको उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर अपर्याप्त अवस्था तक रहता है । दूसरे प्रकारका वैक्रियमिभकाययोग, मनुष्यों और तिर्यञ्चोंमें तभी पाया जाता है, जब कि वे लब्धिके सहारेसे वैक्रियशरीरका आरम्भ और परित्याग करते हैं ।

( ३ ) सिर्फ आहारकशरीरकी सहायतासे होनेवाला धीर्य-शक्ति-का व्यापार, 'आहारककाययोग' है ।

दृष्टिके समय मिथ्यात्वका उदय जब अधिक प्रमाणमें रहता है, तब तो अज्ञानका अंश अधिक और ज्ञानका अंश कम होता है । पर जब मिथ्यात्वका उदय मन्द और सम्यक्त्व पुद्गलका उदय तीव्र रहता है, तब ज्ञानकी मात्रा ज्यादा और अज्ञानकी मात्रा कम होती है । चाहे मिथ्य दृष्टिकी कैसी भी अवस्था हो, पर उसमें न्यून अधिक प्रमाणमें ज्ञानकी मात्राका सभ्य होनेके कारण उस समयके ज्ञानको अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानना उचित है । इसलिये अज्ञान त्रिकमें दो ही गुणस्थान मानने चाहिये ।

( २ ) तीन गुणस्थान माननेवाले आचार्यका आशय यह है कि यद्यपि तीसरे गुणस्थानके समय अज्ञानको ज्ञान मिथित कहाँ है तथापि मिथ्य ज्ञानको ज्ञान मानना उचित नहीं, उसे अज्ञान ही कहना चाहिये । क्योंकि शुद्ध सम्यक्त्व हुए बिना चाहे कैसा भी ज्ञान हो, पर वह है अज्ञान । यदि सम्यक्त्वके अंशके कारण तीसरे गुणस्थानमें ज्ञानको अज्ञान न मान कर ज्ञान ही मान लिया जाय तो दूसरे गुणस्थानमें भी सम्यक्त्वका अंश होनेके कारण ज्ञानको अज्ञान न मान कर ज्ञान ही मानना पड़ेगा, जो कि इष्ट नहीं है । इष्ट न होनेका सचय यही है कि अज्ञान त्रिकमें दो गुणस्थान माननेवाले भी, दूसरे गुणस्थानमें मति आदिको अज्ञान मानते हैं । सिद्धांतवादीके सिवाय किसी भी कर्मप्रथिक विद्वान्को दूसरे गुणस्थानमें मति आदिको ज्ञान मानना इष्ट नहीं है । इस कारण सास्तादनकी तरह मिथ्यगुणस्थानमें भी मति आदिको अज्ञान मानकर अज्ञान त्रिकमें, तीन गुणस्थान मानना युक्त है ।

अचक्षुर्वर्शन तथा चक्षुर्वर्शनमें धारह गुणस्थान इस अभिप्रायसे

\*—“मिस्सामि वा मिस्सा” इत्यादि ।

अर्थात् मिथ्यगुणस्थानमें अज्ञान, ज्ञान-मिथित है ।

(४) 'आहारकमिश्रकाययोग' वीर्य शक्तिका यह व्यापार है, जो आहारक और औदारिक, इन दो शरीरोंकेद्वारा होता है। आहारक-शरीर धारण करनेके समय, आहारकशरीर और उसका आरम्भ-परित्याग करनेके समय, आहारकमिश्रकाययोग होता है। चतुर्दश पूर्वधर मुनि, सशय दूर करने, किसी सूक्ष्म विषयको जानने अथवा समृद्धि देखनेके निमित्त, दूसरे क्षेत्रमें तीर्थङ्करके पास जानेकेलिये विशिष्ट लब्धिकेद्वारा आहारकशरीर बनाते हैं।

(५) औदारिककाययोग, वीर्य शक्तिका वह व्यापार है, जो सिर्फ औदारिकशरीरसे होता है। यह योग, सब औदारिकशरीरी जीवोंको पर्याप्त-दशामें होता है। जिस शरीरको तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुष धारण करते हैं, जिससे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है, जिसके बननेमें भिंडीके समान थोड़े पुद्गलोंकी आवश्यकता होती है और जो मास हड्डी और नस आदि अवयवोंसे बना होता है, वही शरीर, 'औदारिक' कहलाता है।

(६) वीर्य शक्ति जो व्यापार, औदारिक और कर्मण इन दोनों शरीरोंकी सहायतासे होता है, वह 'औदारिकमिश्रकाययोग' है। यह योग, उत्पत्तिके दूसरे समयसे लेकर अपर्याप्त अथवा पर्यन्त सब औदारिकशरीरी जीवोंको होता है।

(७) सिर्फ कर्मणशरीरकी मददसे वीर्य शक्ति जो प्रवृत्ति होती है, वह 'कर्मणकाययोग' है। यह योग, त्रिप्रहगतिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम समयमें सब जीवोंको होता है। और केवलिसमुद्रा तक तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें केवलीको होता है। 'कर्मणशरीर' वह है, जो कर्म पुद्गलोंसे बना होता है और आत्माके प्रदेशोंमें इस तरह मिला रहता है, जिन तरह दूधमें पानी। सब शरीरोंकी जड़, कर्मणशरीर ही है अर्थात् ज्य इस शरीरका समूल नाश होता है, तभी ससारका उच्छेद हो जाता है। जीव, नये जन्मको

माने जाते हैं कि उक्त दोनों दर्शन क्षायोपशमिक हैं; इससे क्षायिक दर्शनके समय अथात् तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें उनका अभाव हो जाता है, क्योंकि क्षायिक और क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शनका साहचर्य नहीं रहता ।

यथाख्यातचारित्र्यमें अन्तिम चार गुणस्थान माने जानेका अभिप्राय यह है कि यथाख्यातचारित्र्य, मोहनीयकर्मका उदय रूक जाने पर प्राप्त होता है और मोहनीयकर्मका उदयाभाव ग्यारहवेंसे चौदहवें तक चार गुणस्थानोंमें रहता है ॥ २० ॥

मणनाणि सग जयाइ, समइयद्वेय चउ दुशि परिहारे ।  
केवलदुग्धि दो चरमा, जयाइ नव महसुआहिदुगे ॥२१॥

मनोशाने सप्त यताक्षिति, सामायिकच्छेद चत्वारि द्वे परिहारे ।

केवलद्विके द्वे चरमेऽयतादीनि नव मतिभुतावधिद्विके ॥ २१ ॥

अर्थ—मन पर्यायज्ञानमें प्रमत्तसयत आदि सात गुणस्थान, सामायिक तथा छेदोपस्थापनीय-सयममें प्रमत्तसयत आदि चार गुणस्थान परिहारविशुद्धसयममें प्रमत्तसयत आदि दो गुणस्थान, केवल द्विकमें अन्तिम दो गुणस्थान, मतिज्ञान, भुतज्ञान और अवधिद्विक, इन चार मार्गशास्त्रोंमें अधिरतसम्पगृष्टि आदि नौ गुणस्थान हैं ॥ २१ ॥

भावाय—मन पर्यायज्ञानवाले, छूटे आदि सात गुणस्थानोंमें वतमान पाये जाते हैं । इस ज्ञानकी प्राप्तिके समय सातवाँ और प्राप्तिके बाद अथ गुणस्थान होत हैं ।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय, ये दो सयम, छूटे आदि चार गुणस्थानोंमें माने जाते हैं, क्योंकि वीतराग भाव होनेके कारण ऊपरके गुणस्थानोंमें इन सराग-सयमोंका सम्भव नहीं है ।

पुद्गल ही साधा होते हैं, इसलिये उस समय, कामणकाययोग माननेकी जरूरत नहीं है। ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है। क्योंकि प्रथम समयमें, आहाररूपसे ग्रहण किये हुए पुद्गल उसी समय शरीर रूपमें परिणत होकर दूसरे समयमें आहार लेनेमें साधन बन सकते हैं, पर अपने ग्रहणमें आप साधन नहीं बन सकते ॥ २५ ॥

तिरिङ्गितिञ्जयमाभण, -अन।णउवसमअभव्वामिच्छंसु।  
तेराहारदुगूणा, तें उरलदुगूण सुरनरए ॥ २६ ॥

तियक्स्वयतसासादनाशानोपशमाभयामध्यात्वेषु ।

अयोदशाहारकीद्विकोनास्त भौदारिकद्विकोना सुरेनके ॥ २६ ॥

अर्थ—तिर्यञ्जगति, स्त्रीवेद, अचिरति, सास्वादन, तीन अज्ञान, उपशमसम्यक्त्व, अभव्य और मिध्यात्व, इन दस मार्गशास्त्रोंमें आहारक द्विकके सिवाय तेरह योग होते हैं। देवगति और नरक गतिमें उक्त तेरहमेंसे औदारिक द्विकके सिवाय शेष ग्यारह योग होते हैं ॥ २६ ॥

भावाथ—तियञ्जगति आदि उपर्युक्त दस मार्गशास्त्रोंमें आहारक द्विकके सिवाय शेष सय योग होते हैं। इनमेंसे स्त्रीवेद और उपशमसम्यक्त्वको छोड़कर शेष आठ मार्गशास्त्रोंमें आहारकयोग न होनेका कारण सचचिरतिका अभाव ही है। स्त्रीवेदमें सचचिरतिका सभर होनेपर भी आहारकयोग न होनेका कारण स्त्रीजातिको दृष्टिगर्द—जिसमें चौदह पूर्व हैं—पढनेका निषेध है। उपशमसम्यक्त्वमें सचचिरतिका सभर है तथापि उसमें आहारकयोग न माननेका कारण यह है कि उपशमसम्यक्त्वकी आहारकलब्धिका प्रयोग नहीं करते ।

तिर्यञ्चगतिमें तेरह योग कहे गये हैं। इनमेंसे चार मनोयोग, चार वचनयोग और एक औदारिककाययोग, इस तरहसे ये नौ योग पर्याप्त अवस्थामें होते हैं। वैक्रियकाययोग और वैक्रियमिश्रकाययोग पर्याप्त अवस्थामें होते हैं सही पर सब तिर्यञ्चोंको नहीं, किन्तु वैक्रिय-लब्धिके बलसे वैत्रियशरीर बनानेवाले कुछ तिर्यञ्चोंको ही। कर्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग, तिर्यञ्चोंको अपर्याप्त अवस्थामें ही होते हैं।

छांवेदमें तेरह योगोंका सम्भव इस प्रकार है—मनके चार, वचनके चार, दो वैक्रिय और एक औदारिक, ये ग्यारह योग मनुष्य तिर्यञ्च स्त्रीको पर्याप्त अवस्थामें, वैक्रियमिश्रकाययोग देव स्त्रीको अपर्याप्त अवस्थामें, औदारिकमिश्रकाययोग मनुष्य तिर्यञ्च स्त्रीको अपर्याप्त अवस्थामें और कर्मणकाययोग पर्याप्त मनुष्य स्त्रीको केवलिसमुद्धान्त अवस्थामें होता है।

अविरति, सम्यग्दृष्टि, सास्वादन, तीन अज्ञान, अभव्य और मिथ्यात्व, इन सात मार्गणाञ्चोंमें चार मनके, चार वचनके, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त अवस्थामें होते हैं। कर्मण काययोग त्रिग्रहगतिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम क्षणमें होता है। औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र, ये दो योग अपर्याप्त अवस्थामें होते हैं।

१—स्त्रीके मनलव इस जगह द्रव्यस्त्रीवेदमे ही है। क्योंकि उसीमें आहारकयोगका अभाव घट सकता है। भावस्त्रीवेदमें तो आहारकयोगका सम्भव है अर्थात् जो द्रव्यमें पुरुष होकर भावस्त्रीवेदका अनुभव करता है वह भी आहारकयोगवाला होता है। इसी तरह आगे उपयोगाधिकारमें जहाँ वेदमें बारह उपयोग कहे हैं, वहाँ भी वेदका मनलव द्रव्यवेदसे ही है। क्योंकि छायािक उपयोग भाववेदरहितको ही होने हैं, इसलिये भाववेदमें बारह उपयोग नहीं घट सकते। इससे उलटा गुणस्थान अधिकारमें वेदका मतलब भाववेदसे ही है, क्योंकि वेदमें नौ गुणस्थान कहे हुए हैं तो भाववेदमें ही घट सकते हैं द्रव्यवेद तो चौदहवें गुणस्थान पचन्त रहता है।



केवल द्विक, ये तीन उपयोग भी नहीं होते, शेष छह होते हैं । छहमें अवधि द्विकता परिगणन 'सल्लिये' किया गया है कि धायकोंको अवधि उपयोगका वर्णन, शास्त्रमें मिलता है ।

मिश्र-दृष्टिमें छह उपयोग वही होते हैं, जो देशचिरतिमें, पर विशेषता इतनी है कि मिश्र-दृष्टिमें तीन ज्ञान, मिश्रित होते हैं, शुद्ध नहीं अर्थात् मतिज्ञान, मति अज्ञान मिश्रित, श्रुतज्ञान, श्रुत अज्ञान मिश्रित और अग्रधिज्ञान, विमद्गज्ञान मिश्रित होता है । मिश्रितता इसलिये मानी जाती है कि मिश्र-दृष्टिगुणस्थानके समय अर्द्ध विशुद्ध दर्शनमोहनीय पुञ्जका उदय होनेके कारण परिणाम कुछ शुद्ध और कुछ अशुद्ध अर्थात् मिश्र होते हैं । शुद्धि की अपेक्षासे मति आदिको ज्ञान और अशुद्धि की अपेक्षासे अज्ञान बहा जाता है ।

गुणस्थानमें अग्रधिदर्शनका सम्बन्ध विचारनेवाले कर्मग्रन्थिक पक्ष दो हैं । पहला चौथे आदि नौ गुणस्थानोंमें अग्रधिदर्शन मानता है, जो २१वीं गा०में निर्दिष्ट है । दूसरा पक्ष, तीसरे गुणस्थानमें भी अग्रधिदर्शन मानता है, जो ४८वीं गा०में निर्दिष्ट है । इस जगह दूसरे पक्षको लेकर ही मिश्र दृष्टिके उपयोगोंमें अग्रधिदर्शन गिना है ॥ ३ ॥

मणनाणचक्रवज्जा, अणहारि तिल्लि दसण चउ नाणा ।

चउनाणसजमोवस, -मवेयगे ओहिदमे य ॥ ३४ ॥

मनापानचक्रवर्जा अनाहारे त्रीणि दर्शनानि चत्वारि शास्त्रानि ।

चत्तुर्धानसयमोपशमवेदकेऽवधिदर्शने च ॥ ३४ ॥

अर्थ—अनाहारकमार्गणामें मन पर्यायज्ञान और चतुर्दर्शनको छोड़कर, शेष दस उपयोग होते हैं । चार ज्ञान, चार समय, उप

१—त्रैम —श्रीयुग धनपतिमिहजीद्वारा मुद्रित वषामकरा पृ० ७७ ।

२—गोम्मणारामें यही बात मानी हुई है । देखिये जीवकायिकी पृ० १०५ ।

उपशमसम्यक्त्वमें चार मनके, चार घटनके, औदारिक और वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त अवस्थामें पाये जाते हैं। कर्मण्य और वैक्रियमिध, ये दो योग अपर्याप्त अवस्थामें देवोंकी अपेक्षासे समझने चाहिये, क्योंकि जिनका यह मत है कि उपशमधेयिसे गिरने वाले जीव मरकर अनुत्तरविमानमें उपशमसम्यक्त्वसहित जन्म लेते हैं, उनके मतसे अपर्याप्त देवोंमें उपशमसम्यक्त्वके समय उक्त दोनों योग पाये जाते हैं। उपशमसम्यक्त्वमें औदारिकमिधयोग गिना है, सो सैद्धान्तिक मतके अनुसार, कर्मग्रन्थिक मतके अनुसार नहीं क्योंकि कर्मग्रन्थिक मतसे पर्याप्त अवस्थामें फेयलीके सिवाय अन्य किसीको यह योग नहीं होता। अपर्याप्त अवस्थामें मनुष्य तथा तिर्यञ्चको होता है सही, पर उन्हें उस अवस्थामें किसी तरहका उपशमसम्यक्त्व नहीं होता। सैद्धान्तिक मतमें उपशमसम्यक्त्वमें औदारिकमिधयोग घट सकता है, क्योंकि सैद्धान्तिक पिद्धान् वैक्रियशरीरकी रचनाके समय वैक्रियमिधयोग न मानकर औदारिकमिधयोग मानते हैं; इसलिये यह योग, ग्रन्थि भेद-ज-य उपशमसम्यक्त्ववाले वैक्रियलब्धि सपन्न मनुष्यमें वैक्रियशरीरकी रचनाके समय पाया जा सकता है।

देवगति और नरकगतिमें विरति न होनेसे दो आहारकयोगोंका सम्भव नहीं है तथा औदारिकशरीर न होनेसे दो औदारिकयोगोंका सम्भव नहीं है। इसलिये इन चार योगोंके सिधाय शेष ग्यारह योग उक्त दो गतियोंमें कह गये हैं, सो यथासम्भव विचार लेना चाहिये ॥ २६ ॥

१—यह मत स्वयं मन्वकारने ही आगेकी ४२वीं गाथामें इस प्रकारने लिखा है—

“वितन्वगाहारगे हरलमिस्स”

१७वीं गाथामें मनोयोगमें सिर्फ पर्याप्त सत्री जीवस्थान माना है, सो वर्तमान मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । इस गाथामें मनोयोगमें अपर्याप्त पर्याप्त सशक्ति पञ्चेन्द्रिय दो जीवस्थान माने हैं, सो वर्तमान भावी उभय मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । मनोयोगसम्बन्धी गुणस्थान, याग और उपयोगके सम्बन्धमें क्रमसे २२, २८, ३१ वीं गाथाका जो मन्त्र है, इस जगह भी उही है, तथापि फिरसे उल्लेख करनेका मतलब सिर्फ मतान्तरको दिखाना है । मनोयोगमें जीवस्थान और योग विचारनेमें विवक्षा भिन्न भिन्न की गयी है । जैसे — भावी मनोयोगवाले अपर्याप्त सशक्ति पञ्चेन्द्रियको भी मनोयोगी मानकर उसे मनोयोगमें गिना है । पर योगके विषयमें ऐसा नहीं किया है । जो योग मनोयोगके समकालीन हैं, उन्हींको मनोयोगमें गिना है । इसीसे उसमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये दो योग नहां गिने हैं ।

वचनयोगमें आठ जीवस्थान कहे गये हैं । वे ये हैं — द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असशक्ति पञ्चेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त तथा अपर्याप्त । इस जगह वचनयोग, मनोयोगरहित लिया गया है, सो इन आठ जीवस्थानोंमें ही पाया जाता है । १७ वीं गाथामें सामान्य वचनयोग लिया गया है । इसलिये उस गाथामें वचनयोगमें सशक्ति पञ्चेन्द्रिय जीवस्थान भी गिना गया है । इसके सिवाय यह भी भिन्नता है कि उस गाथामें वर्तमान वचनयोगवाले ही वचनयोगके स्वामी नियुक्त हैं, पर इस गाथामें वर्तमानकी तरह भावी वचनयोगवाले भी वचनयोगके स्वामी माने गये हैं; इसी कारण वचनयोगमें वहाँ पाँच और यहाँ आठ जीवस्थान गिने गये हैं ।

वचनयोगमें पहला, दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिक-मिश्र, कार्मण और असत्पामृषावचन, ये चार योग, तथा मति अज्ञान, भ्रुत अज्ञान, चक्षुर्दर्शन और अचक्षुदर्शन, ये चार उपयोग हैं, ११

कम्पुलदुग यावरि, ते सविजञ्चिदुग पच इगि पवणे ।  
छ असनि चरमवहजुय, ते विउचदुगूण चउ विगले ॥२७॥

कर्मणौदारिकद्विक स्थावरे, ते सवैक्रियाद्विका पञ्चैकस्मिन् पवने ।

पडसञ्चिनि चरमवचोयुतारते वैक्रियद्विकोनास्त्वारो विगले ॥२७॥

अर्थ—स्थावरकायमें, फार्मण तथा औदारिक द्विक, ये तीन योग होते हैं । एकेन्द्रियजाति और वायुकायमें उक्त तीन तथा वैक्रिय द्विक, ये कुल पाँच योग होते हैं । असर्गोंमें उक्त पाँच और चरमवचनयोग (असत्यामृपावचन) कुल छह योग होते हैं । विकलेन्द्रियमें उक्त छह-मेंसे वैक्रिय द्विकको घटाकर शेष चार (कर्मण, औदारिकमिश्र, औदारिक और असत्यामृपावचन) योग होते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—स्थावरकायमें तीन योग कहे गये हैं, सो वायुकायके सिवाय अन्य चार प्रकारके स्थावरोंमें समझना चाहिये । क्योंकि वायुकायमें और भी दो योगोंका सम्भव है । तीन योगोंमेंसे कर्मणकाय-योग, विग्रहगतिमें तथा उत्पत्ति समयमें, आदारिकमिश्रकाययोग, उत्पत्ति समयको छोड़कर शेष अपर्याप्त कालमें और औदारिक-काययोग, पर्याप्त अवस्थामें समझना चाहिये ।

एकेन्द्रियजातिमें, वायुकायके जीव भी आ जाते हैं । इसलिये उसमें तीन योगोंके अतिरिक्त, दो वैक्रिययोग मानकर पाँच योग कहे हैं ।

वायुकायमें अन्य स्थानोंकी तरह कर्मण आदि तीन योग पाये जाते हैं, पर इनके सिवाय और भी दो योग (वैक्रिय और वैक्रियमिश्र) होते हैं । इसीसे उसमें पाँच योग माने गये हैं । वायुकायमें पर्याप्त बादर

२२, २८ और ३१वीं गाथामें अनुक्रमसे वचनयोगमें तेरह गुण स्थान, तेरह योग और धारह उपयोग माने गये हैं। इस भिन्नता का कारण वही है। अर्थात् उहाँ वचनयोग सामान्यमात्र लिया गया है, पर इस गाथामें विशेष—मनोयोगरहित। पूर्वमें वचनयोगमें सम कालीन योग विवक्षित है, इसलिये उसमें कर्मण ओदारिकमिश्र, ये दो अपर्याप्त अवस्था भावी योग नहीं गिने गये हैं। परन्तु इस जगह असम-कालीन भी योग विवक्षित है। अर्थात् कर्मण और ओदारिकमिश्र, अपर्याप्त अवस्था भावी होनेके कारण, पर्याप्त अवस्था भावी वचनयोगके असम कालीन हैं तथापि उक्त दो योगवालोंको भविष्यत्में वचनयोग होता है। इस कारण उसमें ये दो योग गिने गये हैं।

काययोगमें सूत्रम और वादर, ये दो पर्याप्त तथा अपर्याप्त, कुल चार जीवस्थान, पहला और दूसरा दो गुणस्थान, ओदारिक, ओदारिकमिश्र, वैश्रिय, वैश्रियमिश्र और कर्मण, ये पाँच योग तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और अचक्षुर्दर्शन, ये तीन उपयोग समझने चाहिये। १६, २२, २५ और ३१वीं गाथामें चौदह जीवस्थान, तेरह गुण स्थान, पन्द्रह योग और धारह उपयोग, काययोगमें बतलाये गये हैं। इस मत भेदका तात्पर्य भी ऊपरके कथनानुसार है। अर्थात् वहाँ सामान्य काययोगको लेकर जीवस्थान आदिका विचार किया गया है, पर इस जगह विशेष। अर्थात् मनोयोग और वचनयोग, उभयरहित काययोग, जो एकेन्द्रियमात्रमें पाया जाता है, उसे लेकर ॥ ३५ ॥

जीव, वैक्रियलब्धि-सपन्न होते हैं, वे ही वैक्रिय द्विकके अधिकारी हैं, सब नहीं। वैक्रियशरीर घनाते समय, वैक्रियमिश्रकाययोग और घना शुक्नेके याद् उसे धारण करते समय वैक्रियकाययोग होता है।

अस्योमें छह योग कहे गये हैं। इनमेंसे पाँच योग तो घायुकाय की अपेक्षासे, क्योंकि सभी एकेन्द्रिय असन्धी ही हैं। छठा असत्या मृपापचनयोग, द्वीन्द्रिय आदिकी अपेक्षासे; क्योंकि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और समूर्च्छिमपञ्चेन्द्रिय, ये सभी असन्धी हैं। 'द्वीन्द्रिय आदि असन्धी जीव, भापालब्धि-युक्त होते हैं, इसलिये उनमें असत्यामृपापचनयोग होता है।

त्रिकलेन्द्रियमें चार योग कहे गये हैं क्योंकि वे वैक्रियलब्धि सपन्न न हानेके कारण वैक्रियशरीर नहीं घना सकते। इसलिये उनमें असन्धीसम्बन्धी छह योगोंमेंसे वैक्रिय द्विक नहीं होता ॥ २७ ॥

कम्मुरलमीसविणु मणा, बडसमडयछेयचक्रवुमण्णनाणे ।  
उरलदुगकम्मपढम, -तिममणवह केवलदुगामि ॥ २८ ॥

कर्मदारिकमिश्र । घना मनोवचरसामायिकचलदचक्षुर्मनोशाने ।

औत्तारक द्विककमप्रथमातिममनावच केवलद्विने ॥ २८ ॥

अर्थ—मनोयोग, घचनयोग, सामायिकचारित्र, छेदोपस्थापनीयचारित्र, चक्षुर्दर्शन और मन पर्यायज्ञान, इन छह मार्गशास्त्रोंमें

“तिण्ह ताव रासीण, षेणव्विअलद्धी चेव नत्थि ।

वादरपञ्चसाण पि, सखज्जइ भागस्स ति ॥”

—इमप्रह-द्वार १ की टीकामें प्रमाणरूपमें उद्धृत ।

अर्थ—अपयौत तथा पर्याप्त सूक्ष्म और अपयौत वादर इन तीन प्रकारके वायुकाय विक्रोंमें तो वैक्रियलब्धि है ही नहीं। पर्याप्त वादर वायुकायमें है परन्तु वह सबमें नहीं सिद्ध—उसके संस्थातमें भागमें ही है।

१७वीं गाथामें मनोयोगमें सिर्फ पर्याप्त सक्षी जीवस्थान माना सो वर्तमान मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । इस गाथा में मनोयोगमें अपर्याप्त पर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रिय दो जीवस्थान माने हैं, वर्तमान भावी उभय मनोयोगवालोंको मनोयोगी मानकर । मनोयोगमन्थकी गुणस्थान, योग और उपयोगके सम्बन्धमें प्र. २२, २८, ३१वीं गाथाका जो मन्तव्य है, इस जगह भी वही है; तदुपरि फ़िरसे उल्लेख करनेका मतलब सिर्फ मत्तान्तरको दिखाना है । मनोयोगमें जीवस्थान और योग विचारनेमें त्रिविधा भिन्न भिन्न की गयी है । जैसे — भागी मनोयोगवाले अपर्याप्त सक्षि पञ्चेन्द्रियको भी मनोयोगी मानकर उसे मनोयोगमें गिना है । पर योगके त्रिपथमें ये नहीं द्रिया है । जो योग मनोयोगके समकालीन हैं, उन्हींको मयागमें गिना है । इसीसे उसमें कार्मण और औदारिकमिश्र, ये योग नहीं गिने हैं ।

वचनयोगमें आठ जीवस्थान कहे गये हैं । वे ये हैं — श्रोत्रिन्द्रिय, शरीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असक्षि पञ्चेन्द्रिय, ये चार पर्याप्त तथा अपर्याप्त । इस जगह वचनयोग, मनोयोगरहित लिया गया है, सो इस आठ जीवस्थानोंमें ही पाया जाता है । १७ वीं गाथामें सामान्य वचनयोग लिया गया है । इसलिये उस गाथामें वचनयोगमें सक्षिपञ्चेन्द्रिय जीवस्थान भी गिना गया है । इसके सिवाय यह भी भिन्नत है कि उस गाथामें वर्तमान वचनयोगवाले ही वचनयोगके त्रिविध हैं; पर इस गाथामें वर्तमानकी तरह भावी वचनयोगवाले भी वचनयोगके स्वामी माने गये हैं; इसी कारण वचनयोगमें वहाँ पाँच और यहाँ आठ जीवस्थान गिने गये हैं ।

वचनयोगमें पहला, दूसरा दो गुणस्थान, औदारिक, औदारिकमिश्र, कार्मण और असत्यामृपावचन, ये चार योग, तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान,

कार्मण तथा औदारिकमिश्रको छोड़कर तेरह योग होते हैं । केवल द्विकमें औदारिक द्विक, कार्मण, प्रथम तथा अन्तिम मनोयोग ( सत्य तथा असत्यामृषामनोयोग ) और प्रथम तथा अन्तिम वचनयोग ( सत्य तथा असत्यामृषावचनयोग), ये सात योग होते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनोयोग आदि उपर्युक्त छह मार्गणाएँ पर्याप्त अवस्थामें ही पायी जाती हैं । इसलिये इनमें कार्मण तथा औदारिक-मिश्र, ये अपर्याप्त अवस्था भावी दो योग, नहीं होते । केवलीको केवलिसमुद्रातमें ये योग होते हैं । इसलिये बद्यपि पर्याप्त अवस्थामें भी इनका समय है तथापि यह जानना चाहिये कि केवलिसमुद्रातमें जब कि ये योग होते हैं, मनोयोग आदि उपर्युक्त छहमेंसे कोई भी मार्गणा नहीं होती । इसीसे इन छह मार्गणाओंमें उक्त दो योगके सिवाय, शेष तेरह योग कहे गये हैं ।

केवल द्विकमें औदारिक द्विक आदि सात योग कहे गये हैं, सो इस प्रकार —मयोगीकेवलीको औदारिककाययोग सदा ही रहता है, सिर्फ केवलिसमुद्रातके मध्यवर्ती छह समयोंमें नहीं होता । औदारिकमिश्रकाययोग, केवलिसमुद्रातके दूसरे, छठे और साठवें समयमें तथा कार्मणकाययोग तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें होता है । दो घंटायोग, देशना देनेके समय होते हैं और दो मनोयोग किसीके प्रश्नका मनसे उत्तर देनेके समय । मनसे उत्तर देनेका मतलब यह है कि जब कोई अनुत्तरविमानयासी देव या मन पर्यायज्ञानी अपने स्थानमें रहकर भासे ही केवलीको प्रश्न करते हैं, तब उनके प्रश्नको केवलज्ञासे जानकर केवली भगवान उसका उत्तर मनसे ही देते हैं । अर्थात् मनोद्रव्यको ग्रहणकर उसकी ऐसी रचना करते हैं कि

१—अग्नि, परिशिष्ट 'ब' ।

२—गोमन्मथार श्रावणारदको २२८वाँ गाणमें भी केनको द्रव्यमनका सम्बन्ध माना है ।





सो इसलिये कि 'अभ्यस' आदि धावकद्वारा वैकियलन्धिसे वैकिय शरीर बनाये जानेकी घात शास्त्रमें प्रसिद्ध है ।

यथाख्यातचारित्रवाला अप्रमत्त ही होता है, इसलिये उस चारित्रमें दो वैकिय और दो आहारक, ये प्रमाद-सहचारी चार योग नहीं होते, शेष ग्यारह होते हैं । ग्यारहमें कार्मण और श्रौदारिकमिथ्र, ये दो योग गिने गये हैं, सो केवलिसमुद्घातकी अपेक्षासे । फयलिसमुद्घातके दूसरे, छठे और सातवें समयमें श्रौदारिकमिथ्र और तीसरे, चौथे और पाँचवें समयमें कार्मणयोग होता है ॥२६॥



१—देखिये औपपत्तिक पृ २६ ।

२—देखिये परिशिष्ट ६ ।

## (५)-मार्गणाओंमें लेश्या ।

छसु लेसासु सठाण, एगिदिथसनिभूदगवणेसु ।

पढमा थउरो तिमि उ, नारयचिगलग्गिपयणेसु ॥३६॥

पद्मु लेश्यासु स्वस्थानमेकोन्द्रवासात्तभूदकवनेषु ।

प्रथमाश्चतस्रसिग्यस्तु, गरकचिकलाग्निपवनेषु ॥ ३६ ॥

अथ—बृह लेश्यामागणाओंमें अपना अपना स्थान है । एकेन्द्रिय, प्रमति पञ्चेन्द्रिय, पृथ्वीकाय, जलकाय और धनस्पतिकाय, इन पाँच मागणाओंमें पहली चार लेश्याएँ हैं । गरकगति, विकलेन्द्रिय त्रिक, मक्षिकाय और धायुकाय, इन छह मागणाओंमें पहली ता लेश्याएँ हैं ॥ ३६ ॥

भाषा—बृह लेश्याओंमें अपना अपना स्थान है, इसका मतलब यह है कि एक समयमें एक जीवमें एक ही लेश्या होती है, दो नहीं । क्योंकि बृह लेश्याएँ समान फलकी अपेक्षासे आपसमें विकृत हैं, कृष्णलेश्यावाले जीवोंमें कृष्णलेश्या ही होती है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये ।

एकन्द्रिय आदि उपयुक्त पाँच मार्गणाओंमें कृष्णने तेज पर्यन्त चार लेश्याएँ मानी जाती हैं । इनमेंसे पहली तीन तो भवप्रत्यय होकर कारण सदा ही पायी जा सकती हैं, पर तेजोलेश्याके सम्बन्ध धर्म यह बान नहीं, वह सिर्फ अर्याप्त अरुस्थामें पायी जाती है । इसका कारण यह है कि जब कोई तेजोलेश्यावाला जीव मरकर पृथ्वीकाय, जलकाय या वायुतिकायमें जनमता है, तब उसे कुछ काल तक पूर्व जन्मकी मरण कालीन तेजोलेश्या रहती है ।

नरकगति आदि उपयुक्त छह मागणाओंके जीवोंमें ऐसे अरुम परिणाम होते हैं, जिससे कि वे कृष्ण आदि अन्य लेश्याओंके अधिकारी नहीं ॥ ३६ ॥

## (४)-मार्गणाओंमें उपयोग ।

[ छह गाथाओंमें । ]

ति अनाण नाण पण चउ, दसण वार जियलक्खणुवयोगा ।  
विणु मणनाणदुकेवल, नव सुरतिरिनिरयअजएसु ॥३०॥

श्रीभ्यशानानि शानानि पञ्च चत्वारि दर्शनानि द्वादश नावक्षणमुपयोगा, ।  
विना मनोशानादकेवल, नव सुरतियद्दनिषायतेपु ॥ ३० ॥

अर्थ—तीन अज्ञान, पाँच ज्ञान और चार दर्शन ये चारह उप-  
योग हैं, जो जीवके लक्षण हैं । इनमेंसे मन पर्यायज्ञान और  
केवल द्विक, इन तीनके भिवाय शेष नौ उपयोग देवगति, तिर्यञ्च  
गति, नरकगति और अविरतमें पाये जाते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—किसी वस्तुका लक्षण, उसका असाधारण धर्म है,  
प्योंकि लक्षणका उद्देश्य, लक्ष्यको अन्य वस्तुओंसे भिन्न ज्ञाना है,  
जो असाधारण धर्ममें ही घट सकता है । उपयोग, जीवके असाधा-  
रण ( धास ) धर्म हैं और अजीयसे उसकी भिन्नता ज्ञाना है  
इसी कारण वे जीवके लक्षण कहे जाते हैं ।

मन पर्याय और केवल द्विक, ये तीन उपयोग सर्वत्र पाये  
हैं, परन्तु देवगति, तिर्यञ्चगति, नरकगति और अविरत में चार  
मार्गणाओंमें सर्वविरतिका समाव नहीं है, इस कारण चार  
उपयोगोंको छोड़कर शेष नौ उपयोग माने जाते हैं ।

अविरतियोंमेंसे शुद्ध सम्यक्त्वोंको तीन  
छह उपयोग और शेष सबको तीन अज्ञान और  
उपयोग समझने चाहिये ॥ ३० ॥

पाँचवें वर्गके साथ छठे वर्गको गुणनेसे जो उन्तीस अङ्क होते हैं, वे ही यहाँ लेने चाहिये। जैसे—२को २के साथ गुणनेसे ४ होते हैं, यह पहला वर्ग। ४के साथ ४को गुणनेसे १६ होते हैं, यह दूसरा वर्ग। १६को १६से गुणनेपर २५६ होते हैं, यह तीसरा वर्ग। २५६को २५६से गुणनेपर ६५५३६ होते हैं, यह चौथा वर्ग। ६५५३६को ६५५३६से गुणनेपर ४२६४६६७२६६ होते हैं, यह पाँचवाँ वर्ग। इसी पाँचवें वर्गकी सहायका उसी सहायके साथ गुणनेसे १८४४६७३४०७३७०६५५१६१६ होते हैं, यह छठा वर्ग। इस छठे वर्गकी सत्याको उपर्युक्त पाँचवें वर्गकी सत्यासे गुणनेपर ७६२२८१६२५१४२६४३३७५६३५४३६/०३३६ होते हैं, ये उन्तीस अङ्क हुए। अथवा १का दूना २, २का दूना ४, इस तरह पूर्व पूर्व सत्याको, उत्तरोत्तर छुटाने दो बार दूना करनेसे, वे ही उन्तीस अङ्क होते हैं।

(ख) उत्कृष्ट—जब समूर्च्छिम मनुष्य पैदा होते हैं, तब वे एक साथ अधिकसे अधिक असत्यात तरु होते हैं, उसी समय मनुष्योंकी उत्कृष्ट सत्या पायी जाती है। असत्यात सत्याके असत्यात भेद हैं, इनमेंसे जो असत्यात सत्या मनुष्योंकेलिये इष्ट है, उसका परिचय शास्त्रमें काल और क्षेत्रों, दो प्रकारसे दिया गया है।

१—समान दो मर्यादके गुणनफलको उन सत्याका वग बहने है। जैसे—५ का वग २५।

२—वे ही उत्तम अङ्क गमज-मनुष्यकी सत्याकेलिये भवशोक सकेतद्वारा गोमन्मर जीवकाण्डकी १५७वीं गाथामें बतलाये हैं।

३—देखिये परिशिष्ट 'घ'।

४—कालमें क्षेत्र अत्यंत सूक्ष्म माना गया है, क्योंकि अङ्गुल प्रमाण सूक्ष्म-श्रेणिके प्रदेशों की मर्यादा अमर्यादा अवसर्पिणीक समयाक बराबर मानी हुई है।

तसजोयवेपसुका, -हारनरपणिदिसनिभवि सब्धे ।

नयणेयरपणलेसा, -कसाइ दस केवलदुगणा ॥ ३१ ॥

प्रसयोगवेदशुक्रआहारकनरपन्चेन्द्रियसंश्लिभय सर्वे ।

नयनेतरपञ्चलेस्याकपाये दस केवलद्विकोना ॥ ३१ H

अर्थ—प्रसकाय, तीन योग, तीन वेद, शुक्रलेश्या, आहारक, मनुष्यगति, पञ्चेन्द्रियजाति, सत्री ओर भव्य, इन तेरह मार्गणाश्रोमै सब उपयोग होते हैं। चक्षुर्दशन, अचक्षुर्दशन, शुक्रके सिवाय शेष पाँच लेश्याएँ और चार कपाय, इन ग्यारह मार्गणाश्रोमै केवल द्विक को जोड़कर शेष दस उपयोग पाये जाते हैं ॥ ३१ ॥

भाषा—प्रसकाय आदि उपर्युक्त तेरह मार्गणाश्रोमैसे योग, शुक्रलेश्या और आहारकत्व, ये तीन मार्गणाएँ तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त और शेष दस, चौदहवें गुणस्था पर्यन्त पायी जाती हैं, इसलिये इन सयमें बारह उपयोग माने जाते हैं। चौदहवें गुणस्थान पर्यन्त वेद पाये जानेका मतनय, द्रव्यवेदसे है, क्योंकि भागवेद तो नौवें गुणस्था तक ही रहता है।

चक्षुर्दशन और अचक्षुर्दशन, ये दो बारहवें गुणस्थान पर्यन्त, कृष्ण आदि तान लेश्याएँ छठे गुणस्थान पर्यन्त, तेज पद्म, दो लेश्याएँ सातवें गुणस्था पर्यन्त और कपायोदय अधिकसे अधिक दसवें गुणस्था पर्यन्त पाया जाता है, इस कारण चक्षुर्दशन आदि उक्त ग्यारह मार्गणाश्रोमै केवल द्विकके सिवाय शेष दस उपयोग होते हैं ॥ ३१ ॥

चउरिदिअसनि दुअना, एदसण इगियितिधावरि अचक्खु।  
तिअनाण दसणदुग, अनाणतिगअभवि मिच्छदुगे ॥ ३२ ॥

इसको छोड़कर, शेष इकतालीस मार्गणाश्रौतमें छहों लेश्याएँ पायी जाती हैं। शेष मार्गणाएँ ये हैं —

१ देवगति, १ मनुष्यगति, १ तिर्यञ्चगति, १ पञ्चेन्द्रियनाति, १ असकाय, ३ योग, ३ वेद, ४ कपाय, ४ ज्ञान (मति आदि), ३ अज्ञान, ३ चारित्र (सामायिक, ज्ञेयोपस्थापनीय और परिहार विशुद्ध), १ देशधिरति, १ अधिरति, ३ दर्शन, १ भयत्व, १ अभयत्व, ३ सम्यक्त्व (ज्ञायिक, ज्ञायोपशमिक और औपशमिक), १ साता दन, १ सम्यग्मिथ्यात्व, १ मिथ्यात्व, १ सक्षित्व, १ आहारकत्व और १ अनाहारकत्व, कुल ४१।

[मनुष्यों, नारकों, देवों और तिर्यञ्चोंका परस्पर उत्पन्न-बहुत्व, ऊपर कहा गया है, उसे ठीक ठीक समझनेकेलिये मनुष्य आदिकी सख्या शास्त्रोक्त रातिके अनुसार दिखायी जाती है]—

मनुष्य जघन्य उन्तीस अङ्क प्रमाण और उत्कृष्ट, असख्यात होत हैं।

(क) जघन्य —मनुष्योंके गर्भज और समूर्च्छिम, ये दो भेद हैं। इनमेंसे समूर्च्छिम मनुष्य किसी समय बिलकुल ही नहीं रहते, केवल गर्भज रहते हैं। इसका कारण यह है कि समूर्च्छिम मनुष्योंकी आयु, अन्तमुहूर्त्त प्रमाण होती है। जिन समय, समूर्च्छिम मनुष्योंकी उत्पत्तिमें एक अतर्मुहूर्त्तसे अधिक समयका अन्तर पड़ जाता है, उस समय, पहलेके उत्पन्न हुए सभी समूर्च्छिम मनुष्य मर चुकते हैं। इस प्रकार नये समूर्च्छिम मनुष्योंकी उत्पत्ति न होनेके समय तथा पहले उत्पन्न हुए सभी समूर्च्छिम मनुष्योंके मर चुकनेपर, गर्भज मनुष्य ही रह जाते हैं, जो कमसे कम नीचे लिखे उन्तीस अङ्कोंके बराबर होते हैं। इसलिये मनुष्योंकी कमसे कम यही सख्या हुई।

चतुरिन्द्रियासक्तिं द्वयज्ञानदर्शनमेकद्विद्वयस्थावरेऽचक्षु ।

यज्ञान दर्शनद्विकमज्ञानत्रिकामव्य मिथ्यात्वादिके ॥ ३२ ॥

अर्थ—चतुरिन्द्रिय और असन्नि पञ्चेन्द्रियमें मति और श्रुत दो अज्ञान तथा चक्षु और अचक्षु दो दर्शन, कुल चार उपयोग होते हैं । एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और पाँच प्रकारके स्थावरमें उक्त चारमेंसे चक्षुर्दर्शनके सिवाय, शेष तीन उपयोग होते हैं । तीन अज्ञान, अमव्य, और मिथ्यात्व द्विक ( मिथ्यात्व तथा नासादन ), इन द्वाद्व मार्गणाओंमें तीन अज्ञान और दो दर्शन, कुल पाँच उपयोग होते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—चतुरिन्द्रिय और असन्नि पञ्चेन्द्रियमें विभङ्गज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है तथा उनमें सम्यक्त्व न होनेके कारण, सम्यक्त्वके सहचारी पाँच ज्ञान और अत्रि और केवल दो दर्शन, ये सात उपयोग नहीं होते, इस तरह कुल आठके सिवाय शेष चार उपयोग होते हैं ।

एकेन्द्रिय आदि उपर्युक्त आठ मार्गणाओंमें नेत्र ७ होनेके कारण चक्षुर्दर्शन और सम्यक्त्व न होनेके कारण पाँच ज्ञान तथा अत्रि और केवल, ये दो दर्शन और तथाविध योग्यता न होनेके कारण विभङ्गज्ञान, इस तरह कुल नौ उपयोग नहीं होने, शेष तीन होने हैं ।

अज्ञान त्रिक आदि उपर्युक्त छह मार्गणाओंमें सम्यक्त्व तथा विरति नहीं है, इसलिये उनमें पाँच ज्ञान और अत्रि-केवल, ये दो दर्शन, इन सातके सिवाय शेष पाँच उपयोग होते हैं ।

सिद्धान्तो, विभङ्गज्ञानीमें अत्रिदर्शन मानते हैं और सास्त्रादन-गुणस्थानमें अज्ञान न मानकर ज्ञान ही मानते हैं, इसलिये इस जगह अज्ञान त्रिक आदि छह मार्गणाओंमें अत्रिदर्शन नहीं माना है और



इसको भी कल्पनासे इस प्रकार समझना चाहिये । २५६ अङ्गुल प्रमाण सूचि श्रेणियोंमें ६५५३६ प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतरके कटिपत १०२४०००००००००००को भाग देना, भागनेसे लब्ध हुए २५६२५०००० । यही मान, ज्योतिषी देवोंका समझना चाहिये ।

वैमानिक देव, असङ्ख्यात ह । इनकी असङ्ख्यात सख्या इस प्रकार दरसायी गयी है — अङ्गुलमात्र आकाश क्षेत्रके जितने प्रदेश हैं, उनके तीसरे वर्गमूलका घन<sup>१</sup> करनेसे जितने आकाश प्रदेश हों, उतनी सूचि श्रेणियोंके प्रदेशोंके बराबर 'वैमानिकदेव' ह ।

इसको कल्पनासे इस प्रकार बनलाया जा सकता है — अङ्गुलमात्र आकाशके २५६ प्रदेश ह । २५६का तीसरा वर्गमूल २।२का घन = है । = सूचि श्रेणियोंके प्रदेश २५६००००० होते ह, क्योंकि प्रत्येक सूचि श्रेणिके प्रदेश, कल्पनासे ३२००००० मान लिये गये हैं । यही सख्या वैमानिकोंकी सख्या समझनी चाहिये ।

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक सब देव मिलकर नारकोंसे असङ्ख्यातगुण होते ह ।

देवोंसे तिर्यञ्चोंके अनन्तगुण होनेका कारण यह है कि अनन्त कायिक-वनस्पति जीव, जो सख्यामें अनन्त हैं, वे भी तिर्यञ्च हैं । क्योंकि घनस्पतिकायिक जीवोंको तिर्यञ्चगतिनामकर्मका उदय होता है ॥ ३७ ॥

१—किमी मर्यादाके बगल साथ उम मर्यादको गुणनेसे जो गुणनफल प्राप्त होता है वह उम सख्याका घन है । जैसे — ६का बग १६ उमके साथ ४को गुणनेसे ६४ होता है । यही चारका घन है ।

२—सब वैमानिकोंकी मूल्या गोम्मतमारमें एक साथ न देकर जुदा-जुदा ही है ।

सास्वादनमागणामें ज्ञान नहीं माना है, सो कर्मप्रथिक मतके अनुसार समझना चाहिये ॥ ३२ ॥

केवलदुगे निगदुग, नव तिश्चनाण विणु खइघअहखाये ।  
दसणनाणतिग दे,सि मीसि अन्नाणमीस त ॥ ३३ ॥

केवलदुगे निगदुग, नव यज्ञान विना क्षायकयथाख्याते ।

दशनज्ञानात्रिन् देश मिभेऽज्ञानमिभ तत् ॥ ३३ ॥

अर्थ—केवल द्विकमें निज द्विक (केवलज्ञान और केवलदर्शन) दो ही उपयोग हैं । क्षायिकसम्यक्त्व और यथाख्यातचारित्रमें तीन अज्ञानको छोड़, शेष नौ उपयोग होते हैं । देशविरतिमें तीन ज्ञान और तीन दर्शन, ये छह उपयोग होते हैं । मिथ-दृष्टिमें वही उपयोग अज्ञान मिश्रित होते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—केवल द्विकमें केवलज्ञान और केवलदर्शन दो ही उपयोग माने जानेका कारण यह है कि मतिज्ञान आदि शेष दस क्षाप्रस्थिक उपयोग, केवलीको नहां होते ।

क्षायिकसम्यक्त्वके समय, मिथ्यात्वका अभाव ही होता है । यथाख्यातचारित्रके समय, ग्यारहवें गुणस्थानमें मिथ्यात्व भी है, पर सिफ सत्तागत, उदयमान नहीं, इस कारण इन दो मार्गणाओंमें मिथ्यात्वोदय सहभाषी तीन अज्ञान नहीं होते । शेष नौ उपयोग होते हैं । सो इस प्रकार—उक्त दो मार्गणाओंमें क्षाप्रस्थ अवस्थामें पहले चार ज्ञान तथा तीन दर्शन, ये सात उपयोग और केवलि अवस्थामें केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो उपयोग ।

देशविरतिमें, मिथ्यात्वका उदय न होनेके कारण तीन अज्ञान नहीं होते और सर्धविरतिकी अपेक्षा रखनेवाले मन पर्यायज्ञान और

१६का कल्पनासे असख्यातवाँ भाग २ मात्र लिया जाय तो २ सूचि-श्रेणियोंके प्रदेशोंके बराबर असुरकुमार हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणिके ३२००००० प्रदेश कल्पनासे माने गये हैं। तदनुसार २ सूचि-श्रेणियोंके ६४००००० प्रदेश हुए। यही सख्या असुरकुमार आदि प्रत्येक भवनपतिकी समझनी चाहिये, जो कि वस्तुतः असख्यात ही है।

व्यन्तरनिकायके देव भी असख्यात हैं। इनमेंसे किसी एक प्रकारके व्यन्तर देवोंकी सख्याका मान इस प्रकार बतलाया गया है। सङ्ख्यात योजन प्रमाण सूचि-श्रेणिके जितने प्रदेश हैं, उनसे घनाकृत लोकके मण्डकाकार समग्र प्रतरके प्रदेशोंको भाग दिया जाय, भाग देनेपर जितने प्रदेश लब्ध होते हैं, प्रत्येक प्रकारके व्यन्तर देव उतने होते हैं।

इसे समझनेकेलिये कल्पना कीजिये कि सङ्ख्यात योजन प्रमाण सूचि-श्रेणिके १०००००० प्रदेश हैं। प्रत्येक सूचि-श्रेणिके ३२००००० प्रदेशोंकी कल्पित सख्याके अनुसार, समग्र प्रतरके १०२४०००००००००००० प्रदेश हुए। अब इस सख्याको १०००००० भाग देनेपर १०२४०००० लब्ध होने हैं। यही एक व्यन्तरनिकायकी सङ्ख्या हुई। यह सङ्ख्या वस्तुतः असख्यात है।

ज्योतिषी देवोंकी असङ्ख्यात सङ्ख्या इस प्रकार मानी गयी है। २५६ अहुल प्रमाण सूचि-श्रेणिके जितने प्रदेश होते हैं, उनसे समग्र प्रतरके प्रदेशोंको भाग देना, भाग देनेसे जो लब्ध हों, ज्योतिषी देव हैं।

१—व्यन्तरका प्रमाण गोमन्सारमें यही जान पड़ता है। देखिये जीवकारकी भी गाथा।

२—ज्योतिषी देवोंकी मख्या गोमन्सारमें भिन्न है। देखिये भी गाथा।

मनुष्य स्त्रियाँ मनुष्यजातिके पुष्पोंसे मतार्ईसगुनी' और ईस अधिक होती ह । देत्रियाँ देवोंमें बत्तीसगुनी' और बत्तीसक होती हैं । इसी कारण पुष्पोंसे स्त्रियाँ सत्यातगुण मानी हैं । एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असहि पञ्चेन्द्रिय नास्क, ये सब नपुसक ही हैं । इसीसे नपुसक स्त्रियोंकी ता अनन्तगुण माने हुए हैं ॥ ३६ ॥

य, ज्ञान, सयम और दर्शनमार्गणाश्रोका अल्प-बहुत्व.-

[ तीन गाथाआषे । ]

श्री कोही माई, लोही अहिय मणनाणिनो थोवा ।

असखा मडसुय, अहियसम असख विन्मगा ॥४०॥

क्रोधिना मायनो, लोभिनोऽविका मनापानन स्ताका ।

योऽसखा मतिश्रुता, अधिकास्समा भगद्ध्या विमङ्गा ॥ ४० ॥

अर्थ—मानकपायवाले अन्य कपायवालोंसे थोडे हैं । क्रोधी नियोंसे विशेषाधिक हैं । मायाजी क्रोधियोंसे विशेषाधिक हैं । भी मायाधियोंसे विशेषाधिक हैं ।

मन पर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे थोडे हैं । अधिज्ञानी । पर्यायज्ञानियोंसे अस्वल्पगुण हैं । मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी । परसमें तुल्य हैं । परन्तु अधिज्ञानियोंसे विशेषाधिक ही हैं । भङ्गज्ञानी श्रुतज्ञानवालोंसे असद्व्यगुण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ—मानवाले क्रोध आदि अन्य कपायवालोंसे कम हैं, उका कारण यह है कि मानकी स्थिति क्रोध आदि अन्य कपायों । स्थितिकी अपेक्षा अल्प है । क्रोध मानकी अपेक्षा अधिक देर

१—देखिये, पञ्चमप्रद श्लो २ गा० ६५ ।

२—देखिये, पञ्चमप्रद श्लो २ गा० ६६ ।

अल्प-बहुत्व सख्यातगुण कह्य है। कापोतलेश्या, अनन्तघनस्फटिका-  
यिक जीवोंको होती है, इसी सबसे कापोतलेश्यावाले तेजोलेश्या-  
वालोंसे अनन्तगुण कहे गये हैं। नीललेश्या, कापोतलेश्यावालोंसे  
अधिक जीवोंमें और कृष्णलेश्या, नीललेश्यावालोंसे भी अधिक  
जीवोंमें होती है; क्योंकि नीललेश्या कापोतकी अपेक्षा क्लिष्टतर अथ  
वसायरूप और कृष्णलेश्या नीललेश्यासे क्लिष्टतम अथर्वसायरूप है।  
यह देखा जाता है कि क्लिष्ट, क्लिष्टतर और क्लिष्टतम परिणामवाले  
जीवोंकी सख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक ही होती है।

अन्य जीव, अभव्य जीवोंकी अपेक्षा अनन्तगुण हैं, क्योंकि अभव्य  
जीव 'जघन्ययुक्त' नामक चौथी अनन्तसख्या प्रमाण है, पर भव्य  
जीव अनन्तानन्त हैं।

श्रीपशुमिदसम्यक्त्यको त्याग कर जो जीव मिथ्यात्वकी ओर  
झुकते हैं, उन्हींको सासादनसम्यक्त्य होता है, दूसरोंको नहीं।  
इसीसे अन्य सब दृष्टिवालोंसे सासादनसम्यग्दृष्टिवाले कम ही  
पाये जाते हैं। जितने जीवोंको श्रीपशुमिदसम्यक्त्य प्राप्त होता है, वे  
सभी उस सम्यक्त्यको बमन कर मिथ्यात्वके अमिमुख नहीं होते,  
किन्तु कुछ ही होते हैं, इसीसे श्रीपशुमिदसम्यक्त्यसे गिरनेवालोंकी  
अपेक्षा उसमें स्थिर रहनेवाले सख्यातगुण पाये जाते हैं ॥ ४३ ॥

मीसा सखा वेयग, असखगुण स्वइयमिच्छ द्वु अणता ।  
सनियर थोव एंता, एहार थोवेयर असंखा ॥ ४४ ॥

मिभा सग्या वेदका, भसखगुणा आयिकमिष्या द्वावनत्तौ ।

सशातरे स्तोकावन्ता, अनाहारका स्तोका इतरेऽसख्या ॥ ४४ ॥

अर्थ—मिश्रदृष्टिवाले, श्रीपशुमिदसम्यग्दृष्टिवालोंसे सख्यात-  
गुण हैं। वेदक (सायोपशुमिद) सम्यग्दृष्टिवाले —

## योग और वेदमार्गणाका अल्प बहुत्व ।

मणवयणकायजोगा, थोवा असखगुण अणतगुणा ।  
पुरिसा थोवा इत्थी, सखगुणाणतगुण कीवा ॥ ३६ ॥

मनावचनकाययोगा, स्तोका अमङ्गयगुणा अनतगुणा ।

पुरुषा स्तोका खिय, सङ्खयगुणा अनन्तगुणा कीवा ॥३९॥

अर्थ—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे थोडे हैं । वचनयोगवाले उनसे असत्यातगुण और काययोगवाले वचनयोगवालोंसे अनन्तगुण हैं ।

पुरुष सबसे थोडे हैं । स्त्रियाँ पुरुषोंसे सहघातगुण और नपुंसक स्त्रियोंसे अनन्तगुण हैं ॥ ३६ ॥

भाषा—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे इसलिये थोडे माने गये हैं कि मनोयोग सक्षी जीवोंमें ही पाया जाता है और सक्षी जीव अन्य सब जीवोंसे अल्प ही हैं । वचनयोगवाले मनोयोगवालोंसे असहघगुण कहे गये हैं । इसका कारण यह है कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असक्षि पञ्चेन्द्रिय आर सक्षि पञ्चेन्द्रिय, ये सभी वचन योगवाले हैं । काययोगवाले वचनयोगियोंसे अनन्तगुण इस अभिप्रायसे कहे गये हैं कि मनोयोगी तथा वचनयोगीके अतिरिक्त एकेंद्रिय भी काययोगवाले हैं ।

तियञ्च स्त्रियाँ तिर्यञ्च

होती

१—यह अथ बहु-व प्रयापनाके (३३) सख्याका विचार किया है । देखिये जीव०

वेद विषयक अल्प-बहुत्वका विचार

गा २७६—२८० ।

। पदह योगोंको लेकर

प्रकारमे है । देखिये

असख्यातगुण हैं । ज्ञायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीव, वेदकसम्यग्दृष्टिवालोंसे अनन्तगुण हैं । मिथ्यादृष्टिवाले जीव, ज्ञायिकसम्यग्दृष्टिवाले जीवोंसे भी अनन्तगुण हैं ।

सही जीव, असही जीवोंकी अपेक्षा कम हैं और असही जीव, उनसे अनन्तगुण हैं । अनाहारक जीव, आहारक जीवोंकी अपेक्षा कम हैं और आहारक जीव, उनसे असख्यातगुण हैं ॥५४॥

भाषार्थ—मिथ्रदृष्टि पानेवाले जीव दो प्रकारके हैं । एक तो वे, जो पहले गुणस्थानको छोड़कर मिथ्रदृष्टि प्राप्त करते हैं और दूसरे वे, जो सम्यग्दृष्टिसे च्युत होकर मिथ्रदृष्टि प्राप्त करते हैं । इसीसे मिथ्रदृष्टिवाले औपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंसे सख्यातगुण हो जाते हैं । मिथ्रसम्यग्दृष्टिवालोंसे ज्ञायोपशमिकसम्यग्दृष्टिवालोंके असख्यातगुण होनेका कारण यह है कि मिथ्रसम्यक्त्वकी अपेक्षा ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्वकी स्थिति बहुत अधिक है, मिथ्रसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहत्तको ही होती है, पर ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्वकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक लघुसाठ सागरोपमकी । ज्ञायिकसम्यक्त्वकी, ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्वियोंसे अनन्तगुण हैं, क्योंकि सिद्ध अनन्त हैं और वे सब ज्ञायिकसम्यक्त्वकी ही हैं । ज्ञायिकसम्यक्त्वियोंसे भी मिथ्यात्वियोंके अनन्तगुण होनेका कारण यह है कि सब धनस्पतिकायिक जीव मिथ्यात्वकी ही हैं और वे सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं ।

देव, नारक, गभज मनुष्य तथा गर्भज तिर्यञ्च ही सही हैं, शय सब ससारी जीव असही हैं, जिामें अनन्त धनस्पतिकायिक जीवों का समावेश है इसीलिये असही जीव सश्रियोंकी अपेक्षा अनन्त गुण फट्टे जाते हैं ।

विघ्नहर्गतिमें वर्तमान, केवलिसमुद्घातके तीसर, चौथे और पाँचवें समयमें वर्तमान, चौदहवें गुणस्थानमें वर्तमान और





ये सब जीव अनाहारक हैं, शेष सब आहारक हैं । इसीसे अनाहारकोंकी अपेक्षा आहारक जीव असख्यातगुण कहे जाते हैं । वनस्पतिकायिक जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं और वे सभी ससारी होनेके कारण आहारक हैं । अत एव यह शङ्का होनी है कि आहारक जीव, अनाहारकोंकी अपेक्षा अनन्तगुण होने चाहिये, असत्य गुण कैसे ?

इसका समाधान यह है कि एक एक निगोद गोलकमें अनन्त जीव होते हैं, इनका असख्यातगाँ भाग प्रतिसमय भरता और विग्रहगतिमें वर्तमान रहता है । ऊपर कहा गया है कि विग्रहगतिमें वर्तमान जीव अनाहारक हो होते हैं । ये अनाहारक इतने अधिक होते हैं, जिससे कुल आहारक जीव, कुल अनाहारकोंकी अपेक्षा अनन्तगुण कमी नहीं होने पाते, किन्तु असख्यातगुण ही रहते हैं ॥४४॥

## योग और वेदमार्गणाका अल्प बहुत्व ।

मणवयणकायजोगा, थोवा असखगुण अणतगुणा ।  
पुरिसा थोवा इत्थी, सखगुणाणतगुण कीवा ॥ ३६ ॥

मनावचनकाययोगा, स्तोका अनङ्गयगुणा अनन्तगुणा ।

पुरुषा स्तोका स्त्रिय, सङ्गयगुणा अनन्तगुणा ह्रीवा ॥३९॥

अथ—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे थोडे हैं । वचनयोगवाले उनसे असत्घातगुण और काययोगवाले वचनयोगवालोंसे अनन्तगुण हैं ।

पुरुष सबसे थोडे ह । स्त्रियाँ पुरुषोंसे सङ्घातगुण और नपुसक स्त्रियोंसे अनन्तगुण हैं ॥ ३६ ॥

भाषा—मनोयोगवाले अथ योगवालोंसे इसलिये थोडे माने गये हैं कि मनोयोग सक्षी जीवोंमें ही पाया जाता है और सक्षी जीव अन्य सब जीवोंसे अल्प ही हैं । वचनयोगवाले मनोयोगवालोंसे असङ्घयगुण कहे गये हैं । इसका कारण यह है कि द्वान्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असङ्घि पञ्चेन्द्रिय और सङ्घि पञ्चेन्द्रिय, ये सभी वचन योगवाले हैं । काययोगवाले वचनयोगियोंसे अनन्तगुण इस अभिप्रायसे कहे गये हैं कि मनोयोगी तथा वचनयोगीके अतिरिक्त एकेन्द्रिय भी काययोगवाले हैं ।

तिथञ्च स्त्रियाँ तिर्यञ्च पुरुषोंसे तीन गुनी और तीन

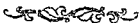
१—यद्यपि अथ बहुत्व प्रमाणनाक १३४वें पृष्ठमें है ।

सत्याका विचार किया है । देविये नीचे गा० २

वेद विषयक अथ-बहुत्वका विचार भी

गा० २७६—२८० ।

## द्वितीयाधिकारके परिशिष्ट ।



### परिशिष्ट "ज" ।

पृष्ठ ५२, पङ्क्ति २३के 'योगमार्गणा' शब्दपर—

तीन योगोंके बाह्य और आन्ध्यन्तर कारण लिखा कर उनकी व्याख्या राजवातिकमें बहुत ही स्पष्ट का यह है । उसका सारांग इस प्रकार है —

(क) बाह्य और आन्ध्यन्तर कारणोंमें होनेवाला जो मननके अभिमुख आत्माका प्रदरा परिस्पन्द बद्ध मनोयोग है । इसका बाह्य कारण मनोवर्गणाका आत्मस्वन और आन्ध्यन्तर कारण बीर्यांतरायकर्मका छय छयोपशम तथा नाश्ट्रियावरणकर्मका छय छयोपराम (मनो लम्बि) है ।

(ख) बाह्य और आन्ध्यन्तर कारण-जन्य आत्माका भाषाभिमुख प्रदरा परिस्पन्द वचन योग है । इसका बाह्य कारण पुद्गलविषयो शरीरनामकर्मक उदयसे होनेवाला वचनवर्गणाका आत्मस्वन है और आन्ध्यन्तर कारण धीयान्तरायकर्मका छय छयोपशम तथा मतिज्ञानावरण और अक्षरश्रुतज्ञानावरण आदि कर्मका छय छयोपराम (वचनलम्बि) है ।

(ग) बाह्य और आन्ध्यन्तर कारण-जन्य गमनादि-विषयक आत्माका ध्येय-परिस्पन्द 'काय योग' है । इसका बाह्य कारण किमी न किमी प्रकारकी शरीरवर्गणाका आत्मस्वन है और आन्ध्यन्तर कारण बीर्यान्तरायकर्मका छय छयोपराम है ।

यद्यपि तेरहवें और चौदहवें इन दोनों गुणस्थानोंके समय बीर्यान्तरायकर्मका छय रूप आन्ध्यन्तर कारण समान ही है परन्तु वर्गणात्मस्वनरूप बाह्य कारण समान नहीं है । अर्थात् बद्ध तेरहवें गुणस्थानके समय पाया जाता है पर चौदहवें गुणस्थानके समय नहीं पाया जाता । इसीसे तेरहवें गुणस्थानमें योग-विधि होती है चौदहवेंमें नहीं । इसकालिये देखिये, तत्त्वार्थ कण्ठाप ६ सू १ राजवातिक १० ।

योगक विषयमें शाङ्खा-न्यसाधन —

(क) यह शाङ्खा हीकी है कि मनोयोग और वचनयोग काययोग ही है क्योंकि इन दोनों योगोंके समय शरीरका व्यापार अवश्य रहना ही है और इन योगोंके आत्मस्वनभूत मनोद्वय तथा भावद्वयका प्रहण भी किमी-न किमी प्रकारक शारीरिक-योगमें ही जाना है ।

हैं। मनुष्य स्त्रियाँ मनुष्यजातिके पुण्योंसे सत्ताईसगुनी' और सत्ताईस अधिक होती हैं। देवियाँ देवोंमें बत्तीसगुनी और बत्तीस अधिक होती हैं। इसी कारण पुण्योंसे स्त्रियाँ सत्यातगुण मानी हुई हैं। एकेन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय पर्यन्त सब जीव, असक्षि पञ्चेन्द्रिय और नारक, ये सब नपुंसक ही हैं। इसीसे नपुंसक स्त्रियोंकी अपेक्षा अनन्तगुण माने हुए हैं ॥ ३६ ॥

कपाय, ज्ञान, समय और दर्शनमार्गणाओंका अल्प-बहुत्व,—

[ तीन गाथाओंसे । ]

माणी कोही माई, लोही अहिय मणनाणिनो थोवा ।

ओहि असरा मडसुय, अहियसम असख विवमगा ॥४०॥

मानिन श्रोधिना मायनो, लोभिनोऽधिका मनात्तानन म्ताका ।

अवधयोऽसरा मतिश्रुता, अधिकांसमा असङ्ख्या विवङ्गा ॥ ४० ॥

अर्थ—मानकपायवाले अन्य कपायवालोंसे थोड़े हैं। क्रोधो मानियोंसे विशेषाधिक हैं। मायावी क्रोधियोंसे विशेषाधिक हैं। लोभी मायावियोंसे विशेषाधिक हैं।

मन पर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे थोड़े हैं। अवधिज्ञानी मन पर्यायज्ञानियोंसे असत्यगुण हैं। मतिज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी आपसमें तुल्य हैं। परन्तु अग्रधिज्ञानियोंसे विशेषाधिक ही हैं। विभङ्गज्ञानी श्रुतज्ञानवालोंसे असत्यगुण हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ—मानवाले क्रोध आदि अन्य कपायवालोंसे कम हैं, कि मानकी स्थिति क्रोध आदि अन्य कपायों-  
अल्प है। क्रोध मानकी अपेक्षा अधिक देर

इसका समाधान वही है कि मनोयोग तथा वचनयोग, काययोगसे जुग नग है किन्तु काययोग विशेष ही है । जो काययोग मनन करनेमें सहायक होता है वही उष समय 'मनो योग' और जो काययोग भाषाके बोलनेमें सहायक होता है वही उस समय वचनयोग माना गया है । मार्ग यह है कि व्यवहारकेलिये ही काययोगके तीन भेद किये हैं ।

(ख) यह भी शक्य होती है कि उक्त रीतिसे श्वासेच्छाममें सहायक होनेवाले काययोग का 'श्वासेच्छामयोग' कहना चाहिये और तीनको जगह चार योग मानने चाहिये ।

इसका समाधान यह दिया गया है कि व्यवहारमें, जैसा भाषाका और मनका विगिष्ट प्रयोजन दीखता है, वैसा श्वासेच्छामका नहै । अर्थात् श्वासेच्छाम और शरीरका प्रयोजन वैसा भिन्न नहीं है जैसा शरीर और मन-वचनका । इसीसे तीन ही योग माने गये हैं । इस विषयके विगिष्ट विचारकेलिये विगेष वर्यक माध्य गा० ३६६—३६४ तथा लक्ष्मणरास-संग ३ श्लो० २३४८—२३४५ के बीचका गद्य दवाग्य चाहिये ।

द्रव्यमन द्रव्यवचन अथ शरीरका स्वरूप —

(क) जो पुष्टल मन बननेके योग्य है अिनको शक्यमें मनोवगणा करण है वे जब मनरूपमें परिणत हो जाते हैं—विचार करनेमें सहायक हो सकें ऐसी स्थितिको प्राप्त कर लेते हैं—तब उन्हें मन कहते हैं । शरीरमें द्रव्यमनक रहनेका कार्य श्वासेच्छाम तथा उमका नियत आकार श्वासेच्छामियोंमें नहीं है । श्वेताम्बर-सम्प्रदायके अजुमार द्रव्यमनको शरीर व्यापी और शरीरकर समझना चाहिये । शिगम्बर-सम्प्रदायमें उत्सवा स्थान हृदय तथा आकार कमल ब्रह्मा माना है ।

(ख) वचनरूपमें परिणत एक प्रकारके पुष्टल अिद्धे मपावगणा कहते हैं वही वचन कहलाते हैं ।

(ग) जिसस चलना फिरना खाना पीना आदि हो सकता है, जो सुख दुःख भोगनेका स्थान है और जो औद्योगिक, वैक्रिय आदि वगणाओंसे बनता है वह शरीर कहलाता है ।



तक ठहरता है । इसीसे क्रोधगाले मानियोंसे अधिक हैं । मायाकी स्थिति क्रोधकी स्थितिसे अधिक है तथा वह क्रोधियोंकी अपेक्षा अधिक जीवोंमें पायी जाती है । इसीसे मायावियोंको क्रोधियोंकी अपेक्षा अधिक कहा है । मायावियोंसे लोभियोंको अधिक कहनेका कारण यह है कि लोभका उदय दसवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है, पर मायाका उदय नववें गुणस्थान तक ही ।

जो जीव मनुष्य दहधारी, सयमवाले और अनेक लब्धि सम्पन्न हों, उनको ही मन पर्यायज्ञान होता है । इसीसे मन पर्यायज्ञानी अन्य सब ज्ञानियोंसे अल्प है । सम्यक्त्वकी कुछ मनुष्य तिर्यञ्चोंको और सम्यक्त्वकी नव देव-नारकोंको अवधिज्ञान होता है । इसीकारण अवधिज्ञानी मन पर्यायज्ञानियोंसे असत्यगुण हैं । अवधिज्ञानियोंके अतिरिक्त सभी सम्यक्त्वकी मनुष्य तिर्यञ्च मति श्रुत ज्ञानवाले हैं । अत एव मति श्रुत ज्ञानी अवधिज्ञानियोंसे कुछ अधिक हैं । मति-श्रुत दोनों, नियमसे सहचारी हैं, इसीसे मति श्रुत ज्ञानवाले आपसमें तुल्य हैं । मति श्रुत ज्ञानियोंसे विभक्तज्ञानियोंके असत्यगुण होने का कारण यह है कि मिथ्यादृष्टिवाले देव नारक, जो कि विभक्तज्ञानी ही हैं, वे सम्यक्त्वकी जीवोंसे असत्यगुण हैं ॥ ४० ॥

केवलिणो णतगुणा, महसुयअन्नाणि णतगुण तुल्ला ।

सृष्टुमा थोवा परिहार सख अहखाय सखगुणा ॥४१॥

कवलिनोऽनन्तगुणा, मतिश्रुताऽज्ञानिनोऽनन्तगुणास्त्वया ।

सू मा स्तोका परिहारा सख्या यथाख्याता सखगुणा ॥ ४१ ॥

अर्थ—केवलज्ञानी विभक्तज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं । मति अज्ञानी और श्रुत अज्ञानी, ये दोनों आपसमें तुल्य हैं, परन्तु केवलज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं ।

## परिशिष्ट "क्ष" ।

## पृष्ठ ६५, पङ्क्ति ८के 'सम्यक्त्व' शब्दपर—

इसका स्वरूप विशेष प्रकारसे जाननेकेलिये निम्न-लिखित कुछ बातोंका विचार करना बहुत उपयोगी है—

(१) सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक ?

(२) चायोपरामिक भाषि में क्या आधार क्या है ?

(३) औपशमिक और चायोपरामिक सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर तथा चायिकसम्बन्ध की विरापना ।

(४) शास्त्रा समाधान विषाकोण्य और प्रदेशोदयका स्वरूप ।

(५) चायोपराम और उपशमकी व्याख्या तथा युक्तानुसार विचार ।

(१)—सम्यक्त्व परिणाम सहेतुक है या निर्हेतुक ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि उगरी निहत्तुक नहीं मान सकते क्योंकि जो वस्तु निर्हेतुक हो वह सब कालमें सब जगह प्रकटी होती चाहिये अथवा उसका अभाव होना चाहिये । सम्यक्त्व परिणाम न तो सबमें ममान है और न उसका अभाव है । इसलिये हम सहेतुक मानना ही चाहिये । सहेतुक मान लेनेपर यह प्रश्न होता है कि उसका नियत हेतु क्या है प्रवचन श्रवण, भगवत्पूजन आदि की-जा बाध निमित्त माने जाते हैं व लो सम्यक्त्वक नियत कारण ही ही नहीं सकते क्योंकि इन बाध निमित्तोंके होने हुए भी अमर्त्योंकी तरह अनेक अर्म्भोंकी सम्यक्त्व प्राप्ति नहीं होती । परन्तु इसका उत्तर शनना ही है कि सम्यक्त्व परिणाम प्रकट होनेमें नियत कारण जीवका तत्वादिष मन्वत्व-नामक अनापि परिणामिक-स्वभाव विशेष ही है । जब इस परिणामिक मन्वत्वका परि पाक होता है सभी सम्यक्त्व-स्वभाव होता है । मन्वत्व परिणाम साध्य रोगके समान है । कई साध्य रोग रक्तमेष (बाध उप यक विना ही) शांत हो जाता है । किन्ती साध्य रोगके शान्त होनेमें वैषिकी उपचार भी दरकार है और कोई साध्य रोग ऐसा भी होता है जो बहुत दिनोंके बाद मिटता है । मन्वत्व-स्वभाव ऐसा ही है । अनेक जीवोंका मन्वत्व बाध निमित्तक विना ही परिपक प्राप्त करता है । एम मा जीव है जिनके मन्वत्व-स्वभावका परिपाक होनेमें शास्त्र-श्रवण आदि बाध निमित्तोंकी आवश्यकता पड़ती है । और अनेक जीवोंका मन्वत्व परिणाम दीप्त काल स्वतः ही शुकनेपर स्वयं ही परिपाक प्राप्त करता है । शास्त्र श्रवण अहत्पूजन भाषि की बाध निमित्त है वे सहाकारोभास है । उनवद्वारा कभी कभी मन्वत्वका परिपाक होनेमें मदद मिलती है इसीसे व्यवहारमें वे सम्यक्त्वके कारण माने गये हैं और उनके अलापनकी अवश्यकता दिखायी जाती है । परन्तु निश्चय-दृष्टिसे तत्वादिष मन्वत्वके विपाककी ही

हारविशुद्धचारित्रवाले सूक्ष्मसम्परायचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं । यथाव्यातचारित्रवाले परिहारविशुद्धचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं ।

भाषार्थ—सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी केवलज्ञानी हैं, इसीसे केवलज्ञानी विभङ्गज्ञानियोंसे अनन्तगुण हैं । वनस्पतिकायिक जीव सिद्धोंसे भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मति अज्ञानी तथा श्रुत अज्ञानी ही हैं । अत एव मति अज्ञानी तथा श्रुत अज्ञानी, दोनोंका केवलज्ञानियोंसे अनन्तगुण होना सगत है । मति और श्रुत ज्ञानकी तरह मति और श्रुत अज्ञान, नियमसे सहचारी हैं, इसीसे मति अज्ञानी तथा श्रुत अज्ञानी आपसमें तुल्य हैं ।

सूक्ष्मसंपरायचारित्र्यी उत्कृष्ट दो सोमे नौ सौ तक, परिहार-विशुद्धचारित्र्यी उत्कृष्ट दो हजारसे नौ हजार तक और यथाव्यात-चारित्र्यी उत्कृष्ट दो करोडसे नौ करोड तक हैं । अत एव इन तीनों प्रकारके चारित्रियोंका उत्तरोत्तर भक्ष्यातगुण अल्प-बहुत्व माना गया है ॥ ४१ ॥

छेयसमर्ह्य सखा, देस असखगुण एतगुण अजया ।

योवअसखदुणता, घोहिनयणकेवलअचक्खू ॥४२॥

छेदसामायिका सरया, देश अक्षरयगुणा अनतगुणा अयता ।

स्तोकाऽसख्यद्वयनतान्यवधिनयनकेवलाचक्षुषि ॥ ४२ ॥

अर्थ—छेदोपस्थापनीयचारित्रवाले यथाव्यातचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं । सामायिकचारित्रवाले छेदोपस्थापनीयचारित्रियोंसे सख्यातगुण हैं । देशविरतिवाले सामायिकचारित्रियोंसे असख्यातगुण हैं । अविरतिवाले देशविरतोंसे अनन्तगुण हैं ।

अधधिदर्शनी अन्य सय दर्शनवालोंसे अल्प हैं । चक्षुदर्शनी अधधिदर्शनवालोंसे असख्यातगुण हैं ।

अनन्तगुण हैं । अचक्षुदर्शनी केवलदर्शनियोंसे



अव्यभिचारी (निश्चित) कारण मानना चाहिये । इससे शाल ब्रवण प्रतिमा-पूजन आदि बाध क्रियाओंकी अनेकान्कता या अधिकारो भेदपर अवलम्बित है उसका सुवासा हो जाता है । यही भाव भगवान् उमास्वातिने 'तस्मिन्सर्गादधिगमाद्वा —नत्वार्यं अ० १ सूत्र ३३ प्रकृत किया है । और यही वाच पथसुग्रह द्वार १ गा० ८ को मन्वन्तिरि-टीवार्मे भी है ।

(२)—सम्यक्त्व गुण प्रकट होनेके आभ्यन्तर कारणोंकी जो विविधता है वही चायोप-रामिक आदि भेदोंका आधार है —अनन्तानुबन्धि-चतुष्क और दशानमोहनीय-त्रिक, इन मान प्रकृतियोंका चायोप-राम चायोप-रामिकमस्यक्त्वका उपराम औपरामिकसम्यक्त्वका और द्वय, चायिकसम्यक्त्वका कारण है । तथा सम्यक्त्वमे गिरा कर मिथ्यात्वकी ओर मुक्तनेवाला अनन्ता नुबन्धी कप-धरा उदय मामादनमस्यक्त्वका कारण और मिश्रमोहनीयका उदय, मिश्रमन्यक्त्व-का कारण है । औपरामिकमस्यक्त्वमें काललक्षि आदि अय कया २ निमित्त अनेहित है और यह किम २ गतिमें किन ० कारणोंम होना है अमका विरोध वगुन दगा चायिक और चायो-परामिकसम्यक्त्वका वयन प्रमरा —नत्वार्य अ० २ म ३ के १८ और २२ राजवन्तिकमें तथा सू० ४ और ५ क ७वें राजवन्तिकमें है ।

(३)—औपरामिकमस्यक्त्वक समय शानमोहनीयका किन्ती प्रकारका उदय नहीं होना पर चायोपरामिकमस्यक्त्वके समय सम्यक्त्वमोहनीयका विनाशोद और मिथ्यात्वमोहनीय का प्रदेशोदय होना है । इसी मिश्रताके कारण शास्त्रमें औपरामिकमस्यक्त्वको, 'अवमस्यक्त्व' और चायोपरामिकमस्यक्त्वको 'द्रव्यमस्यक्त्व' कहा है । इन दोनों मस्यक्त्वमें मिथ्यात्वमस्यक्त्व विजिप्त है क्योंकि वह स्थायी है और ये दोनों अस्थायी है ।

(४)—यह शक्य होता है कि मोहनायकन पत्रिकम है । वह मस्यक्त्व और चायि पद-यका धान करना है इसलिये मस्यक्त्वमोहनायकके विरुद्धोदय और मिथ्यात्वमोहनायकके प्रो-शोदयके समय सम्यक्त्व परिणाम अंक जैसे ही सक्य है ? अमका समाधान यह है कि सम्यक्त्वमोहनीय मोहनीयकर्म है नहीं, पर अमके दक्षिक विगुद होते हैं क्योंकि शुद्ध उदय-व मायसे जब मिथ्यात्वमोहनीयकमके दक्षिकोका सुवर्ण रम नष्ट हो जाता है तब से ही उदय-व रमवाले और दि-न्यान अनिमत्त रसवने दक्षिक सम्यक्त्वमोहनायक करणते हैं । जैसे —कवि प्रादि पारलराक वगुनों अत्रक दशान-कामने इत्यत्र नहीं दानने वैस ही मिथ्यात्वमोहनायकके शुद्ध अनिकोंका विनाशोदय सम्यक्त्व-परिणामके अर्थमायमें प्रतिबन्ध नहीं करता । कदा ता मिथ्यात्वका प्रदेशोदय का वह ही, सम्यक्त्व-परिणामका प्रतिबन्धक नहीं होता क्योंकि अत्रक दक्षिकोका ही प्रदेशोदय ही होता है । चायिक मर रमकने है अमका विरुद्धोदय ही गुणका धान नहीं करता तब नीरस दक्षिकोका प्रयोगसे गुणके धान होनेकी सम्यक्त्वमोहनाय-की जा सक्यी । देखिये पथसुग्रह-द्वार १ शो-म-वदी नीकमें मरारवें गुणवन्तिक

भावार्थ—यथास्थानचारित्रवाले उत्कृष्ट दो करोड़से नौ करोड़ तक होते हैं, परन्तु छेदोपस्थापनीयचारित्रवाले उत्कृष्ट दो सौ करोड़से नौ सौ करोड़ तक और सामायिकचारित्रवाले उत्कृष्ट दो हजार करोड़से नौ हजार करोड़ तक पाये जाते हैं। इसी कारण ये उपयुक्तरीतिसे सख्यातगुण माने गये हैं। तिर्यञ्च भो देशधिरत्त होते हैं ऐसे तिर्यञ्च असख्यात होते हैं। इसीसे सामायिकचारित्रवालोंसे देशधिरतिगले असख्यातगुण कहे गये हैं। उक्त चारित्रवालोंको छोड़ अन्य सध जीव अधिरत्त हैं जिनमें अनन्तानन्त वनस्पतिकायिक जीवोंका समावेश है। इसी अभिप्रायसे अधिरत्त जात्र देशधिरतिगलोंकी अपेक्षा अनन्तगुण माने गये हैं।

दवों, नारकों तथा कुछ मनुष्य तिर्यञ्चोंको ही अवधिदर्शन होता है। इसीसे अन्य दशनगलोंकी अपेक्षा अवधिदर्शनी अल्प है। चक्षुदर्शन, चतुरिन्द्रिय, असन्नि पञ्चेन्द्रिय और सन्नि पञ्चेन्द्रिय, इन तीनों प्रकारके जीवोंमें होता है। इसलिये चक्षुदर्शनवाले अवधिदर्शनियोंकी अपेक्षा असख्यातगुण कहे गये हैं। सिद्ध अनन्त हैं और वे सभी फेवलदर्शनी हैं, इसीसे उनकी सख्या चक्षुदर्शनियोंकी सख्यासे अनन्तगुण है। अचक्षुदर्शन सभी सखारी जीवोंमें होता है, जिनमें अकेले वनस्पतिकायिक जीव ही अनन्तानन्त हैं। इसी कारण अचक्षुदर्शनियोंको फेवलदर्शनियासे अनन्तगुण कहा है।

लेश्या आदि पाँच मार्गणाश्रोका अल्प-बहुत्व ।

[ दो गाथाओंसे । ]

पञ्चाणुपुण्ड्रिलेसा, धोवा दो सख णत दो अहिया ।

अभविपर धोवणता, सासण थावोवम्म सखा ॥४३॥



(५)—छयोपराम अन्य पर्याय छायोपरामिक और उपराम अन्य पर्याय औपरामिक कहलाता है । इसलिये किमी भी छायोपरामिक और औपरामिक भाषणा अर्थमें इन करनेके लिये पहले छयोपराम और उपरामका ही स्वरूप जान लेना आवश्यक है । इन इनका स्वरूप राक्षीय प्रकृतिके अनुसार लिखा जाता है —

(क) छयोपराम शब्दमें दो पद हैं — छय तथा उपराम । छयोपराम शब्दका मतलब कर्मक छय और उपराम दोनोंमें है । छयका मतलब आत्माके कर्मका विशिष्ट सम्बन्ध छूट जाना और उपरामका मतलब कर्मका अपने स्वरूपमें आत्माके साथ सलग्न रह कर भी उसपर अमर न बालना है । यह ठी हुआ सामान्य अर्थ पर उमका पारिभाषिक अर्थ कुछ अधिक है । वभावलिका पूण हो जानेपर किमी विवाचित्त मनका अब छयोपराम शुरू होता है तब विद्वित्त वनमान समयमें आवलिका पर्यन्तक दलिक विद्वित्त उच्चावलिका प्राप्त या उनीर्ण-दलिक कहते हैं उनका ही प्रशोदय व विपाको-यद्वारा छय (अभाव) जाना रहता है, और जो दलिक विद्वित्त वनमान समयमें आवलिका तकमें उच्च पाते योग्य नहीं हैं—जिनमें उच्चावलिका बहिष्कृत या अनुगीर्ण दलिक कहते हैं—उनका उपराम (विपाको-वकी योग्यताका अभाव या तीव्र रसमें मन्द रसमें परिणमन) हो जाता है जिसमें वे उचित अपनी उच्चावलिका प्राप्त होनेपर प्रशोदय या मन्द विपाको यद्वारा धीय हो जाने हैं अर्थात् आत्मापर अपना पद मकर नहीं कर सकने या कम प्रकृत वरत हैं ।

इस प्रकार आवलिका पर्यन्त उच्च प्राप्त वमनिकोंका प्रशोदय व विपाको-यद्वारा छय और आवलिकके भाके उच्च पाते योग्य वमनिकोंकी विपाको-यमस्व-वनी वायनारा अभाव या तीव्र रसका मन्द रसमें परिणमन होने रहनेसे कर्मका छायोपराम कहलाता है ।

छयोपराम-योग्य कर्म — छायोपराम सब कर्मोंका नहीं होता सिर्फ धातिकर्मोंका होता है । धातिकर्मके देशघाति और सर्वघाति दो ही भेद हैं । दोनोंके छयोपराममें कुछ विभिन्नता है ।

(क) जब देशघातिकर्मका छयोपराम प्रवृत्त होता है, तब उसके मन्द रस-युक्त कुछ दलिकोंका विपाकोदय साथ ही रहता है । विपाकोदय प्राप्त दलिक अल्प रस युक्त होनेसे स्वाभाव गुणका घात नहीं कर सकते इसमें यह सिद्धान्त माना गया है कि देशघातिकर्मके छयोपरामके समय विपाको-य विरुद्ध नहीं है अर्थात् वह छयोपरामके कार्यके—स्वाभाव गुणके विकारको—रोक नहीं सकता । परन्तु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि देशघातिकर्मके विपाको-य मिश्रित छयोपरामके समय उसका स्वघाति-रस युक्त कार्य भी दलिक उद्यमान नहीं होता । इसमें यह सिद्धान्त मान लिया गया है कि जब स्वघाति-रस युक्त अथवा स्वभावके देशघाति-रूपमें परिणत हो जाता है तभी अर्थात् देशघाति स्पर्शकके ही विपाको-य-कालमें छयोपराम अवश्य प्रवृत्त होता है ।

पद्मानुपूर्व्या देश्या , स्तोका द्वे सत्ये अनन्ता द्वे अधिके ।

अमन्येतरा स्तोका नन्ता , सासादना स्तोका उपशमा सख्या ॥४३॥

अर्थ—लेश्याओंका अल्प बहुत्व पद्मानुपूर्वीसे—पीछेकी ओरसे—जानना चाहिये । जैसे—शुक्ललेश्यावाले, अन्य सब लेश्यावालोंमें अल्प हैं । पद्मलेश्यावाले, शुक्ललेश्यावालोंमें संख्यातगुण हैं । तेजो लेश्यावाले, पद्मलेश्यावालोंमें सत्यातगुण हैं । तेजोलेण्यावालोंमें कापोतलेश्यावाले अनन्तगुण हैं । कापोतलेश्यावालोंसे नीललेश्यावाले विशेषाधिक हैं । कृष्णलेश्यावाले, नीललेश्यावालोंमें भी विशेषाधिक हैं ।

अमन्य जीव, मन्य जीवोंसे अल्प हैं । मन्य जीव, अमन्य जीवोंकी अपेक्षा अनन्तगुण हैं ।

सासादनसम्यग्दृष्टिवाले, अन्य सब दृष्टिवालोंमें कम हैं । औपशमिकसम्यग्दृष्टिवाले, सामानानसम्यग्दृष्टिवालोंमें संख्यातगुण हैं ॥४३॥

भावार्थ—स्तान्तक देशलोकसे लेकर अस्तित्वविमान तकके वैमानिकदेवोंको तथा गर्भ-जन्य सत्यातवर्षाशुभालं बुद्ध मनुष्यतिर्यञ्चोंको शुक्ललेश्या होती है । पद्मलेश्या, सनन्तुमारसे प्रह्लादाक तकके

मदिमागका १० १३९ और कातरकनाक ६ १२३ पर है । अन्य बहुत जगमें स परमागका जो अल्प बहुत्व १० १२२ पर है, वह स एमाय है ।

गोमन्मार-नीयकादकी १२६ संकेत १४१ की तककी गायामोंमें जो लेश्याका अल्प बहुत्व द्रव्य संध कान आदिमें अल्प अन्तर्गत है, वह कर्ण-कर्ण वहाँसं मिश्रण है और कहीं-कहीं नहीं मिलता ।

अन्तर्मागको अमन्यकी संख्या करने का अर्थ यह अल्प-बहुतनन करी हुई है ।

—गी० गा० १२२ ।

अन्तर्माग मंत्री और कातरकनाकका अल्प-बहुत्व जगमें बाँटत है ।

—गी० गा० १२६—१२८—१२२—१३० ।

धातिकर्मकी पचीस प्रकृतियाँ देशघातिनी हैं जिनमेंसे मतिज्ञानावरण, भ्रमज्ञानावरण, अज्ञानावरण और पाँच अन्तराय इन आठ प्रकृतियोंका लघोपराम तो सदासे ही प्रवृत्त हैं क्योंकि आचार्य मतिज्ञान आदि पर्याय अनादि कालसे लघोपरामिकस्वरूपमें रहते ही हैं । इसलिये, यह मानना चाहिये कि उक्त आठ प्रकृतियोंके देशघाति-रसरूपकका ही उदय होता है, सर्व घाति रसरूपकका कभी नहीं ।

अवधिज्ञानावरण मन पर्यायज्ञानावरण चतुर्दर्शनावरण और भवधिदर्शनावरण इन चार प्रकृतियोंका लघोपराम कादाचित्तिक (अनियत) है अर्थात् जब उनके सबघाति रसरूपक देशघातिरूपमें परिणत हो जाते हैं तभी उनका लघोपराम होता है और जब सबघाति-रसरूपक उदयमान होते हैं तब अवधिज्ञान आदिका घात ही होता है । उक्त चार प्रकृतियोंका लघोपराम भी देशघाति रसरूपकके विपाकोदयमें निहित ही समझना चाहिये ।

उक्त आठके सिवाय रोष तेरह (चार सज्वलन और नौ नोकषाय) प्रकृतियाँ जो मोह नीयकी हैं वे अनुबोदयिनी हैं । इसलिये जब उनका लघोपराम प्रेरणोदयमानमें युक्त होता है, तब तो वे स्वाभाव्य गुणका लोभ भी घात नष्ट करतीं और न देशघातिनी ही मानी जाती हैं पर जब उनका लघोपराम विपाकोदयमें मिश्रित होता है तब वे स्वाभाव्य गुणका कुछ घात करती हैं और देशघातिनी कहलाती हैं ।

(ख) धातिकर्मकी बीस प्रकृतियाँ संघघातिनी हैं । इनमेंसे केवलज्ञानावरण और अज्ञानावरण इन दोका तो लघोपराम होता ही नहीं, क्योंकि उनके दृश्यक कभी देशघाति-रसरूपक बनते ही नहीं और न उनका विपाकोदय ही होका जा सकता है । रोष अठारह प्रकृतियों मेंसे है जिनका लघोपराम हो सकता है, परंतु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि देशघातिनी प्रकृतियोंके लघोपरामके समय जैसे विपाकोदय होता है, वैसे इन अठारह संघघातिनी प्रकृतियोंके लघोपरामके समय नहीं होता, अर्थात् इन अठारह प्रकृतियोंके लघोपराम तभी सम्भव है जब उनका प्रेरणोदय ही हो । इसलिये यह सिद्ध होना है कि विपाकोदयकी प्रकृतियोंका लघोपराम यदि होता है तो देशघातिनीहीका लघोपराम ही नहीं ।

अत एव उक्त अठारह प्रकृतियों, विपाकोदयमें लगेबहुं रोष ननी जाती हैं क्योंकि उनके आचार्य गुणोंका लघोपरामिक स्वरूपमें उदय होता ही नहीं है जो विपाकोदयके निरोधके सिवाय पर नहीं सकता ।

(२) उपराम — लघोपरामकी व्यवस्था करने में जो प्रथम प्रयास होता है उसे उपरामिक उपराम शब्दका अर्थ कुछ होता है । अर्थात् उपरामिक उपराम शब्दका अर्थ भिन्न विपाकोदयसम्बन्धी बौद्धिक अर्थों के अन्तर्गत उपराम शब्दमें परिणत होने की ओर लघोपरामिक उपराम शब्दका अर्थ होता है और विपाकोदय दोनोंका अर्थ ही नहीं है ।

वैमानिकदेवोंको और गर्भ जन्य सख्यात वर्ष आयुवाले कुछ मनुष्य-  
तिर्यञ्चोंको होती है। तेजोलेश्या, वादर पृथ्वी, जल और धनस्पति  
कापिश जीवोंको, कुछ पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च मनुष्य, भवनपति और  
ध्यन्तरोंको, ज्योतिषोंको तथा साधम ईशान कल्पके वैमानिकदेवों  
को होती है। सब पद्मलेश्यावाले मिलाकर सब शुक्ललेश्यावालोंकी  
अपेक्षा सख्यातगुण हैं। इसा तरह सब तेजोलेश्यावाले मिलाये जायें  
तो सब पद्मलेश्यावालोंसे सख्यातगुण ही होते हैं। इसीसे इनका

१—साम्प्रदायिक लेकर अनुत्तरविमान तकके वैमानिकशास्त्रिका अपेक्षा समकुमारमे लेकर  
मङ्गलान्त तकके वैमानिकशास्त्रिक अमरवातगुण है। इसी प्रकार मनुकुमार आदिक वैमानिकदेवोंकी  
अपेक्षा कल्प ज्योतिषोंकी अपेक्षातगुण है। अत एव यह शङ्का होती है कि पद्मलेश्यावाले  
शुक्ललेश्यावालोंमें और तेजोलेश्यावाले पद्मलेश्यावालोंमें अमरवातगुण न मानकर सख्यातगुण  
क्यों माने जाय ?

इसका समाधान इतना ही है कि पद्मलेश्यावाले देव शुक्ललेश्यावाले देवोंसे अमरवातगुण  
हैं सही पर पद्मलेश्यावाले देवोंकी अपेक्षा शुक्ललेश्यावाले त्रिषु अमरवातगुण हैं। इसी प्रकार  
पद्मलेश्यावाले देवोंसे तेजोलेश्यावाले देवोंके अमरवातगुण होनेपर भी तेजोलेश्यावाले देवोंमें  
पद्मलेश्यावाले त्रिषु अमरवातगुण हैं। अत एव सब शुक्ललेश्यावालोंसे सब पद्मलेश्यावाले और सब  
पद्मलेश्यावालोंमें सब तेजोलेश्यावाले सख्यातगुण ही होते हैं। साधारण केवल देवोंकी अपेक्षा  
शुक्ल अथि उक्त तीन लेश्याओंका अल्पवहु न विचार जाता तब ही अमरवातगुण कहा जाता  
परन्तु यह अल्प बहु न समान्य आचारादिसे लेकर कहा गया है और पद्मलेश्यावाले देवोंसे शुक्ल  
लेश्यावाले निदर्शनी तथा तेजोलेश्यावाले देवोंमें पद्मलेश्यावाले त्रिषुओंकी मख्या इतनी नहीं है,  
जिसमें कि उक्त सख्यातगुण ही अल्पवहुत्व धर सकता है।

श्रीरघुशोमसूरिने शुक्ललेश्यासे तेजोलेश्या तकका अल्पवहुत्व अमरवातगुण लिखा है  
क्योंकि उन्में मायागत से संख्या परके स्थानमें श्रावस्वा का पाठान्तर लेकर व्याख्या की है  
और अपने ही ग्रन्थ में लिखा है कि किमी किमी प्रतिमें दा सत्रा का पाठान्तर है जिसके  
अनुसार अमरवातगुणका अल्प वहुत्व समझना चाहिये जो सुत्रोंका विचारणीय है।

१—संख्या यह पाठान्तर काव्यरिक्त नहीं है। इसका पाठ ही मध्य है। इसके अनु-  
सार अमरवातगुण अल्पवहुत्वका मध्य विचार सुत्रके मध्यविदिसूरिने  
अल्पवहुत्व तथा लेश्याओंकी अपनी कृति  
निसे किया है।—५०

उपोषणमें कमका ध्य भी जारी रहता है, जो कमसे कम प्रदेशोदयके सिवाय ही ही नहीं सकता । परन्तु उपशममें यह ध्य नहीं जब कमका उपशम होता है, तभीमे उसका ध्य एक ही जाता है अत एव उसके प्रयोग्य होनेकी आवश्यकता ही नहीं रहती । इसीसे उपशम अथवा तभी मानो जाती है जब कि अन्तरकरण होता है । अन्तरकरणके अन्तमुद्गतमें उदय पानेके योग्य दानिकोंमेंसे कुछ तो पहले ही भोग लिये जाते हैं और कुछ दानिक पीछे उदय पानेके योग्य बना लिये जाते हैं अर्थात् अन्तरकरणमें वेद-लिकोंका अभाव होता है ।

अत एव उपोषण और उपशमकी सन्नि-कार्या श्वनी ही की जाती है कि उपोषण शमके समय प्रदेशोदय या मन्द विपाकोदय होता है पर उपशमके समय वह भी नहीं होता । यह नियम मान रखना चाहिये कि उपशम भी धानिकर्मका ही हो सकता है, सो भी सब धानिकर्मका नहीं, किन्तु धवल मोहनीयकर्मका । अर्थात् प्रदेश और विपाक दोनों प्रकारका उदय यदि रोका जा सकता है तो मोहनीयकर्मका ही । इमदलिये देखिये नन्दी सू ८ की टीका- ७७ कम्मपयडी श्रीयशोविनयजी हुन टीका, पृ० १३ पृ० ६० १ गा० २२ की मन्वगीरि म्याख्या । सम्बन्धक स्वल्प उत्पत्ति और मन् प्रमेादिका मन्वित्तर विचार देखनेकलिये देखिये भा०कप्र०-मन ३ प्रोक ५६६—७० ।

## परिशिष्ट "ट" ।

## पृष्ठ ७४, पङ्क्ति २१के "सम्भव" शब्दपर—

अठारह मार्गणामे अचक्षुःशान परिगणित है अत एव उभमें भी चौदह जावस्थान समझने चाहिये। परन्तु इसपर प्रश्न यह होता है कि अचक्षुःशानम जा अपयाप्त जावस्थान माने जाने हैं सो क्या अपयाप्त अवस्थामे इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक बाद अचक्षुःशान मान कर य इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक पहले भी अचक्षुःशान होता है यह मान कर ?

यदि प्रथम पक्ष माना जाय तब ना ठीक है क्योंकि इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक बाद अपयाप्त अवस्थामे ही अक्षुःशान नामान्त बोध मान कर । जैसे — अचक्षुःशानमें तीन अपयाप्त जीवस्थान १७वीं गाथामे मतान्तरमे बतलाये हुए हैं जैसे ही इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक बाद अपयाप्त अवस्थामे अक्षुःशान नामान्त बोध मान कर अचक्षुःशानम मात अपयाप्त जीवस्थान घणये जा सकने है ।

परन्तु श्रीजयसोमसुरिने इन गाथाके अपने ट्वमें इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक पहले भी अचक्षुःशान मान कर उभमें अपयाप्त जीवस्थान माने हैं । और सिद्धांतक आधारमे बतलाया है कि विग्रहगति और कामण्ययोगम अवधिःशानरहित जीवको अचक्षुःशान होता है । इस पक्षमें प्रश्न यह होता है कि इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक पहले इन्द्रिय न होनेमे अचक्षुःशान कैसे मानता ? इसका उत्तर दो तरहमे दिया जा सकता है ।

(१) इन्द्रिय होनेपर इन्द्रिय और भाव, उभद इन्द्रिय तय उपयोग और इन्द्रियके अभावमे केवल अचेन्द्रिय-जन्य उपयोग इस तरह दो प्रकारका उपयोग है । विग्रहगतिमें और इन्द्रियपयाप्ति होनेके पहले पहले प्रकारका उपयोग नही होसकता, पर दूसरे प्रकारका शान्तक सामान्य उपयोग माना जा सकता है । एसा माननेमें तत्त्वार्थ अ० २ सू० ६ की श्रुति—

“अथचेन्द्रियनिरपेक्षमेव तत्कस्यचिद्भवेद् यत पृष्ठत उपसर्पन्त सर्प बुद्धयैवन्द्रियव्यापारनिरपेक्ष पश्यतीति ।”

यह कथन प्रमाण है। माराश इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक पहले उपयोगत्मक अचक्षुःशान मान कर समाधान किया जा सकता है ।

(२) विग्रहगतिमें और इन्द्रियपयाप्ति पूर्ण होनेक पहले अचक्षुःशान माना जाता है सो शक्तिरूप अभाव घयोपशामरूप उपयोगरूप नहीं । यह समाधान प्राचीन चतुर्भुज कामग्रन्थकी ४१वीं गाथाकी टीकाके—



धीरे-धीरे बहुत बढ़ी और कुछ रातों-दिनोंके बाद अतिशय, कुपराज आदि कई कारणोंसे उनमें बहुत कुछ आगर-अरा हुआ जिससे कि बौद्ध-मठके एक तरहसे अहित समझा जाने लगा । सम्भव है इस परिस्थितिका जैन सम्प्रदायके भी कुछ असर पड़ा हो, जिससे सिद्ध-आचार्याने जो श्रीका मिश्रपुत्रक लिये ही अयोग्य करार दिया हो और शताब्दोंके अन्तमें वेमन के लिये स्त्रीनातिका उच्च अधिकार वाच्यम रखने हुए भी अनेक ईद्रिय चपलता आदि शैलीके उच्च जातिमें विशेषरूपसे शिक्षा प्राप्त की क्योकि उनका अन्तर्गत में एक सम्पूर्ण प्रमाण पढ़ना अनिवार्य है ।

“त्रयाणामप्यचक्षुर्दर्शनं तस्यानाहारकावस्थायामपि लब्धिमाभित्याभ्युपगमात् ।”

इस उल्लेखक आधारपर लिया गया है ।

प्रश्न—इन्द्रियपयोषि पूर्ण होनेके पहले जैसे उपयोगरूप या अयोपशमरूप अचक्षुर्दरान माना जाता है, जैसे ही चक्षुर्दरान क्यों नहीं माना जाता ?

उत्तर—चक्षुर्दरान नेत्ररूप विरोध इन्द्रिय अन्य दर्शनको कहते हैं । इसी दरान उसी सम्य माना जाता है जब कि द्रव्यनेत्र ही । अत एव चक्षुर्दरानका इन्द्रियपयोषि पूर्ण होनेके बाद ही माना है । अचक्षुर्दरान किसी एक इन्द्रिय-जय सामान्य उपयोगको नहीं कहते किन्तु नेत्र भिन्न किसी द्रव्येन्द्रियसे होनेवाले द्रव्यमनमे होनेवाले या द्रव्येन्द्रिय तथा द्रव्यमनके अभावमें अयोपशममात्रसे होनेवाले सामान्य उपधानकी कहते हैं । इसीमें अचक्षुर्दरानकी इन्द्रियपयोषि पूर्ण होनेके पहले और शीघ्र दानों अवस्थाओंमें माना है ।

एसा वस्तु स्थिति होनेपर भी त्रिविधा ही अध्ययनता नियम क्यों किया गया ? इस प्रश्नका उत्तर यह तरहमें दिया जा सकता है -- (१) समान सामग्री मिलनेपर भी पुरातन मुकामिलमें त्रिविधा काम भरवाने योग्य होना और (२) प्रतिहासिक परिस्थिति ।

(१)—जिन परिस्थितियोंमें त्रिविधों पढ़ने आदिको सामग्री पुराने के समान मात्र होती है वहाँ इतिहास पढ़नेमें यही ज्ञान पड़ता है कि त्रिविध पुरानोंके तन्व्य ही समझी है मही पर जोका एकत्रियोंके संख्या खासत तदी अथवा पुराजातिमें अधिक पायी जाती है ।

(२)—पुरातन कालमें प्रतिपादक विग्नपर आचार्योंने स्वीकारितको शारीरिक और मानसिक दोषक कारणोंका तदनलिये अवगम्य ठहराया ।

“स्तिगमि य इत्थोण, थणत्ते णाहिकवत्तदेसम्मि ।

भणिजा सुहमो काओ, तास कह होइ पव्वजा ॥”

—पट्टपाट्ट सुनपाट्ट गा २४-५ ।

और जो “विद्वान्” । “ततोऽपि मुदिको भय स्थान देपर स्त्री और शून्य जातिवों का मन में अवनत लिये अवशिष्टा बननाया —

“क्षीद्रुद्री नाधीयाता”

एत त्रिविधी अध्ययनयोग्यता कलना अन्तर पड़ा कि उसमें प्रकाशित होकर पुरातनकालिक समान शौचानिकी योग्यता मानत हुए भी अनेकपर आचार्य उसे विशेष अध्ययनयोग्यतामें अवगम्य बनवाने लगे हुए ।

अगरइ अज्ञान आनेका अविवार मानने हुए भी सिर्फ बारहवें अङ्कमें नियेवका संभव यह भी ज्ञान पड़ता है कि इतिहासका व्यवहारमें मदद बनना रह । उस समय विचारवत्ता शारीरिक-शुद्धिपूर्वक पढ़नेमें वे आदि शर्तिका मदद भूमकी जाती है । इतिहास सब अर्थोंमें प्रगत था इसलिये “पञ्चरत्नदृष्टि” उसकी मन्त्रा रखनेकेलिये अथवा पक्षीसी समाभवा अनुकरण कर लेना स्वाभाविक है । इस कारण पारम्परिक-दृष्टिमें लीको संपूर्णतया योग्य मानने हुए भी आचार्योंने ध्यान-विरक्तिलिये शारीरिक प्रशुद्धि का ब्यापक उलका शाब्दिक-अध्ययनमात्रकलिये अवगम्य बननाया होगा ।

भगवान् भीममज्जने स्वीकारितकेलिये अवगम्य निर्धारित किया था परन्तु भगवान् महावीरने ता प्रथम ही उनको पुष्पके समान मिश्रणकी अधिकारिणी निमित्त किया था । इसीसे जैनशासनमें अनुविध संरक्ष प्रथममें ही स्थापित है और मानुसका भावकोंकी अथवा माधव्यों तथा शक्तिवाकोंकी मन्त्रा आरम्भमें ही अधिक रही है परन्तु अपने अन्त में आरम्भमें हुए भगवान् । मिश्रण किया तब उनको

## परिशिष्ट "ठ" ।

## पृष्ठ ७=, पङ्क्ति ११के 'अनाहारक' शब्दपर—

अनाहारक जीव दो प्रकारके होने हैं — द्युषस्थ और वीतराग । वीतरागमें जो अरारीरी (मुक्त) है वे सभी सदा अनाहारक ही हैं परन्तु जो गरीर धारी है, वे केवलिसमुद्धानके तीमरे, चौथे और पाँचवें ममदमें ही अनाहारक होते हैं । द्युषस्थ जीव अनाहारक तभी होते हैं जब वे विग्रहानिमें वर्तमान हों

नमान्तर ग्रहण करनेकालिये जीवको पूर्व-स्थान छोड़कर दूसरे स्थानमें जाना पड़ता है । दूसरा स्थान पहले स्थानमे विरहित गति (वक्र-रेखा) में हो तब उसे वक्र-गति करनी पड़ती है । वक्र-गतिके सम्बन्धमें हम जगह तीन बातोंपर विचार किया जाता है —

( १ ) वक्र-गतिमें विग्रह (पुमाव) की मर्यादा, ( २ ) वक्र-गतिके काल परिमाण और ( ३ ) वक्र गतिमें अनाहारकत्वका काल-मान ।

(१) कोई उत्पत्ति स्थान ऐसा होता है कि भिन्नको जीव एक विग्रह करके ही प्राप्त कर लेता है । द्विती स्थानकेलिये दो विग्रह करने पड़ने हैं और तिसरेकेलिये तीन भी । नवीन उत्पत्ति-स्थान पूर्व-स्थानसे कितना ही विशेषित-पतित क्यों न हो, पर वह तीन विग्रहों तो अवश्य ही प्राप्त हो जाता है ।

इस विषयमें दिग्दर्श साहित्यमें विचार भेद नजर नहीं आता, क्योंकि—

“विग्रहवती च सप्तारिण प्राक् चतुर्भ्यः ।” —तत्त्वार्थ प्र० २, सू० २८ ।

इस सूत्रकी मवाधमिद्धि-शेकमें श्रीपूषपाश्वानीने अधिकसे अधिक तीन विग्रहवाली गतिका ही उल्लेख किया है । तथा —

“एक द्वौ त्रिन्वाऽनाहारकः ।” —तत्त्वार्थ प्र० २, सू० ३० ।

इस सूत्रके दृष्टे राजव तिकमें महारक शीघ्ररूपसे होने की अधिकसे अधिक त्रि-विग्रह गतिको मनन किया है । नभिवद्र सिद्धाचकवर्गी भी गम्भिरार लोकाएवकी दृष्टी गायने बन्ध मनका ही निर्णय करत हैं ।

शेनाश्रय शब्दोंमें इस विषयपर गम्भीर उन्निष्ठत पाया जाता है —

“विग्रहवती च सप्तारिण प्राक् चतुर्भ्यः ।” —तत्त्वार्थ प्र० २ सू० २६ ।

‘एक द्वौ वाऽनाहारकः ।’ —तत्त्वार्थ-प्र० २, सू० ३० ।



शेनाम्बर प्रसिद्ध तरवार्यं अ २ के भाष्यमें भगवान् उमान्वानिने तथा उसकी टीकामें श्रीसिद्धसेनगण्डिने त्रि-विग्रहगणिका उद्धृत किया है । साथ ही उक्त भाष्यकी टीकामें चतुर्विग्रहगणिका मत्तांतर भी उरमाया है । इस मत्तांतरका उल्लेख बृहत्समप्रणालीकी ३२५वीं गाथामें और श्रीभगवती-राजक ७ अंश १की तथा राजव १४ अंश १को टीकामें भी है । किन्तु इस मत्तांतरका जहाँ-कहीं उल्लेख है वहाँ सब जगह यही लिखा है कि चतुर्विग्रहगणिका निर्देश किमी मूल सूत्रमें नहीं है । इसमें जान पड़ता है कि ऐसी गति करनेवाले जीव हो बहुत कम हैं । उक्त सूत्रोंके भाष्यमें तो यह स्पष्ट लिखा है कि त्रि-विग्रहसे अधिक विग्रहवाली गणिका सम्भव ही नहीं है ।

“आविग्रहा एकविग्रहा द्विविग्रहा त्रिविग्रहा इत्येवाश्चतुस्समयपर  
राश्चतुर्विधा गतयो भवन्ति, परतो न सम्भवन्ति ।”

भाष्य इस बचनमें तथा त्रिगम्बर प्रथमके अधिकतम अधिक त्रि-विग्रहगणिका ही निर्देश पाये जानेमें और भगवती टीका आदिमें जहाँ-कहीं चतुर्विग्रहगणिका मत्तांतर है वहाँ सब जगह उसकी अपेक्षा त्रिगम्बरी जानकर कारण अधिकमें अधिक तान विग्रहवाली गणिकीरा पक्ष बहु भाष्य सम्भना चाहिये ।

(२) वक्र-गतिके काल परिमाणक सम्बन्धमें यह नियम है कि वक्र-गतिके समय विग्रहकी अपेक्षा एक अधिक ही होता है । अर्थात् तिस गतिमें एक विग्रह का उभय काल-मान दा समर्थका इस प्रकार द्वि-विग्रहगणिका काल मान तीन समर्थका और त्रि-विग्रहगणिका काल-मान चार समर्थका है । स नियममें अताम्बर-त्रिगम्बरका कोई मत भेद नहीं । हाँ ऊपर चतुर्विग्रह गतिके मत्तांतरका जो उल्लेख किया है उसका अनुसार उक्त गणिका काल-मान पाँच समर्थका बतलाया गया है ।

(३) विग्रहगणितमें अनाहारकत्वका काल मानका विचार यवहर और निश्चय दा दृष्टियोंमें किया हुआ पाया जाता है । व्यवहारवादिओंका अभिप्राय यह है कि पूर शरीर छोड़नेका समय जा वक्र-गतिरा प्रथम समय है उसमें पूर शरीर-बोध कुद्र पुद्गल लाभाहारद्वारा प्रवृत्त किये जाने है ।—बृहत्समप्रणाली गा ३२६ तथा उसकी टीका लोक० सग ३ अंश० ११ ७ म आये । परन्तु निश्चयवादिओंका अभिप्राय यह है कि पूर शरीर छोड़नेके समयमें अर्थात् वक्र-गतिके प्रथम समयमें न ता पूर शरीरका हा म वृत्त है और न नया शरीर बना है इसलिये उस समय किमी प्रकारके आहारका सम्भव नहीं ।—लोक० स ३ अंश० १११५ में आगे । व्यवहारवादी ही या निश्चयवादी दोनों इस बातका बराबर मानते हैं कि वक्र-गतिका अन्तिम समय जिसमें जीव नवीन स्थानमें उत्पन्न होता है उसमें अवश्य आहार प्रवृत्त होता है । व्यवहारनपके अनुसार अनाहारकत्वका काल-मान इस प्रकार सम्भना चाहिये —

## परिशिष्ट "५" ।

## पृष्ठ १०१, पङ्क्ति १२के 'भाषार्थ' पर—

इस जगत् चतुःशानमें तरह योग माने गये हैं पर जीमन्तवहिरित्रीने उसमें व्यासह योग बनवाये है । कार्मण्य औदारिकमिश्र वैक्रियमिः और आहारकमिश्र ये चार योग छोड़ दिये हैं ।

—पृ० द्वा० १ की १२ वीं गाथाकी टीका ।

व्यासह माननेका तात्पर्य यह है कि जैसे अपत्यात अवस्थामें चतुःशान न होनेसे उसमें कार्मण्य और औदारिकमिः ये दो अपत्यात अवस्था-भावी योग नहीं हूँते वैसे ही वैक्रियमिः व आहारकमिः काययोग रहता है तबतक अर्थात् वैक्रियशरीर या आहारकशरीर अपूर्ण होतवत्क चतुःशान नहीं होता इसलिये उसमें वैक्रियमिः और आहारकमिः-योग भी न मानने चाहिये ।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि अपत्यात अवस्थामें इन्द्रियवृत्ति पूर्ण बन जानेपर चतुःशानमें उल्लिखित मन्तान्तरक अनुसार यदि चतुःशान मान लिया जाय तो उसमें औदारिकमिश्रकाययोग जो कि अपत्यात अवस्था भावी है उसका अभाव देने माना जा सकता है ?

इस शङ्काका समाधान यह किया जा सकता है कि पञ्चमग्रहमें एक ऐसा मन्तान्तर है जो कि अपत्यात अवस्थामें शरीरपयात्रि पूर्ण न बन जाय तब तक मिश्रयोग मानता है जो जाने क बाद नहीं मानता ।—पृ० द्वा० १ की ७वां गाथाकी टीका । इस मतक अनुसार अपत्यात अवस्थामें जब चतुःशान हाजा है तब मिश्रयोग न होनेक कारण चतुःशानमें औदारिकमिःकाय योगका अभाव विकट नहीं है ।

इस जगह मन पयायज्ञानमें तरह योग मान हुए हैं जिनमें आहारक द्विकका समावेश है । पर गोमन्तार-कर्मकाण्ड यह नहीं मानता क्योंकि उसमें लिखा है कि परिहारनिशुद्ध चात्रिश्च चार मन पर्यायज्ञानके समय आहारकशरीर तथा आहारक आतोपाह चामकमरा उदय नहीं होता—कर्मवायड गा ३२४ । तबतक आहारक द्विकका उदय न हो तब तब आहारक शरीर रचा नहीं जा सकता और उसकी रचनाके मिश्राय आहारकमिश्र और आहारक ये दो भाग अस्मभूत हैं । इससे सिद्ध है कि गोमन्तार मन पयायज्ञानमें ही आहारकका अभाव मानता । इसी बातकी पुष्टि जीववायडकी ७२२ वीं गाथासे भी होती है । उसका मतलब यन्त्रा ही है कि मन पयायज्ञान परिहारनिशुद्धसमय प्रथमापरासमन्वयव और आहारक द्विक अभावसे मन किनी एकके प्राप्त होनेपर शेष अभाव प्राप्त नहीं होते ।

एक विग्रहवाली गति जिसकी काल-मयाश दो समयकी है उसके दोनों समयमें जीव आहारक ही होता है क्योंकि पहले समयमें पूर शरीर-योग्य सोनाहार ग्रहण किया जाता है और दूसरे समयमें नीच शरीर योग्य आहार । दो विग्रहवाली गति, जो तीन समयकी है और तीन विग्रहवाली गति जो चार समयकी है, उनमें प्रथम तथा अन्तिम समयमें आहारकत्व होने पर भी बीचके समयमें अनाहारक-प्रवस्था पायी जाती है । अर्थात् विग्रहगतिके मध्यमें एक समय तक और विग्रहगतिके प्रथम तथा अन्तिम समयको छोड़ कर बीचके दो समय तक अनाहारकत्व निरन्तर रहता है । व्यवहारनयना यह मत कि विग्रहकी अपेक्षा अनाहारकत्वका समय एक कम ही होता है तत्पश्चात् अध्याय २ के ३१वें सूत्र में तथा उसका भाष्य और टीका में लिखित है । भाव है टीकामें व्यवहारनयने अनुसार उपयुक्त पाँच समय परिमाण अनुग्रहवाली गतिके मतानुसार तीन समयका अनाहारकत्व भी बतलाया गया है । माराग व्यवहार नयनी अपेक्षाने तीन समयका अनाहारकत्व अनुग्रहवाली गतिके भगन्नरमे ही घट सकता है अर्थात् नहीं । विग्रहदृष्टिके अनुसार यह बात नहीं है । उक्त अनुसार तो जिनने विग्रह उतने ही समय अनाहारकत्व होने हैं । अतएव उस दृष्टिके अनुसार एक विग्रहवाली वक्र-गतिमें एक समय दो विग्रहवाली गतिमें दो समय और तीन विग्रहवाली गतिके तीन समय अनाहारकत्वके समानने चाहिये । यह बात दिग्भ्रर प्रसिद्ध तत्कार्य अ० के ३०वें सूत्र तथा उसकी स्वाध्यायसिद्धि और तान्त्रिक-टीका में है ।

श्रुता क्रम-अर्थ में अनुग्रहवाली गतिके मतानुसार उक्त है उसको लेकर निश्चयदृष्टिके विचार किया जाय तो अनाहारकत्व चार समय का करे जा सकते हैं ।

सारासंक्षेप श्वरीय तराव भाष्य आदिमें एक या दो समयके अनाहारकत्वका जो उल्लेख है वह व्यवहारदृष्टिके और दिग्भ्ररीय तत्स्वाध्याय आदि ग्रन्थोंमें जो एक या तीन समयके अनाहारकत्वका उल्लेख है वह निश्चयदृष्टिके । अतएव अनाहारकत्वक काल मानक विषयमें दोनों सम्प्रदायमें वास्तविक विरोधको अवकारा ही नडा है ।

प्रसन्न-वक्र यह मान जाने-योग्य है कि पूर शरीरका परिष्कार पर भयना अनुकूल उदय और गति (चाहे अनु ही या वक्र) ये तीना एक समयमें होने हैं । विग्रहगतिके दूसरे समयमें पर भयनी अनुकूल उदयका कथन है जो स्थूल व्यवहारवाली अपेक्षानुसार—पूर शरीर अन्तिम समय गतिमें जो विग्रहगतिके अभिमुख हो जाता है, उसका उपचारमे विग्रहवाली प्रथम समय मानकर—सुप्रसन्न चाहिये ।  
—बृहत्संहिता ग० ३२। मन्वगिरि टीका ।



## परिशिष्ट "द" ।

पृष्ठ १०४, पङ्क्ति ६के 'केवलिसमुद्धात' शब्दपर—

[ केवलिसमुद्धातके सम्बन्धकी कुछ बातोंका विचार — ]

(क) पूर्वमावी क्रिया—केवलिसमुद्धात रचनेके पहले एक विशेष क्रिया की जाती है शुभयोग्य है जिसकी स्थिति अन्तमुहूर्त्त प्रमाण है और जिसका कार्य उदयावलिकामें कम नलिकाना विशेष करना है। इस क्रिया विशेषको आयोजिकाकरण कहते हैं। मोक्षकी और आवाचन (भुके हुए) आत्माके द्वारा किये जानेके कारण इसको आवजितकरण कहते हैं। और सब कवलशानियोंके द्वारा अवश्य किये जानेके कारण इसको आवश्यककरण भी कहते हैं। श्रुताम्बर-साहित्यमें आयोजिकाकरण आदि तीनों मग्यें प्रसिद्ध हैं। -विशे० आ०, गा० ३०१० ५१ तथा पथ० द्वा० १ गा० २६की टीका।

श्रुताम्बर-साहित्यमें सिर्फ आवजितकरण सजा प्रसिद्ध है। लक्षण भी उक्तमें स्पष्ट है—

“हेट्टा दडस्सतो,—मुहुत्तभावजिद हवे करण ।

त च समुग्घाटस्स य, अट्टिमुहभावो जिणिदस्स ॥”

—विदमार गा० ६१७ ।

(ख) कवलिसमुद्धातका प्रयाजन और विधान समय —

जब वेदनीय आग्नि अग्निसमकी स्थिति तथा दलिक आद्युक्ताकी स्थिति तथा दलिकमें अधिक है तब उनको आपसमें बराबर करनेके लिये कवलिसमुद्धात करना पड़ता है। इसका विधान अन्तमुहूर्त्त प्रमाण आयु बायीं रहनेके समय होता है।

(ग) चामी—कवलिसमुद्धातका रचने है।

(घ) काल-मान—केवलिसमुद्धातका काल-मान आठ मसयका है।

(ङ) प्रक्रिया—प्रथम समयमें आ माय प्रदर्शनी, गरीरुम बाहर निकालकर फैला दिया जाता है। उस समय उन्का आकार दण्ड के समान होता है। आत्मप्रदेशोंका यह दण्ड ऊँचाईमें लोकने ऊपर न नीचे तक अर्थात् चौदह रतु परिमाण होता है परंतु उसकी मोटाई सिर्फ गरीरुके बराबर होती है। दूसरे समयमें उच्च दण्डकी पूर पश्चिम या उत्तर दक्षिण फैलाकर उसका आकार क्या (किवाड़) जैसा बनाया जाता है। तीसरे समयमें पयागका आत्म प्रदेशोंका मन्था कार बनाया जाता है अर्थात् पूर-पश्चिम, उत्तर दक्षिण दोनों तरफ फैलानेमें उनका आकार रश्मि (मथनी) का सा बन जाता है। चौथे समयमें विदिशाओंके खाली भागोंको आत्म प्रदेशोंसे पूर करके उनसे सम्पूर्ण लोकको प्राप्त किया जाता है। पाँचवें समयमें आ माके लोक यापी प्रदेशों

## परिशिष्ट "ड" ।

पृष्ठ ८५, पङ्क्ति ११के 'अवधिदर्शन' शब्दपर—

अवधिरान और गुणस्थानका सम्बन्ध विचारनेके समय मुख्यतया दो बातें जाननेकी हैं (१) पञ्चभेद और (२) वनना तात्पर्य ।

(१)—पञ्च भेद । प्रस्तुत विषयमें मुख्य दो पञ्च हैं —(क) कामग्रन्थ और (ख) सैद्धांतिक ।

(क) वार्मग्रन्थिक पञ्च भी दो हैं । इनमेंसे पहला पञ्च चौथे भाषि जो गुणस्थानोंमें अवधिरान मानता है । यह पञ्च प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी २६वीं गाथामें निर्दिष्ट है जो पहले तीन गुणस्थानोंमें अज्ञान माननेवाले कामग्रन्थियोंमें मान्य है । दूसरा पञ्च तीसरे भाषि दस गुणस्थानोंमें अवधिरान मानता है । यह पञ्च भाषिका ४८वीं गाथामें तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी ७० और ७१वीं गाथामें निर्दिष्ट है जो पहले दो गुणस्थान तक अज्ञान माननेवाले कामग्रन्थियोंमें मान्य है । ये दोनों पञ्च गोम्पसार चोखारण्टकी ६६० और ७०४थी गाथामें हैं । इनमेंसे प्रथम पञ्च तत्त्वार्थ अ १के ८वें मंत्रकी सर्वाधिमिद्धिर्म भी है । वन् यह है —

“अवधिदर्शने असयतसम्यग्दृष्ट्यादीनि क्षीणकपायान्तानि ।”

(ख) सैद्धांतिक पञ्च विस्तृत मित्र है । वन् पहले भाषि बारह गुणस्थानोंमें अवधिरान मानता है । जो मगरती सूत्रमें मालूम होगा है । इस पञ्चकी भीमलयगिरिसूरने पञ्चसप्रह-द्वार १ की ३१वीं गाथाकी टीकामें तथा प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी २६वीं गाथाकी टीकामें स्पष्टतासे लिखा है ।

‘ओहिदसणअणगारोवउत्ताण भत्ते । किं नाणी अघ्णाणी ?  
गोयमा । णाणी वि अत्राणी वि । जइ नाणी ते अत्थेगइआ तिण्णाणी,  
अत्थेगइआ चउणाणी । जे तिण्णाणी, ते आभिणिबोहियणाणी सुय  
णाणी ओहिणाणी । जे चउणाणी ते आभिणिबोहियणाणी सुयणाणी  
ओहिणाणी मणपज्जवणाणी । जे अण्णाणी ते णियमा महअण्णाणी  
सुयअण्णाणी विभगनाणी ।”

—मगवती रात्तक ८ व्देश २ ।

(२)—वनना (उक्त पङ्क्ति) तात्पर्य —

(क) पहले तीन गुणस्थानोंमें अज्ञान माननेवाले और पहले दो गुणस्थानोंमें

को सङ्गण क्रियाद्वारा फिर मन्थाकार बनाया जाता है । छठ ममयमें मन्थाकारसे वपुगकार बना लिया जाता है । नातवें ममयमें भाय प्रवेश फिर दष्टम्य बनावे गते हैं और आठवें समयमें उनको अमनी स्थितिमें—शरीरस्थ—रिखा जाता है ।

(च) जैन दृष्टिके अनुसार आम-यापनकी मद्रति —“रन्धिषा वावृणीषा आदि ग्रन्थोंमें आमाक्षी व्यापनना दण्ड दिया है ।

‘विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतां मुखो विश्वता बहुरुत विश्वतस्स्यात् ।’

—शुभावनरोनिषद ३—३ ११—१५

“सर्वत पाणिपाद तत्, सर्वतोऽक्षिशिरोमुख ।

सर्वत श्रुतिमल्लोके, सर्वमागृह्य तिष्ठति ॥” —भगवद्गीता, १२ १३ ।

जैन-दृष्टिके अनुसार यह वर्णन अर्थात् है सर्वत आत्माकी महत्ता व प्रसङ्गात्मा मन्त्रक है । इस अर्थका वा आचार कवलिममुद्गातके चौथे ममयमें आरम्भाया लोक-व्यापी बनना दे । यही बात उपाध्याय भीयरोविजयनाथे शास्त्रवात्ताममुद्गयक ३, ८वें पृष्ठपर लिखी है ।

जैन वेत्तीय आदि कर्मोंका शीघ्र भागनेकेलिये समुद्गात क्रिया मानी जाती है जेसे ही पात-जन्-योगदशानमें बहुकामनिमायक्रिया मानी है जिसकी तरवसाक्षात्कतायोगी सौपक्रम कम शीघ्र भागनेकेलिये करता है । —पा ३ म० २२वां माध्य तथा दृष्टि पा ४ मूय ४वां माध्य तथा दृष्टि ।

माननेवाले दोनों प्रकारके कामग्रन्थिक विद्वान् अवधिज्ञानसे अवधिदर्शनको अलग मानने हैं, पर विमद्ज्ञानसे नहीं । वे कहते हैं कि—

विशेष अवधि-उपयोगसे सामान्य अवधि उपयोग भिन्न है, इसलिये जिम प्रकार अवधि उपयोगवाले मन्व्यत्वकीमें अवधिज्ञान और अवधिदर्शन दोनों अलग अलग हैं, इसी प्रकार अवधि उपयोगवाले अज्ञानीमें भी विमद्ज्ञान और अवधिदर्शन ये दोनों वस्तुतः भिन्न हैं मही तथापि विमद्ज्ञान और अवधिदर्शन, उन दोनोंके पारस्परिक भेदकी अविवेक्यामात्र है । भेद विवक्षित न रखनेका सबव दोनोंका सादृश्यमात्र है । अर्थात् जैसे विमद्ज्ञान विषयका यथार्थ निश्चय नहीं कर सकता वैसे ही अवधिदर्शन सामान्यरूप होनेके कारण विषयका निश्चय नहीं कर सकता ।

इस अभेद विवेकाके कारण पहले मतके अनुसार चौथे आदि नौ गुणस्थानोंमें और दूसरे मतके अनुसार तीसरे आदि दस गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन समझना चाहिये ।

(ख) सैद्धान्तिक विद्वान् विमद्ज्ञान और अवधिदर्शन दोनोंके भेदकी विवेका करने हैं अभेदकी नहीं । इसी कारण वे विमद्ज्ञानोंमें अवधिदर्शन मानते हैं । उनका मतम केवल पहले गुणस्थानमें विमद्ज्ञानका सभव है, दूसरे आदिमें नहीं । इसलिये वे दूसरे आदि ग्यारह गुणस्थानोंमें अवधिज्ञानके साथ और पहले गुणस्थानमें विमद्ज्ञानके साथ अवधिदर्शनका सादृश्य मानकर पहले बारह गुणस्थानोंमें अवधिदर्शन मानते हैं । अवधिज्ञानीके और विमद्ज्ञानीके दर्शनमें निराकारता अश समान ही है । इसलिये विमद्ज्ञानीके दर्शनकी विमद्दर्शन ठेकी अलग सजा न रखकर अवधिदर्शन ही मजा रखना है ।

सारंश कर्मग्रन्थिक पक्ष विमद्ज्ञान और अवधिदर्शन इन दोनोंके भेदकी विवेका नहीं करता और सैद्धान्तिक पक्ष करता है । —लोकप्रकाश मग ३ श्लोक २०५७ में आग ।

इस मत भेदका उल्लेख विशेषणवती ग्रन्थमें श्रीजामदग्नि क्षमाश्रमणने किया है जिम की सूचना प्रस्तापना पद १८, वृत्ति ५० (वनकक्षा) ५६६ पर है ।

## परिशिष्ट "घ" ।

## पृष्ठ ११७, पङ्क्ति १२के 'काल' शब्दपर—

काल के सम्बन्धमें जैन और वैदिक दोनों दर्शनोंमें करीब तारै हजार वर्ष पक्ष चले आते हैं । श्वेतम्बर ग्रन्थोंमें दोनों पक्ष वर्णित हैं । दिग्म्बर ग्रन्थोंमें एक ही पक्ष माना है ।

(१) पहला पक्ष कालका स्वयं प्र द्रव्य नहीं मानता । वह मानता है कि जीव और अजीव द्रव्यका पर्याय प्रसाह ही काल है । इस पक्षके अनुसार जायागिव द्रव्यका पर्याय परिणाम ही उपचारम काल माना जाता है । इसलिये वस्तुतः जीव और अजावको ही काल द्रव्य समझना चाहिये । वह उनमें अलग तत्त्व नहीं है । यह पक्ष 'जावाभिगम' आदि आगमोंमें है ।

(२) दूसरा पक्ष कालको स्वतन्त्र द्रव्य मानता है । वह कहता है कि जैसे जीव पुद्गल आदि स्वतन्त्र द्रव्य है वैसे ही काल भी । इसलिये इस पक्षके अनुसार कालको जीवादिसे पयाय प्रसाहम्प न समझकर जीवादिसे भिन्न तत्त्व ही समझना चाहिये । यह पक्ष भगवती आदि आगमोंमें है ।

आगमने बादके ग्रन्थोंमें जैसे —तरुवार्धसूत्रमें वाक्यक उमास्वातिते द्वात्रिंशिकामं श्री सिद्धमतं विधाकरने विशेषावरयक मध्यमें श्रीनिभद्रगण्डि समाश्रयणने धमसगहणीं श्रीहरि भद्रसरिने योगशास्त्रमं श्रीधमवद्रसूरिने द्रव्य गुण पर्यायक राममें श्रीउपाध्याय वरोविषयज्ञोने लोकप्रसारामं श्रीविनयकिञ्चनोने और नयवक्रमार तथा आगमसारमें श्रीदेवप्रदीपे आगमगत उक्त दोनों पक्षोंका उल्लेख किया है । दिग्म्बर-संप्रदायमें सिद्ध दूसरे पक्षका स्वीकार है जो सबमें पहिले श्रीगुणानुपायके ग्रन्थोंमें मिलता है । इसके बाद पूज्यपादरवामी महारक श्रीशकटदेव विचारानुपायनी नेमिचन्द्र मिहान्तग्रन्थों और बनारसीदास आदिने भी उक्त एक ही पक्षका उल्लेख किया है ।

पहले पक्षका तात्पर्य —पहला पक्ष कहता है कि समय आवलिया मुक्त दिन-रात आदि का व्यवहार, काल माध्य बनाने जाने है या नवीनता पुराणता ज्येष्ठता-कनिष्ठता आदि जो अवस्थाएँ काल साध्य बनाने जाती हैं वे सब किया विशेष (पयाय विशेष) के ही संकेत हैं । जैसे —जीव या अजीवका जो पयाय अविभाय है, अर्थात् बुद्धिसे भी निसका दूसरा हिससा नहीं हो सकता उक्त आरिरी अतिमूहम पयायको 'ममय' कहते हैं । ऐसे असम्बन्धित पयायोंके अंतरा आधिका कहते हैं । अनेक अवलियाओंको मुह्य और नील मुह्यको दिन-रात

ज्ञाता पूर्व क ज्ञानक विना गुरुध्यानके प्रथम दो पाद प्राप्त नहीं होने और पूर्व इष्टिवाक्य एक द्विस्मा है । यह मर्यादा गान्धर्वे निर्विवाद स्वीकृत है ।

“शुक्ले चाद्ये पूर्वविद १”

—तत्त्वार्थ प्र० ६ सू० १

इस करण इष्टिवाक्यके अध्ययनकी अनधिकारिणी स्त्रीको केवलज्ञानकी अधिकारिणी न लेना स्पष्ट विरुद्ध जान पड़ता है ।

इष्टिवाक्य अनधिकारक कारणके विषयमें दो पद हैं —

(क) पहला पद श्रीजिनमद्रस्यि क्षमाभरण आदिका है । इस पदमें स्त्रीने सुदृढ़ अभिमान इन्द्रिय चापव्य मनि मान्य आदि मानसिक श्रेय दिखाकर उसको इष्टिवाक्यके ज्ञानका निषेध किया है । इसकलिये देखिये पिरा० भा ५५२वीं गाथा ।

(ख) दूसरा पद श्रीहरिभद्रसूरि आदिका है । इस पदमें अशुद्धिरूप शारीरिक शक्तिकर उसका निषेध किया है । यथा —

‘कथं द्वादशाङ्गप्रतिषेध ? तथाविधविग्रहे ततो दोषात् १’

ललितविम्बरा १० १११

[नयन्त्रिमे विरोधका परिहार —] इष्टिवाक्य अनधिकारसे स्त्रीका केवलज्ञानक प जा कार्य-कारण भावका विरोध दीखता है वह बरतुन विराध नहा है क्योंकि शास्त्र । इष्टिवाक्य अध्ययनकी योग्यता मानता है निषेध सिध गान्धर्व अध्ययनका है ।

‘श्रेणिपरिणतौ तु कालगभयद्भावतो भावोऽविरुद्ध एव १’

—ललितविम्बरा तथा इसका श्रीमुनिमद्रसूरि वृत्त पञ्जिका १० १

तप भवना आन्त्रिमे जब ज्ञानावस्थायिका क्षयोपराम तीव्र हा जाता है त शब्दिक अध्ययनक सिवाय ही इष्टिवाक्यका सम्पूर्ण अध्ययन कर लेगी है और गुरुध १ पाद पाकर केवलज्ञानकी भी पा लेगी है—

“यदि च ‘शास्त्रयोगागम्यसामर्प्ययोगावसयभावत्वविसूक्ष्मेऽप्येतेषां विशिष्टक्षयोपशमप्रभवप्रभावयोगात् पूर्वधरस्येष बोधातिरेकसन्देहाद्यशुद्धध्यानद्वयप्राप्ते केवलावामिदमेण मुक्तिप्राप्तिरिति ॥”



अथ रक्षा शाब्दिक अध्ययनका निषेध सो इसपर अनेक तर्क विकृत उत्पन्न होते हैं । यथा—निर्गममें अर्थ ज्ञानकी योग्यता मान ली जाय उमरों में शाब्दिक अध्ययनकेलिये अयोग्य बनना क्या भगवत् है ? अथ अर्थ ज्ञानका मापनमात्र है । तब भावना आदि अन्य मापनमें जो अर्थ ज्ञान संपादन कर सकता है वह उमर ज्ञानको शब्दद्वारा संपादन करनेकेलिये अयोग्य है यह कहना कहानिक भगवत् है ? शाब्दिक अध्ययनके निषेधकेलिये तुच्छत्व अभिमान आदि जो मानसिक दोष निषेधके लिये हैं वे क्या पुरुषजातिमें नहीं होते ? यदि विशिष्ट पुरुषोंमें उक्त दोषोंका अभाव हानके कारण पुरुष-सामान्यकेलिये शाब्दिक अध्ययनका निषेध नहीं किया है तो क्या पुरुष तुच्छ विशिष्ट श्रियोंका समभव नहीं है ? यदि अभभव होता तो श्री मोक्षका वरण क्यों किया जाता ? शाब्दिक अध्ययनकेलिये जो शारीरिक दोषोंकी सम्भावना की गयी है वह भी क्या सब श्रियोंको लागू पड़ती है ? यदि तुच्छ श्रियोंको लागू पड़ती है तो क्या कुछ पुरुषोंमें भी शारीरिक अशुद्धि की सम्भावना नही है ? ऐसी दशा में पुरुषजातिको छोड़ कर श्रियोंकेलिये शाब्दिक अध्ययनका निषेध किस अभिप्रायमें किया है ? इन तर्कों सम्बन्धमें सन्तोंमें 'तना हा वदना है कि मानसिक या शारीरिक दोष दिखाकर शाब्दिक अध्ययनका निषेध किया गया है वह प्रायिक तान पड़ता है अर्थात् विशिष्ट श्रियोंकेलिये अध्ययनका निषेध नही है । 'तन' सम्बन्धमें यह कथा जा मवता है कि जब विशिष्ट श्रियों दृष्टिवादका अर्थ ज्ञान बीनराभाव केवलज्ञान और मोक्ष तन पानेमें समर्थ हो सकती है तो फिर उनमें मानसिक दोषोंकी सम्भावना ही क्या है ? तथा बृद्ध अप्रमत्त और परमपवित्र आचारवाली श्रियोंमें शारीरिक अशुद्धि कम बननायी जा सकती है ? जिनकी दृष्टिबल अध्ययनकेलिये योग्य समझा जाता है वे पुरुष भी, जैसे —स्थूलमात्र त्वथिवा पु यमिन आदि तुच्छत्व स्मृति-दोष आदि कार्योंमें दृष्टिकारकी रक्षा न कर सके ।

“तेण चिन्थि भागणीण इट्ठिं दारिमेमिच्चि मीहरुव विचव्वइ ।”

—भावश्यकवृत्ति १० ६६८ ।

‘ततो आयरिण्हि दुच्चलियपुस्समित्तो तस्म वायणायरिओ षिण्णा, ततो सो कइवि दिवसे वायण दाउण आयरियमुवट्ठितो भणइ मम वायण देंतरस नासति, ज च सण्णायघरे नाणुप्पेहिय, अतो मम अज्जरतस्स नवम पुव्व नासिहित्ति, ताहे आयरिया चित्तेति-जइ ताव एयस्स परममेहाविस्स एव शरतस्स नासइ अन्नस्स चिरनट्ट थेव ।’



देने का काल अणुका एक समय-द्वय व्यक्त होता है । अर्थात् समय दूसरे प्रदेश तककी परमाणुकी मन्द गति इन दोनोंका परिमाण बराबर है ।  
इस प्रकार प्रयोग है ।

वस्तु-स्थिति क्या है — निश्चय-दृष्टिमें देखा जाय तो कालको अलग-अलग  
जसरत नहीं है । उसे जीवानीवने पर्यायरूप माननेमें ही सब काय व सब व्यवहार  
जाते हैं । इसलिये यहाँ पत्र, तास्त्रिक <sup>२</sup> । अथ पत्र 'यावहारिक व औपचारिक है ।  
मनुष्य क्षेत्र प्रमाण माननेका पत्र स्थूल लोक-व्यवहारपर निर्भर है । और उसे अणुस्य <sup>३</sup>  
पत्र औपचारिक है देमा स्वैकार न किया जाय तो यह प्रश्न होता है कि जब मनुष्य <sup>४</sup>  
बाहर भी नवन्व पुराणत्व आदि सब हाने हैं, तब फिर कालको मनुष्य क्षेत्रमें ही कैसे माना  
मरता है ? दूसरे यह माननेमें क्या युक्ति है कि काल ज्योतिष् चक्रके संचारकी <sup>५</sup>  
है ? यदि अज्ञेय रचना भी हो तो क्या वह लक्ष-व्यापी होकर ज्योतिष् चक्रके संचारको मन्द  
नहीं ले सकता ? इसलिये हमने मनुष्य क्षेत्र प्रमाण माननेकी कल्पना स्थूल लोक-व्यवहारपर  
निर्भर है — कालको अणुरूप माननेकी कल्पना औपचारिक है । प्रत्येक पुत्रल परमाणुकी ही उप  
चारमें कालाणु मनमाना चाहिये और कालाणु अदृशवत्ते वचनकी मदति इसी तरह कर  
लेनी चाहिये ।

देमा न मानकर कालाणुको स्वतंत्र माननेमें प्रयत्न होता है कि यदि काल अणुस्य द्रव्य  
माना जाता है तो फिर वह धम अन्तिकायतां तरह स्वरूपमें क्यों नहीं माना जाता है ? हमें  
मित्राय एक यह भी प्रश्न है कि जो त्रयीवने पर्यायमें तो निमित्तकारण समय पर्याय है । पर  
समय पर्यायमें निमित्तकारण क्या है ? यदि वह स्वाभाविक होनेमें अथ निमित्तकी अज्ञेयता नहीं  
रचना तो फिर जीव-अजीवके पर्याय भी स्वाभाविक क्यों न माने जायें ? यदि समय पर्यायके  
वास्ते अन्य निमित्तकी कल्पना का जाय तो अनवस्था आती है । इसलिये 'अणु-पत्रकी औपचा  
रिक मानना ही ठक है ।

वैश्वानराने कालक स्वल्प — वैदिकदर्शनमें भी कालक मन्त्रमें सुराप दो पत्र हैं ।  
वैश्वानराने मन्त्र ७ सूत्र १—१० तथा 'यावहारिक कालको स्वल्प-व्यापी स्वल्प द्रव्य  
मानने हैं । साध्य मन्त्र ७ सूत्र १० दाग तथा वेदान्त आदि दान-कालको स्वल्प द्रव्य न  
मानकर उस प्रकृति-पुरुष (जट-चेतन)का ही रूप मानते हैं । यह दूसरा पत्र निश्चय-दृष्टि-मूलक  
है और पहला पत्र व्यवहार-मूलक ।

जैनदर्शनमें जिसको समय और दशानांतरोंमें जिसको 'दण्ड' कहा है उसका स्वरूप  
जाननेकलिये तथा 'काल' नामक कोई स्वल्प वस्तु नहीं है वह केवल लौकिक-दृष्टि-मूलकी

एमी वस्तु मित्ति होनेपर भी मित्थोकी ही अन्वयनरा निषेध क्यों किया गया ? इस प्रश्नका उत्तर । तरहमें दिया जा सारा है—(१) समान सामग्री निम्ननेपर भी पुष्पाकं मुक्ताविलम्बे मित्थाका कम मरुदाने यात्रय होना ७) (२) धर्तिसामिक परिस्थिति ।

(१)—चिन परिभाषा दर्शाते मित्थोकी पड़ने आदिही सामग्री पुष्पाके समान प्राप्त होती है वहीना शनिद्वारा दयनने यही जग पकता है कि मित्थो पुष्पाके कृत्य हो सकती है म्हा । पर दोसद मित्थोकी सम श खात्रा तवी अपने पुष्पाकाविलम्बे अधिक पायी जाती है ।


(२)—कुत्तकुत्त अन्वय मरीले प्रतिपादक निम्नपर आकशोने स्व जातिको शारीरिक और मानसिक षेक कारण नीचा तककलिये अयोग्य ठहराया ।

“लिंगमिमे य इत्थीण, थणतरे णाहिकककसदेसम्मि ।

भणिओ सुहमो काओ, ताम फह होइ पक्वजा ॥”

—धरपाहुड सूत्रपाहुड गा० २४-२५ ।

और उ म् विज्ञानने शारीरिक बुद्धिको अय स्थान देकर रही और शू जातिको सामा दल में अन्वयनरालये अनविशारी बनलाया —

“श्रीशुद्धौ नाधीयाता” 



(३) — गुणस्थान अधिकार

(१) — गुणस्थानोंमें जीवस्थान ।

सर्वजियठाण मिच्छे, सग सासणि पण अपज्ज  
समे सञ्ची वुविहो, सेसेसुं संनिपज्जतो ॥ ४५ ॥

सयाणि जावस्थानानि मिष्यात्वे, सत सासादने पञ्चापपाता षशिद्विफम् ।  
सम्यक्त्वे सञ्ची द्विविध, शेषषु षशिपर्याप्त ॥ ४५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें सब जीवस्थान हैं । सासादनमें पाँच अपर्याप्त ( वाडर एकेंद्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और अस्सशि पञ्चेन्द्रिय ) तथा दो सञ्ची ( अपर्याप्त और पर्याप्त ) कुल सात जीवस्थान हैं । अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानमें दो सञ्ची ( अपर्याप्त और पर्याप्त ) जीवस्थान हैं । उक्त तीनके सिवाय शेष ग्यारह गुणस्थानोंमें पर्याप्त सञ्चीजीवस्थान है ॥ ४५ ॥

१—गुणस्थानमें जीवस्थानका जो विचार यहाँ है गोम्मत्सारमें समान भिन्न प्रकारका है । उसमें दूसरे ब्रह्म और तेरहवें गुणस्थानमें अपर्याप्त और पर्याप्त सञ्ची ये दो जीवस्थान माने हुए हैं ।

—जीव० गा० ६३८ ।

गोम्मत्सारका यह वर्णन अपेक्षाकृत है । कमलाशङ्कोर ११२वें गाथामें अपर्याप्त एकेंद्रिय द्वीन्द्रिय आदिको दूसरे गुणस्थानका अधिकारी मानकर उनको जीवकाएटमें पहने गुणस्थानगणका अधिकारी कहा है, सो तृतीय गुणस्थानवर्ती अपर्याप्त एकेंद्रिय आदि जीवकी अवतारी अपेक्षासे। दूठे गुणस्थानके अधिकारीको अपर्याप्त कहा है, सो आहारकमित्त्रकाय योगकी अपेक्षामें ।

—जीवकाएट गा० १२६ ।

तेरहवें गुणस्थानके अधिकारी मय भी केवलीको अपर्याप्त कहा है सो योगका अपूर्णताकी अपेक्षासे ।

—जीवकाएट गा० १२५ ।

गुणस्थानमें) तेज, पद्म और शुद्ध, ये तीन लेश्याएँ हैं। आठवेंसे लेकर तेरहवें तक छह गुणस्थानोंमें केवल शुक्ललेश्या है। चौदहवें गुणस्थानमें कोई भी लेश्या नहीं है।

बन्धु हेतु—कर्म बन्धुके चार हेतु हैं।—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ कषाय और ४ योग ॥ ५० ॥

भावार्थ—प्रत्येक लेश्या, असख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण अभ्यवसायस्थान (सक्लेश मिश्रित परिणाम) रूप है, इसलिये उसके तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि उतने ही भेद समझने चाहिये। अत एव कृष्ण आदि अशुभ लेश्याओंको छूटे गुणस्थानमें अतिमन्दतम और पहले गुणस्थानमें अतितीव्रतम मान कर द्रव्य गुणस्थानों तक उनका सम्बन्ध कहा गया है। सातवें गुणस्थानमें आर्त तथा रोद्र ध्यान न होनेके कारण परिणाम इतने विशुद्ध रहते हैं, जिससे उस गुणस्थानमें अशुभ लेश्याएँ सवधा

इमं विवेचन श्रीजिनमद्रगणि समात्मणने भाष्यका २७४१मे ४० तककी पाठ्याश्रमोंमें श्रीमच्छ्रीमद्रगिने अपनी टीकामें और मलभारा श्रीमच्चन्द्रमूरिने भाष्यश्रुतिमें विस्तारपूर्वक किया है। इम विषयबन्धिये लोकरप्रकाराने २२ मर्गक ३१३ मे ३२३ तकके श्लोक द्रष्टव्य है।

चौथा गुणस्थान प्राप्त होनेक समय द्रव्यलेश्या शुभ और अशुभ दोनों मानी जाती है और भावनेरवा शुभ है। इसलिये यह शक्य होती है कि क्या अशुभ द्रव्यलेश्यावालोंकी भी शुभ भावनेरवा होती है ?

इमसा समाधान यह है कि द्रव्यलेश्या और भावनेरवाके सम्बन्धमें यह नियम नहीं है कि दोनों समान होनी चाहिये क्योंकि यद्यपि मनुष्य त्रिषण जिनकी द्रव्यलेश्या अस्विर होती है उनमें तो तैसी द्रव्यलेश्या घेनी ही भावनेरवा होती है। पर देव-नारक जिनकी द्रव्यलेश्या अस्थिर (स्विर) मानी गयी है उनक विषयमें इममे उल्टा है। अर्थात् नारकोंमें अशुभ द्रव्यलेश्याके होने हुए भी भावनेरवा शुभ हो सकती है। इमी प्रकार शुभ द्रव्यलेश्यावाले देवोंमें भावनेरवा अशुभ भी हो सकती है। इस बातको सुशामेने मगधनेबन्धिये प्रज्ञापनाका १७वाँ पद तथा उसकी टीका देखनी चाहिये।

मायार्थ—एकेन्द्रियादि सब प्रकारके सत्तारी जीव मिथ्यात्वा पाये जाते हैं, इसलिये पहले गुणस्थानमें सब जीवस्थान कहे गये हैं। हमारे गुणस्थानमें सात जीवस्थान ऊपर कहे गये हैं, उनमें छद्म अर्थात् हैं, जो सभी करण अर्थात् समझने चाहिये, क्योंकि तन्त्रि अर्थात् जाय, पहले गुणस्थानवाले ही होते हैं ।

चौथ गुणस्थानमें अर्थात् सभी कहे गये हैं, सो भी उन कारणों करण अर्थात् ही समझने चाहिये ।

पश्चात् सत्ताके सिवाय अन्य किसी प्रकारके जीवमें ऐसे परिणाम नहीं होते, जिनसे वे पहले, दूसरे और चौथेको छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानोंका पा सकें । इसीलिये इन ग्यारह गुणस्थानोंमें केवल अर्थात् सत्ता जीवस्थान माना गया है ॥ ४५ ॥

(४-५)-गुणस्थानोंमें लेश्या तथा बन्ध-हेतु ।

छसु सव्वा तेजतिग, इगि छसु सुक्का अयोगि अत्तेसा ।

यधस्स मिच्छ अविह, -कसायजोग ति चउ जेज ॥५०॥

पट्सु सवास्तेमस्सिकमेकस्मिन् पट्सु शुक्काऽयोगिनोऽद्धेश्या ।

वधस्स मिथ्यात्वाविरातकपाययोगा इति चत्वारो हतथ ॥ ५० ॥

अर्थ—पहले छह गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ हैं । एक ( सातव

१—गुणस्थानोंमें लेश्या या लेश्यामें गुणस्थान माननेक सम्बन्धन दा मत चले गये है । पहला मत पट्टो चार गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ और दूसरा मत पहले छह गुणस्थानोंमें छह लेश्याएँ मानता है । पहला मत पञ्चमसह सा० १ गा ३०, प्राचीन बन्धस्वामिच गा ४०, नवांग बन्धस्वामिच गा २५ सनार्थसिद्धि पृ० २४ और गोम्यमार-जीवकाण्ड गा० ७०३रीके मावायमें है । दूसरा मत प्राचीन अनुभ कर्मग्रन्थ गा ७३ में तथा यहाँ है । दोनों मत अपेक्षा युक्त हैं वन में कुछ भी विरोध नहीं है ।

पहले मतका आशय यह है कि छहों प्रकारकी द्रव्यलेश्यावालोंकी श्रीया गुणस्थान प्राप्त होता है पर पचर्वा या छठा गुणस्थान सिर्फ तीन शुभ द्रव्यलेश्यावालोंकी । इसलिये गुणस्थान प्राप्तिमें समय वतमान द्रव्यलेश्याकी अपेक्षास रावे गुणस्थान पयन्त छह लेश्याएँ माननी चाहिये और पाँचवे और छठेमें तीन ही ।

दूसरे मतका आशय यह है कि यद्यपि छहों लेश्याओंका समय चाधा गुणस्थान और तीन शुभ द्रव्यलेश्याओंक समय पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होता है परन्तु प्राप्त होनेके बाद चाधि पाँचवे और छठे तीनों गुणस्थानवालोंमें छहों द्रव्यलेश्याएँ पायी जाती है । इसलिये गुणस्थान प्राप्तके वत्तर कालमें वतमान द्रव्यलेश्याओंकी अपेक्षामें छठ गुणस्थान पयत्त छह लेश्याएँ मानी जाती हैं ।

इस तथ्य पर ध्यानमें रखनी चाहिये कि श्रीया पाँचवाँ और छठा गुणस्थान प्राप्त होनेक समय भावलेश्या का शुभ दी जाती है अनुभव नहीं पर प्राप्त होनेक बाद भावलेश्या भी अनुभव हो सकती है ।

“सम्मतसुय सव्वा सु, लहइ, सुद्धासु वीसु य चरित्त ।

पुण, अण्णयरीए च लेसाए ॥”

निपुक्ति गा० ८२२ ।

## (२)—गुणस्थानोंमें योग

[दो गाथाओंके ।]

मिच्छद्गुणअजइ जोगा, -हारदुगूणा ७  
मणवइ उरल सविउ, -व्व मीसि ३ ७

मिथ्यात्वदिकायते योगा, आहारकदिकोना अपूषपञ्चके तु  
मनोवच औदारिक सवैक्रिय मिभे सवैक्रियदिक देणे ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन और  
नमें आहारक दिकको छोडकर तेरह योग हैं ।  
पाँच गुणस्थानोंमें चार मापे चार घचनके और एक  
ये नौ योग हैं । मिश्रगुणस्थानमें उक्त नौ तथा एक वैक्रिय, ये  
योग हैं । देशविरतगुणस्थानमें उक्त नौ तथा वैक्रिय दिक, कुल  
ग्यारह योग हैं ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—पहले, दूसरे और चौथे गुणस्थानमें तेरह योग इस  
प्रकार हैं—कर्मणयोग, विग्रहातिमें तथा उत्पत्तिके प्रथम समयमें,  
वैक्रियमिश्र और औदारिकमिश्र, ये दो योग उत्पत्तिके प्रथम समयके  
अनन्तर अपर्याप्त अवस्थामें और चार मनके, चार घचनके, एक  
औदारिक तथा एक वैक्रिय, ये दस योग पर्याप्त अवस्थामें । आहारक  
और आहारकमिभ, ये दो योग चारित्र सापेक्ष होनेके कारण उक्त  
तीन गुणस्थानोंमें नहीं होते ।

१—गुणस्थानोंमें योग विषयक विचार जैसा यहाँ है वैसा ही पञ्चसत्र भा० १ गा० १६—  
: तथा प्राचीन बभ्रुव कर्मण्य ग० ६६—६६ में है ।

गोमन्मरामें कुल विचार भेद है । उमें पाँचवें और भाषवें गुणस्थानमें नौ और छठे  
स्थानमें ग्यारह योग माने हैं ।



मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयसे होता है और जिससे कदाग्रह, सशय आदि दोष पैदा होते हैं । ( २ ) 'अविरति', वह परिणाम है, जो अप्रत्याख्यानावरणकपायके उदयसे होता है और जो चारित्र्यको रोकता है । ( ३ ) 'कपाय', वह परिणाम है, जो चारित्र्यमोहनीयके उदयसे होता है और जिससे क्षमा, विनय, सरलता, सतोष, गम्भीरता आदि गुण प्रगट होने नहीं पाते या बहुत कम प्रमाणमें प्रकट होते हैं । ( ४ ) 'याग', आत्म प्रदेशोंके परिस्पन्द (चाञ्चल्य) को कहते हैं, जो मन, वचन या शरीरके योग्य पुद्गलोंके आलम्बनसे होता है ॥ ५० ॥

बन्ध-हेतुओंके उत्तरभेद तथा गुणस्थानोंमें  
मूल बन्ध-हेतु ।

[ दो गाथाओंमें । ]

अभिग्राहियमणाभिग्राहिया, भिनिवेशियससह्यमणाभोगं  
पण मिच्छ वार अविरह, मणरुणानियमु छजियवहो ५१

आभिग्रहिकमनाभिग्रहिकाभिनिवेशिकसाशयिकमनाभोगम् ।

पञ्चमिथ्यात्व नि द्वादशाविरतयो, मन करणानियम पङ्जीववध ॥५१॥

अर्थ—मिथ्यात्वके पाँच भेद हैं—१ आभिग्रहिक, २ अनाभिग्रहिक, ३ आभिनिवेशिक, ४ साशयिक और ५ अनाभोग ।

१—य विषय एवमग्रह १० ४री २ मे ४ तकका गाथाओंमें तथा गोमटनार-कम काण्ठी ७८६ से ७८८ तककी गाथाओंमें है ।

गोमटनारमें मिथ्यात्वक १ पञ्चान २ विरति ३ वैनयिक ४ साशयिक और ५ अज्ञान ये पाँच प्रकार हैं ।

—जी०, गा० १५ ।

अविरतिके लिये जीववाचकी २६ तथा ४७७वीं गाथा और कपाय व दोगके लिये कमरा समकी कपाय व योगमागला दगनी चाहिये । तत्सार्थक ८१ अर्थात्के १मे मन्त्रक भाष्यमें मिथ्यात्वक अभिगृहीत और अनभिगृहीत, ये दो ही भेद हैं ।

भावार्थ—एकेन्द्रियादि सप्त प्रकारके सप्तारी जीव मिथ्यात्वोपाये जाते हैं, इसलिये पहले गुणस्थानमें सप्त जीवस्थान कहे गये हैं।

दूसरे गुणस्थानमें सात जीवस्थान ऊपर कहे गये हैं, उनमें छह अपर्याप्त हैं, जो मसी करण अपर्याप्त समझने चाहिये, क्योंकि तन्वि अपर्याप्त जीव, पहले गुणस्थानवाले ही होते हैं।

चौथे गुणस्थानमें अपर्याप्त सप्तौ कहे गये हैं, सो भी उक्त कारणसे करण अपर्याप्त ही समझने चाहिये।

पर्याप्त सप्तौके सिवाय अन्य किसी प्रकारके जीवमें ऐसे परिणाम नहीं होते, जिनसे वे पहले, दूसरे और चौथेको छोड़कर शेष ग्यारह गुणस्थानोंको पा सकें। इसीलिये इन ग्यारह गुणस्थानोंमें केवल पर्याप्त सप्तौ जीवस्थान माना गया है ॥ ५५ ॥



नहीं होती; किन्तु तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं । पहले गुणस्थानमें तेज और पद्म लेश्याको अतिमन्दतम और सातवें गुणस्थानमें अति तीव्रतम, इसी प्रकार शुक्ललेश्याको भी पहले गुणस्थानमें अति मन्दतम और तेरहवेंमें अतितीव्रतम मानकर उपर्युक्त रीतिसे गुण स्थानोंमें उनका सम्बन्ध बतलाया गया है ।

चार बन्ध हेतु—(१) 'मिथ्यात्व', आत्माका वह परिणाम है जो

१—ये ही चार बन्ध हेतु पृथमपद-१ की ११वीं गाथा तथा कर्मकाण्डकी ७८६वीं गाथामें है । यत्रि तत्त्वबन्धके ८वें अथाथके तले सूत्रमें उक्त चार हेतुओंमें अतिरिक्त प्रमाणोंकी भी बन्ध हेतु माना है परन्तु उमना समावेश अविरति कषाय आदि हेतुओंमें ही माना है । जैसे—विषय-सेवनरूप प्रमाण अविरति और लज्जा प्रयागरूप प्रमाण योग है । वस्तुतः कषाय और योग के भी ही बन्धहेतु समझने चाहिये क्योंकि मिथ्यात्व और अविरति कषायके ही कारण है । इसी अभिप्रायमें ११वें कर्मग्रन्थकी १६वीं गाथामें दो ही बन्धहेतु माने गये हैं ।

इस तरह कर्मबन्धके सामान्य हेतु दिखाय है सा निश्चयदृष्टिमें अत एव उन्हें अन्तरङ्ग हेतु समझना चाहिये । पहले कर्मग्रन्थ १४३ ६१ तककी गाथाओंमें तत्त्वबन्धके दूठे प्रत्यायके १) न २ तरुके सूत्रमें तथा कर्मकाण्डकी ८०० स ८१ तककी गाथाओंमें हर एक कर्मके अलग अलग बन्ध हेतु कहे हुए हैं जो व्यवहारदृष्टिसे अत एव उन्हें बहिरङ्ग हेतु समझना चाहिये ।

शाब्दिक—प्रत्येक समयमें आत्यन्तक विषय मान कर्मोंका बोधा जाना महापनाच २४वें पदमें कहा गया है इस लये ज्ञान ज्ञानी आदिपर प्रद्वय या जनका निहव करी समय भी ज्ञाना वरणीय दर्शनावरणीयकी तरह अन्य कर्मोंका बन्ध होता ही है । इस अवस्थामें 'तत्त्व' पदनिहव अति महत्त्वके तले अर्थायके ११ में २६ तरुके सूत्रोंमें कहे हुए आत्यन्तक शास्त्रावरणीय और दर्शनावरणीय आदि कर्मव विरूप हेतु कैसे कहे जा सकते हैं ?

समाधान—तत्त्वपदनिहव आदि आत्मबोधकी प्रत्येक कर्मका जो विशेष विशेष हेतु कहा है सा अनुभागरूपमें अपेक्षास प्रकृतिके अपेक्षामें नहीं । अर्थात् किसी भी आत्मबन्ध केवनके समय प्रकृतिके भव प्रकारका होता है । अनुभागरूपमें फल है । जैसे—ज्ञान ज्ञानी ज्ञानोपकरण आदिपर प्रद्वय करनेके समय ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीयकी तरह अन्य प्रकृतियोंका बन्ध होगा ही पर तब समय अनुभागरूपमें विशेषरूपसे ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्मका ही बोधा है । सारांश विशेष हेतुओंका विभाग अनुभागरूपकी अपेक्षासे किया गया है प्रकृतिके अपेक्षास नहीं ।

—तरुबन्ध अ० ६ सू० २७की सहाय मन्त्रि ।



प्रकारका, इसी तरह गुरु और धर्मके विषयमें सदेह शील बने रहना 'साशयिकमिध्यात्व' है । (५) विचार व विशेष ज्ञानका अभाव अर्थात् मोहकी प्रगाढतम अवस्था 'अनाभोगमिध्यात्व' है । इन पाँच मेंसे आभिग्रहिक और अनाभिग्रहिक, ये दो मिध्यात्व, गुरु हैं और शेष तीन लघु, क्योंकि ये दोनों विपर्यासरूप होनेसे तीव्र क्लेशके कारण हैं और शेष तीन विपर्यासरूप न होनेसे तीव्र क्लेशके कारण नहीं हैं ।

मनको अपने विषयमें स्वच्छन्दतापूर्वक प्रवृत्ति करने देना मन अविरति है । इसी प्रकार त्वचा, जिह्वा आदि पाँच इन्द्रियोंकी अविरतिको भी समझ लेना चाहिये । पृथ्वीकायिक जीवोंकी हिंसा करना पृथ्वीकाय अविरति है । शेष पाँच कार्योंकी अविरतिको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये । ये बारह अविरतियाँ मुख्य हैं । मृषा वाद अविरति, अदत्तादान अविरति आदि सब अविरतिओंका समावेश इन बारहमें ही हो जाता है ।

मिध्यात्वमोहनीयकर्मका ओद्यिक परिणाम ही मुख्यतया मिध्यात्व कहलाता है । परन्तु इस जगह उससे होनेवाली आभिग्रहिक आदि बाह्य प्रवृत्तिओंको मिध्यात्व कहा है, सो कार्य कारणके भेदकी विवक्षा न करके । इसी तरह अविरति, एक प्रकारका काया

१—मदन विपर्यया सगय उच्च-कोटिके साधुभागै भी पाया जाता है पर वह मिध्यात्व रूप नहीं है क्योंकि अतन —

“तमेव सद्य णीसक, ज जिणेहि पवेइय ।”

इत्यादि भावनासे आगमको प्रमाण मानकर ज्ञाने मंत्रार्थोंका निवृत्तन किया जाता है । इसलिये जो सराय आगम प्रामाण्यके द्वारा भी निवृत्त नहीं होता वह अन्तत आगमकारका उत्पादक होनेके कारण मिध्यात्वरूप है ।

—धर्मसमग्र १० ५१ ।

२—वह ज्येष्ठिय ज्ञानि सुदृढतम जतुममि और मूढ प्राणिकमि होता है ।

—धर्मसमग्र १० ५० ।

आठवेंसे लेकर बारहवें तक पाँच गुणस्थानोंमें छह योग नहीं हैं, क्योंकि ये गुणस्थान विप्रहृति और अपर्याप्त अवस्थामें नहीं पाये जाते । अत एव इनमें कामण और औदारिकमिथ्र, ये दो योग नहीं होते तथा ये गुणस्थान अप्रमत्त अवस्था भागी हैं । अत एव इनमें प्रमाद जन्य लब्धि प्रयोग ७ होनेके कारण वैक्रिय द्विक और आहारक द्विक ये चार योग भी गहा होते ।

तीसरे गुणस्थानमें आहारक द्विक, औदारिकमिथ्र, वैक्रियमिथ्र और कामण, इन पाँचके सिवाय शेष दस योग हैं ।

आहारक द्विक मयम सापेक्ष होनेके कारण नहीं होता और औदारिकमिथ्र आदि तीन योग अपर्याप्त अवस्था भागी होनेके कारण गहा होते, क्योंकि अपर्याप्त अवस्थामें तीसरे गुणस्थानका सभव ही नहीं है ।

यह शङ्का होती है कि अपर्याप्त अवस्था भावी वैक्रियमिथ्रका ययोग, जो देव और गरकोंको होना है, वह तीसरे गुणस्थानमें भले ही न माना जाय, पर जिस वैक्रियमिथ्रकाययागका सम्भव वैक्रियलब्धि धारी पर्याप्त मनुष्य तिर्यञ्चोंमें है, वह उस गुणस्थानमें क्यों न माना जाय ?

इसका समाधान श्रीमत्पद्मगिरिसूरि प्रादिने यह दिया है कि सम्प्रदाय नष्ट हो जानेसे वैक्रियमिथ्रकाययोग न माने जानेका अज्ञात है तथापि यह जान पडता है कि वैक्रियलब्धियाले तिर्यञ्च तीसरे गुणस्थानके समय वैक्रियलब्धिका प्रयोग कर बनाते न होंगे ।

देशविरतियाले वैक्रियलब्धि-सम्पन्न मनुष्य व तिर्यञ्च वैक्रिय बनाते हैं इसलिये उनके वैक्रिय और वैक्रियमिथ्र, ये दो योग

अविरतिके चारह भेद हैं। जैसे —मन और पाँच इन्द्रियाँ, इन छहको नियममें न रखना, ये छह तथा पृथ्वीकाय आदि छह कार्योंका बध करना ये छह ॥५७॥

भाषाथ-(१) तत्पत्नी परीक्षा किये बिना ही किसी एक सिद्धांतका पक्षपात करके अथ पक्षका पण्डित करना 'आभिप्रहितमिध्यात्व' है। (२) गुण-दोषकी परीक्षा बिना किये ही सब पक्षोंको धरावर समझना 'अनाभिप्रहितमिध्यात्व' है। (३) अपने पक्षको असत्य जानकर भी उसकी स्थापना करनेकेलिये दुरभिनियेश (दुराग्रह) करना 'आभिनियेशिकमिध्यात्व' है। (४) ऐसा देव होगा या अन्य

१—सम्भारकी कृति विना ही सिद्धांतका पक्षपात नहीं करता अतः इसकी कृति परीक्षापूर्वक किसी एक पक्षको मानना अथ पक्षका खयाल करना है वह आभिप्रहित नहीं है। न गुणधारमात्रग करीकी वन (उत्पन्न) मानकर तत्पत्नी परीक्षा नहीं करता वह न मनो न परतु परतु आभिप्रहितमिध्यात्व है। नपतुप गुण आदिकी तरह तत्पत्नी क नैरे स्वयं असमय लाग किये गीताथ (दवान परीक्षा) क अहित हो तो उन्हें आभिप्रहितमिध्यात्व नहीं समझना क्योंकि गीताथ अथन रहनेसे मिध्या पक्षका का समझ नहीं होता। —धर्मसंग्रह पृ ४९

२—यह मन्दबुद्धिवाले व परीक्षा करनेमें असमय साथ रख लेगोमें पाया जाता है। यह लाग अवसर काल करते हैं कि सब धर्म बर बर है।

३—शुद्ध वाक्योपयोग न रहनेके कारण या माग रसिकी गलतीके कारण भिमकी अज्ञा विरत हो जाता है वह आभिनियेशिकमिध्यात्वो नहीं है क्योंकि यथाथ-वक्ता मिलनेपर जगत् अथ तारिक बन जाती है क्योंकि यथाथ-वक्ता मिलनेपर भी अज्ञाका विपरीत बना रहना दुरभिनियेश है। यद्यपि गीतिसिद्धनेत विरकर श्रीतिनमद्रपथि समाश्रमण आदि आचार्यों ने अपने अपने पक्षका समर्थन क ऊ बहुत बुद्ध कया है तथापि उन्हें आभिनियेशिकमिध्यात्वो नहीं का सही कथाि कौने अविच्छिन्न प्रवचनक परपराक आधारपर शक-नात्यर्थको अपने अपने पक्षक अनुकूल समझकर अपने अपने पक्षका समर्थन किया है पक्षपाते नहीं। इसक विपरीत जगति गेष्ठामहित आदि शास्त्रकारोंकी स्ववक्त्रके प्रतिकूल जानने हुए भी निरुपयथा समान किया इन्लिदे वे आभिनियेशिक कहे जाते हैं। —धर्म० पृ० ४० ।

चार मनके, चार घचनके और एक श्रौदारिक, ये नौ योग मनुष्य तिर्यञ्चकेलिये साधारण हैं । अत एव पाँचवें गुणस्थानमें कुल ग्यारह योग समझने चाहिये । उसमें सर्वविरति न होनेके कारण दो आहारक और अर्थात् अवस्था न होनेके कारण कामण और श्रौदारिकमिथ, ये दो, कुल चार योग नहीं होते ॥ ४६ ॥

साहारदुग्ग पमत्ते, ते विडवाहारमीस विणु इयरे ।

कम्मुरलदुगंताइम,—मणवयण सयोगि न अजोगी ॥४७॥

साहारकद्विक प्रमत्ते, ते वैक्रियाहारकमिथ विनेतरस्मिन् ।

कामणोदारिकद्विका तादिममनोवचन एयोगिनि नार्थोगिनि ॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थानमें विरतिशुद्ध

आहारक द्विक, कुल तेरह योग हैं ।

तेरहमेंसे वैक्रियमिथ और आहारकमिथको

योग हैं । सयोगिकेरलिगुणस्थानमें कामण, अ

मनोयोग, असत्यामृपमनोग, सत्यवचनयोग

वचनयोग, ये सात योग हैं ।

योग नहीं होता—योगका सर्वथा अभाव है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—छठे गुणस्थानमें तेरह योग कहे गये

चार मनके, चार घचनके और एक श्रौदारिक, ये

मुनियोंके साधारण हैं और वैक्रिय द्विक तथा

चार योग वैक्रियशरीर या आहारकशरीर धारणवाले

मुनियोंके ही होते हैं ।

वैक्रियमिथ और आहारकमिथ, ये दो योग, वैक्रिय

आहारकशरीरका आरम्भ तथा परित्याग करनेके समय

हैं, जब कि प्रमाद भवस्था होती है । पर सातवाँ गुण



दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वोदयके सिवाय अन्य सब हेतु रहते हैं इससे उस समय होनेवाले कर्म-बन्धनमें तीन कारण माने जाते हैं । छुटे आदि पाँच गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वकी तरह अवि-रति भी नहीं है, इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धमें कपाय और योग, ये दो ही हेतु माने जाते हैं । ग्यारहवें आदि तीन गुण-स्थानोंमें कपाय भी नहीं होता, इस कारण उस समय होनेवाले बन्धमें सिर्फ योग ही कारण माना जाता है । चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी अभाव हो जाता है, अतएव उसमें बन्धका एक भी कारण नहीं रहता ॥५॥

एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासंभव मूल बन्ध हेतु ।  
चतुर्मिच्छामिच्छाअविरट्,—पञ्चदश्या सायसोलपणतीसा ।  
जोग विणु तिपञ्चदश्या,—हारगाजिणवज्ज संसाओ ॥५॥

चतुर्मिच्छामय्याऽविरतिप्रत्यायका सातपाडशपञ्चनिशत ।

योगान् यना विप्रत्यायका आहारकजिनयद्रशेया ॥५॥

अर्थ—सातवेदनीयका बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों हेतुओंसे होता है । नरक त्रिक आदि सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्वमात्र से होता है । तिर्यञ्च निक आदि पंतीस प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व और अविरति, इन दो हेतुओंसे होता है । तीर्थङ्कर और आहारक द्विकको छोड़कर शेष सब (क्षानावरणीय आदि पंसठ) प्रकृतियोंका बन्ध, मिथ्यात्व, अविरति और कपाय, इन तीन हेतुओंसे होता है ॥५॥

भाषार्थ—बन्ध योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं । इनमेंसे सात वेदनीयका बन्ध चतुर्हेतुक (चारों हेतुओंसे होनेवाला) कहा गया है । सो इस अपेक्षासे कि वह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिसे, छुटे आदि चार गुणस्थानोंमें

मत्त अवस्था भावी है, इसलिये उसमें छठे गुणस्थानवाले तेरह योगोंमेंसे उक्त दो योगोंको छोड़कर ग्यारह योग माने गये हैं। वैक्रियशरीर या आहारकशरीर घना लेनेपर अप्रमत्त अवस्थाका भी समय है, इसलिये अप्रमत्तगुणस्थानके योगोंमें वैक्रियकाययोग और आहारककाययोगकी गणना है।

सयोगिकेवलीको केवलिसमुद्घातके समय कार्मण और औदारिकमिथ, ये दो योग, अन्य सब समयमें औदारिककाययोग, अनुत्तर विमानवासी देव आदिके प्रशंसा मनसे उत्तर देनेके समय दो मनोयोग और देशना देनेके समय दो वचनयोग होते हैं। इसीसे तेरहवें गुणस्थानमें सात योग माने गये हैं।

केवली भगवान् सब योगोंका निरोध करके अयोगि अवस्था प्राप्त करते हैं, इसीलिये चौदहवें गुणस्थानमें योगोंका अभाव है ॥४५॥

यिक परिणाम ही है, परन्तु कारणसे कार्यको भिन्न न मानकर इस जगह मनोऽसयम आदिको अधिरति कहा है। देखा जाता है कि मन आदिका असयम या जीव हिंसा ये सब कषाय जय ही हैं ॥५१॥

नव सोल कषाया पन, - र जोग इय उत्तरा ३ सगवन्ना ।  
इगचउपणतिगुणेषु, चउतिदुइगपच्चओ धधो ॥५२॥

नव षोडश कषाया पञ्चदश योगा इत्युत्तरास्तु सप्तपञ्चाशत् ।

एकचतुष्पञ्चिगुणेषु, चतुस्त्रिंशेकप्रत्ययो बध ॥५२॥

अर्थ—कषायके नौ और सोलह, कुल पच्चीस भेद हैं। योगके पद्रह भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर बन्ध हेतुओंके उत्तर भेद सत्तावन होते हैं।

एक (पहले) गुणस्थानमें चारों हेतुओंमें बन्ध होता है। दूसरेसे पाँचवें तक चार गुणस्थानोंमें तीन हेतुओंसे छठेसे दसवें तक पाँच गुणस्थानोंमें दो हेतुओंसे और ग्यारहवेंसे तेरहवें तक तीन गुणस्थानोंमें एक हेतुसे बन्ध होता है ॥ ॥५२॥

मागध—हास्य, रति आदि नौ नोकषाय और अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि सोलह कषाय हैं, जो पहले कर्मग्रन्थमें कहे जा चुके हैं। कषायके सहचारी तथा उत्तेजक होनेके कारण हास्य आदि नौ, कहलाते 'नोकषाय' हैं, पर हैं ये कषाय ही।

पद्रह योगोंका निम्नात्पूवक जणन पहिले २५२। गायामें हो चुका है। पच्चीस कषाय, पद्रह योग और पूर्वं गायामें कहे हुए पाँच मिथ्यात्व तथा चारह अधिरतियाँ, ये सब मिलाकर सत्तावन बन्ध हेतु हुए।

गुणस्थानोंमें मूल बन्ध-हेतु ।

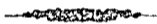
पहले गुणस्थानके समय मिथ्यात्व आदि चारों हेतु पाये जाते हैं, इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धमें ये चारों कारण हैं।

दोनों समय वैक्रियमिथ और आहारकमिथका व्यवहार चाहिये, औदारिकमिथका नहीं ।

७) —सिद्धान्ती, एकेन्द्रियोंमें सासादनगुणस्थानको नहीं पर कार्मग्रन्थिक मानते हैं ।

८) विषयोंके सित्राय अन्य विषयोंमें भी वही कहीं मत भेद है —

९) सिद्धान्ती, अवधिदर्शनको पहले बारह गुणस्थानोंमें मानते कार्मग्रन्थिक उसे चोथेसे बारहवें तक नौ गुणस्थानोंमें, ( २ ) त्तमें ग्रन्थि भेदके अनन्तर ज्ञायोपशमिकसम्यक्त्वका होना गया है, किन्तु कर्मग्रन्थमें औपशमिकसम्यक्त्वका होना ॥४६॥



५) —भगवती प्रहापना और जीवामिगमसूत्रमें एन्द्रियोंको अज्ञानी ही कहा है । इसमें ही कि ज्ञानमें सामादन भाव सिद्धान्त सम्मन नहा है । यदि सम्मन होना तो इंद्रिय केकी तरह एकेन्द्रियोंकी भी ज्ञानी कहने ।

६) 'एगिंदियाण भते । किं नाणी अण्णाणी ? गोयमा । नो नाणी, अन्नाणी ।'

—भगवती श० ८ ४० २ ।

७) —इसमें सामान्य भाव माननेका कार्मग्रन्थिक मत पञ्चसग्रहमें निर्दिष्ट है । यथा —

'गुलेसु जुयल' इत्यादि ।

—श० १ गा० २३ ।

८) —इसमें सिद्धान्तिक और कार्मग्रन्थिक दोनों मत संगृहीत है । ब्रह्मकाण्डकी देखनेमें एकेन्द्रियोंमें सामादन भावका स्वीकार स्पष्ट मालूम होता

९) —मन्त्रकी सर्वार्थमिद्धिमें तथा जीवकाण्डकी ६७७वें श्लोकमें सिद्धान्त

दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वोदयके सिवाय अन्य सब हेतु रहते हैं, इससे उस समय होनेवाले कर्म-बन्धनमें तीन कारण माने जाते हैं । छठे आदि पाँच गुणस्थानोंमें मिथ्यात्वकी तरह अवि रति भी नहीं है, इसलिये उस समय होनेवाले कर्म-बन्धमें कपाय और योग, ये दो ही हेतु माने जाते हैं । ग्यारहवें आदि तीन गुण स्थानोंमें कपाय भी नहीं होता, इस कारण उस समय होनेवाले बन्धमें सिर्फ योग ही कारण माना जाता है । चौदहवें गुणस्थानमें योगका भी प्रभाव हो जाता है, अतः पर उसमें बन्धका एक भी कारण नहीं रहता ॥५२॥

एक सौ बीस प्रकृतियोंके यथासंभव मूल बन्ध हेतुं ।  
चउमिच्छमिच्छअविरह, - पचइया सायसोलपणतीसा ।  
जोग विणु तिपच्चइया, - हारगजिणवज्ज सेसाओ ॥५३॥

चतुर्मिथ्यामिथ्याऽविरतिप्रत्यायका सातपाडशपञ्चनिशत ।

योगान् । वना त्रिप्रत्यायका आहारकजिनवज्जशपा ॥५३॥

अर्थ—सातवेदनीयका बन्ध मिथ्यात्व आदि चारों हेतुओंसे होता है । नरक त्रिक आदि सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्वमात्र से होता है । तिर्यश्च गिक आदि पैंतीस प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व और अविरति, इन दो हेतुओंसे होता है । तीर्थङ्कर और आहारक द्विकको छोड़कर शेष सब (ज्ञानावरणीय आदि पैंसठ) प्रकृतियोंका बन्ध, मिथ्यात्व, अविरति और कपाय, इन तीन हेतुओंसे होता है ॥५३॥

भाषार्थ—बन्ध योग्य प्रकृतियाँ एक सौ बीस हैं । इनमेंसे सात वेदनीयका बन्ध चतुर्हेतुक (चारों हेतुओंसे होनेवाला) कहा गया है । सो इस अपेक्षासे कि वह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिसे, छठे आदि चार गुणस्थानोंमें

(ख) सिद्धान्तका मानना है कि लब्धिद्वारा वैक्रिय और आहारक शरीर बनाते समय औदारिकमिश्रकाययोग होता है, पर त्यागत समय क्रमसे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र होता है। इसके स्थानमें कर्मग्रन्थका मानना है कि उक्त दोनों शरीर बनाते तथा त्यागते समय क्रमसे वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र योग ही होता है, औदारिकमिश्र नहीं। सिद्धान्तका आशय यह है कि लब्धिसे वैक्रिय या आहारक शरीर बनाया जाता है, उस समय इन शरीरोंके योग्य पुद्गल, औदारिकशरीरकेद्वारा ही ग्रहण किये जाते हैं, इसलिये औदारिकशरीरकी प्रधानता होनेके कारण उक्त दोनों शरीर बनाते समय औदारिकमिश्रकाययोगका व्यवहार करना चाहिये। परन्तु परित्यागके समय औदारिकशरीरकी प्रधानता नहीं रहती। उस समय वैक्रिय या आहारक शरीरका ही व्यापार मुख्य होनेके कारण वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्रका व्यवहार करना चाहिये। कामग्रन्थिक मतका तात्पर्य इतना ही है कि चाहे व्यापार किसी शरीरका प्रधान हो, पर औदारिकशरीर जन्म सिद्ध है और वैक्रिय या आहारक शरीर लब्धिजन्य है इसलिये विशिष्ट लब्धिजन्य शरीरकी प्रधानताको ध्यानमें रखकर आरम्भ और

१-यह मन्त्र प्रज्ञापनाके मन्त्र अवलोकते स्पष्ट है -

“ओरालियसरीरकायप्पयोगे ओरालियसीससरीरप्पयोगे वेत्तन्वियसरीरकायप्पयोगे आहारकसरीरकायप्पयोगे आहारकसीससरीरकायप्पयोगे ॥”

—पृ० १६ तथा उसकी टीका पृ० ३१७ ।

कर्मग्रन्थ  
और वेत्त

१ और ४३वीं गाथामें पाँचवें और छठे गुणस्थानमें क्रमसे व्याख्या  
न स्पष्ट है।

क्रिमो

ममान ही नाग पत्नी है क्योंकि वचनमें पाँचवें और छठे  
है। देखिये जीवकाण्डकी ७ श्लो गाथा ।

कषायसे और ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें योगसे होता है। इस तरह तेरह गुणस्थानोंमें उसके सब मिलाकर चार हेतु होते हैं।

नरक त्रिक, जाति-चतुष्क, स्थावर चतुष्क, हुएडसस्थान, आत पनामकर्म, सेवाकर्त्तसहनन, नपुसकघेद और मिथ्यात्व, इन सोलह प्रकृतियोंका बन्ध मिथ्यात्व हेतुक इसलिये कहा गया है कि ये प्रकृतियाँ सिर्फ पहले गुणस्थानमें बाँधी जाती हैं।

तिर्यञ्च त्रिक, स्थानार्द्धि त्रिक, दुमग त्रिक, अनन्तानुबन्धिचतुष्क, मध्यमसस्थान चतुष्क, मध्यमसहनन चतुष्क, नीचगोत्र उद्योतनाम कर्म, अशुभविद्यायोगति, खीवेद, वज्रपभनाराचसहनन, मनुष्य त्रिक, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क और औदारिक द्विक, इन पंतीस प्रकृतियोंका बन्ध द्वि हेतुक है, क्योंकि ये प्रकृतियाँ पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे और दूसरे आदि यथासमय अगले गुणस्थानोंमें अविरतिस बाँधी जाती हैं।

सातवेदनीय, नरक त्रिक आदि उक्त सोलह, तिर्यञ्च त्रिक आदि उक्त पंतीस तथा तीर्थङ्करनामकर्म और आहारक द्विक, इन पचपन प्रकृतियोंको एक सौ बीसमेंसे घटा देनेपर पसठ शेष बचती हैं। इन पसठ प्रकृतियोंका बन्ध त्रि हेतुक इस अपेक्षासे समझना चाहिये कि वह पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वसे, दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिससे और छठे आदि चार गुणस्थानोंमें कषायसे होता है।

यद्यपि मिथ्यात्वके समय अविरति आदि अगले तीन हेतु, अविरतिके समय कषाय आदि अगले दो हेतु और कषायके समय योग रूप हेतु अग्रथ पाया जाता है। तथापि पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी दूसरे आदि चार गुणस्थानोंमें अविरतिकी और छठे आदि चार गुणस्थानोंमें कषायकी प्रधानता तथा अन्य हेतुओंकी अप्रधानता है, इस कारण इन गुणस्थानोंमें कमश केवल मिथ्यात्व, अविरति व कषायको बन्ध हेतु कहा है।

इस जगह तीथद्वरनामकर्मके घन्धका कारण सिर्फ सम्यक्त्व और आहारक द्विकके घन्धका कारण सिर्फ सयम विघ्नित हैं, इसलिये इन तीन प्रकृतियोंकी गणना कषाय हेतुक प्रकृतियोंमें नहीं की है ॥५३॥

गुणस्थानोमे उत्तर बन्ध-हेतुओंका सामान्य तथा विशेष वर्णन ।

[ पाँच गाथाओंसे । ]

पणपन्न पन्न तियद्धहि, -अचत्त गुणचत्त छचउडुगवीसा ।  
सोलस दस नव नव स, -त्त हेउणो न उ अजोगिमि ॥५४॥

१—पञ्चमग्रह-द्वार ४की १६वीं गाथामें—

“सेमा उ कसाएहिं ।”

इस पदसे तीथद्वरनामकर्म और आहारक-द्विक इन तीन प्रकृतियोंको कषाय-हेतुक माना है तथा अगाड़ीकी २०वां गाथामें सम्यक्त्वको तीथद्वरनामकर्मका और सयमको आहारक-द्विकका विशेष हेतु कहा है । नत्त्वाथ अ० ८वेंक १ले सूत्रका सर्वाथमिदिमें भी इन तीन प्रकृतियोंको कषाय हेतुक माना है । परन्तु आदेवेन्द्रसूरिने इन तीन प्रकृतियोंके बन्धको कषाय हेतु नही कहा है । उनका तात्पर्य सिर्फ विशेष हेतु दिखानेका जान पड़ता है कषायक निषधका नहा, क्योंकि सब कर्मके प्रकृति और प्रदेश बन्धमें योग्यता तथा स्थिति और अनुभाग-बन्धमें कषायको कारणता निर्विवाद सिद्ध है । इसका विशेष विचार पञ्चमग्रह-द्वार ४की २०वीं गाथाको श्रीमलयगिरि-टीकामें देखनेवेच्य है ।

२—यह विषय पञ्चमग्रह द्वार ४की ५वीं गाथामें तथा गाम्मत्सार-कर्मकाण्डकी ७=६ और ७=७वां गाथामें है ।

उत्तर बन्ध हेतुके सामान्य और विशेष ये दो भेद हैं । किन्ती एक गुणस्थानमें वतमान सपूर्ण जीवोंमें युगपत् पाये जानेवाले बन्ध-हेतु 'सामान्य और एक जीवमें युगपत् पाये जानेवाले बन्ध हेतु, विशेष कहलाने हैं । प्राचीन चतुर्थ कर्मग्रन्थकी ७७वीं गाथामें और इस जगह सामान्य उत्तर बन्ध हेतुका वर्णन है, परन्तु पञ्चमग्रह और गाम्मत्सारमें सामान्य और विशेष, दोनों प्रकारके बन्ध हेतुओंका । पञ्चमग्रहकी टीकामें यह विषय बहुत स्पष्टतामें समझाया है । विशेष उत्तर बन्ध-हेतुका वर्णन अनिर्विस्तृत और गम्भीर है ।



(सिद्ध) अनन्त हैं, इसीसे अयोगिकेवली जीव चौधे गुणस्थानवालों से अनन्तगुण कहे गये हैं । साधारण वनस्पतिकार्यिक जीव सिद्धों से भी अनन्तगुण हैं और वे सभी मिथ्यादृष्टि हैं, इसीसे मिथ्यादृष्टिवाले चौदहवें गुणस्थानवालोंसे अनन्तगुण हैं ।

पहला, चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और तेरहवाँ, ये छह गुणस्थान लोकमें सदा ही पाये जाते हैं, शेष आठ गुणस्थान कभी नहीं पाये जाते पाये जाते हैं तब भी उनमें वर्तमान जीवोंकी सख्या कभी जघन्य और कभी उत्कृष्ट रहती है । ऊपरकहा हुआ अल्प बहुत्व उत्कृष्ट सख्याकी अपेक्षासे समझना चाहिये, जघन्य सख्याकी अपेक्षासे नहीं, क्योंकि जघन्य सख्याके समय जीवोंका प्रमाण उपर्युक्त अल्प बहुत्वके विपरीत भी हो जाता है । उदाहरणार्थ, कभी ग्यारहवें गुणस्थानवाले बारहवें गुणस्थानवालोंसे अधिक भी हो जाते हैं । सारांश, उपर्युक्त अल्प-बहुत्व सब गुणस्थानोंमें जीवोंके उत्कृष्ट-सख्या पाये जानेके समय ही घट सकता है ॥६३॥

चौथा गुणस्थान अपर्याप्त अवस्थामें भी पाया जाता है इसलिये इसमें अपर्याप्त अवस्था भावी कामण, औदारिकमिथ और वैक्रिय मिथ, इन तीन योगोंका समव है। तीसरे गुणस्थानसम्बन्धी तेता लीस और ये तीन योग, कुल छयालीस बन्ध हेतु चौथे गुणस्थानमें समझने चाहिये। अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क चौथे गुणस्थान तक ही उदयमान रहता है, आगे नहीं। इस कारण वह पाँचवें गुणस्थानमें नहीं पाया जाता। पाँचवाँ गुणस्थान दशविरतिरूप होनेसे इसमें अस हिंसारूप अस अविरति नहीं है तथा यह गुणस्थान केवल पर्याप्त अवस्था भावी है, इस कारण इसमें अपर्याप्त अवस्था भावी कामण और आदारिकमिथ, ये दो योग भी नहीं होते। इस तरह चाथे गुणस्थानसम्बन्धी छयालीस हेतुओंमेंसे उक्त सातके सिवाय शेष उन्तालीस बन्ध हेतु पाँचवें गुणस्थानमें हैं। इन उन्तालीस हेतुओंमें वैक्रियमिथकाययोग शामिल है, पर वह अपर्याप्त अवस्था भावी नहीं, किन्तु वनियलन्त्रि जन्य, जो पर्याप्त अवस्थामें ही होता है। पाँचवें गुणस्थानके समय सकल्प जन्म अस हिंसाका समव ही नहीं है। आरम्भ-जन्य अस हिंसाका समव है सही, पर बहुत कम, इसलिये आरम्भ जन्य अति अल्प अस हिंसाकी विवक्षा न करके उन्ता लीस हेतुओंमें अस अविरतिकी गणना नहीं की है।

छटा गुणस्थान नवविरतिरूप है, इसलिये इसमें शेष ग्यारह अविरतियाँ नहीं होती। इसमें प्रत्याख्यानावरणरूपाय चतुष्क, जिसका उदय पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त हो रहता है, नहीं होता। इस तरह पाँचवें गुणस्थान सम्बन्धी उन्तालीस हेतुओंमेंसे पंद्रह घटा देने पर शेष चौबीस रहते हैं। ये चौबीस तथा आहारक द्विक, कुल छयालीस हेतु छठे गुणस्थानमें हैं। इस गुणस्थानमें चतुर्दशपूर्व भारी मुनि आहारकलन्धिके प्रयोगद्वारा आहारकशरीर रचते हैं, इसीसे छयालीस हेतुओंमें आहारक द्विक परिगणित है।

## छह भाव और उनके भेद ।

[ पाँच गाथाओंसे । ]

उपशमस्यमिन्द्रोदयपरिणामा दुनवट्टारङ्गवीसा ।  
सिय भेद्य सनिवाइय, ममं चरण पदमभावे ॥ ६४ ॥

उपशमस्यमिन्द्रोदयपरिणामा द्विनवाष्टादशैकविंशतय ।

अथा मेदास्मानिपातिक, सम्यक्त्व चरण प्रथमभावे ॥ ६५ ॥

अर्थ—श्रीपशमिक, क्षायिक, मिथ (क्षायोपशमिक), औदयिक और पारिणामिक, ये पाँच मूल भाव हैं। इनके क्रमश दो, नौ, अठारह, इकौस और तीन भेद हैं। छुटा भाव सानिपातिक है। पहले (श्रीपशमिक) भावके सम्यक्त्व और चारित्र्य, ये दो भेद हैं ॥६४॥

भाषार्थ—भाव, पर्यायकी कहते हैं। अजीवका पर्याय अजीवका भाव और जीवका पर्याय जीवका भाव है। इस गाथामें जीवके भाव दिखाये हैं। ये मूल भाव पाँच हैं।

१—श्रीपशमिक भाव वह है, जो उपशमसे होता है। प्रदेश और विपाक, दोनों प्रकारके क्रमोदयका रुक जाना उपशम है।

२—क्षायिक भाव वह है, जो कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है।

१—य विचार अनुयोगशरके ११३ से १२७ तकके पृष्ठमें तत्पर्यं म० २के १से ७नके सूत्रमें तथा सूत्रहोत्र नि की १ ७वीं गाथा तथा उसही टीकामें है। पञ्चमग्रह डा० ३की २ वीं गाथामें तथा डा० २की ३री गाथाकी टीका तथा सूत्रमायविचार-सारोद्धारकी ५१से ५७ तककी गाथाओंमें भी समवा वित्तरपूर्वक बखन है।

गोम्पटसार कर्मकाण्डमें ११ विषयना भावचूलिका नामक एक खास प्रकरण है। जहाँके भेद प्रमेयके सम्बन्धमें उपकी ८१२ से ८१६ तककी गाथाएँ द्रष्टव्य हैं। जहाँ उसमें कई तरहके भेद-बाल दिखाये हैं।

चेक्रियशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय चेक्रियमिथ्र तथा आहारकशरीरके आरम्भ और परित्यागके समय आहारकमिथ्र-योग होता है, पर उस समय प्रमत्त भाव होनेके कारण सातवाँ गुणस्थान नहीं होता । इस कारण इस गुणस्थानके बन्ध हेतुओंमें ये दो योग नहीं गिने गये हैं ।

बक्रियशरीरवालेको चेक्रियकाययोग और आहारकशरीरवालेको आहारककाययोग होता है । ये दो शरीरवाले अधिकसे अधिक सातवें गुणस्थानके ही अधिकारी हैं, आगेके गुणस्थानोंके नहीं । इस कारण आठवें गुणस्थानके बन्ध हेतुओंमें इन दो योगोंको नहीं गिना है ॥५५, ५६, ५७॥

अष्टहास सोल वायरि, सुष्टुमेदस वेयसजलणति विणा ।  
स्त्रीणुवसंति अलोभा, सजोगि पुञ्जुत्त सगजोगा ॥५८॥

अपड्हाषा षोडश यादरे, सुष्टुमेदस वेदसज्वलनप्रिकादिना ।

धीणोपशान्तेऽलोभा, सयोगानि पूर्वोक्तास्तयोगा ॥५८॥

अर्थ—अनिवृत्तिवादरसपरायगुणस्थानमें हास्य पट्टके सिवाय पूर्वोक्त चार्लसमेंसे शेष सोलह हेतु हैं । सूक्ष्मसपरायगुणस्थानमें तीन वेद और तीन सज्वलन (लोभको छोड़कर)के सिवाय दस हेतु हैं । उपशान्तमोह तथा क्षीणमोह-गुणस्थानोंमें सज्वलनलोभके सिवाय नौ हेतु तथा सयोगिकेवलीगुणस्थानमें सात हेतु हैं, जो सभी योगरूप हैं ॥५८॥

भाषार्थ—हास्य-पट्टका उदय आठवेंसे आगेके गुणस्थानोंमें नहीं होता, इसलिये उसे छोड़कर आठवें गुणस्थानके चार्लस हेतुओंमें से शेष सोलह हेतु नौवें गुणस्थानमें समझने चाहिये ।

तीन वेद तथा सज्वलन क्रोध, मान और माया, इन छहका उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है, इस कारण इन्हें छोड़कर शेष दस हेतु दसवें गुणस्थानमें कहे गये हैं ।

३—ज्ञायोपशमिक भाव क्षयोपशमसे प्रगट होता है। कर्मके उदयापलि प्रविष्ट मन्द रसस्पर्धकका क्षय और अनुदयमान रसस्यर्धककी सर्धघातिनी विपाक शक्तिका निरोध या देशघातिरूपमें परिणमन य तीव्र शक्तिका मन्द शक्तिरूपमें परिणमन ( उपशम ), क्षयोपशम है।

४—श्रौदयिक भाव कर्मके उदयसे होनेवाला पर्याय है।

५—पारिणामिक भाव स्वभावसे ही स्वरूपमें परिणत होते रहना है।

एक एक भावको 'मूलभाव' और दो या दोमें अधिक मिले हुए भावोंको 'सानिपातिक-भाव' समझना चाहिये।

भागोंके उत्तर भेद —श्रौपशमिक भावके सम्यक्त्य और चारित्र्ये दो ही भेद हैं। (१) अनन्तानुबन्धि-चतुष्कके क्षयोपशम या उपशम और दर्शनमोहनीयकर्मके उपशमसे जो तरङ्ग-रुचि व्यञ्जक आत्मपरिणाम प्रगट होता है, वह 'श्रौपशमिकसम्यक्त्य' है। (२) चारित्र्यमोहनीयकी पञ्चीस प्रकृतियोंके उपशमसे व्यक्त होनेवाला स्थिरतात्मक परिणाम 'श्रौपशमिकचारित्र्य' है। यही ग्यारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथास्थितचारित्र्य' है। श्रौपशमिक भावसादि सान्त है ॥६४॥

धीए केवलजुयल, सम दाणाइलद्धि पण चरणं ।

तइए सेसुवओगा, पण लद्धी सम्मविरइदुग ॥ ६५ ॥

द्वितीये केवलजुयल, सम्यग् दानादिलब्धय पञ्च चरणम् ।

तृतीये सेपोपयोगा, पञ्च लब्धय सम्यग्विरतिद्विकम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—दूसरे (ज्ञायिक) भावके केवल द्विक, सम्यक्त्य, दान आदि पाँच लब्धियाँ और चारित्र्य, ये नौ भेद हैं। तीसरे (ज्ञायोपशमिक)

का बन्ध और वादरकपायोदय न होनेसे मोहनीयका बन्ध उसमें वर्जित है ।

भ्यारहवें आदि तीन गुणस्थानोंमें केवल सातवेदनीयका बन्ध होता है, क्योंकि उनमें कपायोदय सर्वथा न होनेसे अन्य प्रकृतिओंका बन्ध असंभव है ।

सारांश यह है कि तीसरे, आठवें और नौवें गुणस्थानमें सातका ही बन्धस्थान पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें गुणस्थानमें सातका तथा आठका बन्धस्थान, दसवेंमें छहका बन्धस्थान और भ्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानमें एकका बन्धस्थान होता है ॥५६॥



भायके केवल द्विकको छाड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्य और निरति द्विक, ये अठारह भेद हैं ॥६४॥

मायार्थ—ज्ञायिक भायके गौ भेद है। इनमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन, ये दो भाय कर्मसे केवलज्ञानापरणीय और केवलदर्शनापरणीय कर्मके सवधा क्षय हो जानेसे प्रगट होते हैं। दान, साम, भोग, उपभोग और धीय ये पाँच लब्धियाँ कर्मश दानांतराय, लामान्तराय, भोगान्तराय उपभोगान्तराय और धीयान्तराय-कर्मके सवधा क्षय हो जानेसे प्रगट होती हैं। सम्यक्त्य, अनन्तानुबधि चतुष्क और दर्शनमोहनीयके सवधा क्षय हो जानेसे ध्यत हाता है चारित्र, चारित्रमोहनीयकर्मकी सवधा प्रतियोगिका सर्वथा क्षय हो जानेपर प्रगट होता है। यही धारहवें गुणस्थानमें प्राप्त होनेवाला 'यथावयानचारित्र' है। समी ज्ञायिक भाय कर्म क्षय-जन्य होनेके कारण 'सादि' और कर्मसे फिर आश्रित न हो सकनेके कारण अनन्त हैं।

ज्ञायोपशमिक भायके अठारह भेद हैं। जैसे—धारह उपया गौंसे केवल द्विकका छाड़कर शेष दस उपयोग, दान आदि पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्य और दर्शननिरति तथा सवधिरति-चारित्र। मति ज्ञान मति अज्ञान, मतिज्ञानापरणीयके क्षयोपशमसे; धृतज्ञान धृत अज्ञान, अतज्ञानापरणीयकर्मके क्षयोपशमसे; अवधिज्ञान विभङ्गज्ञान, अवधिज्ञानापरणीयकर्मके क्षयोपशमसे; मन पयायज्ञान, मन पर्याय ज्ञानापरणीयकर्मके क्षयोपशमसे और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अयधिदर्शन, कर्मसे चक्षुदर्शनापरणीय, अचक्षुदर्शनापरणीय और अयधिदर्शनापरणीयकर्मके क्षयोपशमसे प्रगट होते हैं। दान आदि पाँच लब्धियाँ दानांतराय आदि पाँच प्रकारके अंतरायकर्मके क्षयोपशमसे होती हैं। अनन्तानुबधिकर्माय और दर्शनमोहनीयके क्षयोपशमसे सम्यक्त्य होता है। अपत्यावयानापरणीयकर्मके क्षयोपशमसे देशधिरतिका आधिर्भाव होता है और प्रत्यावयानापर

## (७-८)—गुणस्थानोंमें सत्ता तथा उदय ।

आसुहुमं संतुदये, अष्ट वि मोह विणु सत्त खीणंमि ।  
चउ चरिमदुगे अष्ट उ, सते उवसंति सत्तुदए ॥६०॥

आसुहुमं संतुदयेऽपि मोह विना सत क्षीणे ।

चत्वारि चरमद्विकेऽष्ट तु, सत्युपशांते सतोदये ॥६०॥

अर्थ—सूक्ष्मसंपरायगुणस्थान पर्यन्त आठ कर्मकी सत्ता तथा आठ कर्मका उदय है । क्षीणमोहगुणस्थानमें सत्ता और उदय, दोनों सात कर्मोंके हैं । सयोगिकेपत्नी और अयोगिकेचली-गुणस्थानमें सत्ता और उदय चार कर्मोंके हैं । उपशान्तमोहगुणस्थानमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है ॥६०॥

भावार्थ—पहले दस गुणस्थानोंमें सत्ता-गत तथा उदयमान आठ कर्म पाये जाते हैं । ग्यारहवें गुणस्थानमें मोहनीयकर्म सत्ता गत रहता है, पर उदयमान नहीं, इसलिये उसमें सत्ता आठ कर्मकी और उदय सात कर्मका है । बारहवें गुणस्थानमें माहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो जाता है, इसलिये सत्ता और उदय दोनों सात कर्मके हैं । तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें सत्ता गत और उदयमान चार अघातिकर्म ही हैं ।

सारांश यह है कि सत्तास्थान पहले ग्यारह गुणस्थानोंमें आठका, बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है तथा उदयस्थान पहले दस गुणस्थानोंमें आठका, ग्यारहवें और बारहवेंमें सातका और तेरहवें और चौदहवेंमें चारका है ॥६०॥





णीयकपायके क्षयोपशमसे सर्वविरतिका । मति अज्ञान आदि क्षायो-  
पशमिक भाव अभव्यके अनादि अनन्त और विभङ्गज्ञान सादि सान्त  
है । मतिज्ञान आदि भाव भव्यके सादि सान्त और दान आदि  
लब्धियाँ तथा अचक्षुर्दर्शन अनादि सान्त हैं ॥ ६५ ॥

अन्नाणमसिद्धत्ता, -संजमलेसाकसायगइवेया ।

मिच्छ तुरिए भव्या, -भव्यत्तजियत्त परिणामे ॥६६॥

अज्ञानमसिद्धत्वाऽसयमलेश्याकपायगतिवेदा ।

मिथ्यात्व तुयें भव्याऽभव्यत्वजीवत्वानि परिणामे ॥ ६६ ॥

अर्थ—अज्ञान, असिद्धत्व, असयम, लेश्या, कपाय, गति, वेद  
और मिथ्यात्व, ये भेद चौथे (श्रौद्धिक) भावके हैं । भव्यत्व, असयत्व  
और जीवत्व, ये पारिणामिक भाव हैं ॥६६॥

भावार्थ—श्रौद्धिक भावके इक्कीस भेद हैं । जैसे —अज्ञान, असि  
द्धत्व, असयम, छह लेश्याएँ, चार कपाय, चार गतियाँ, तीन वेद और  
मिथ्यात्व । अज्ञानका मतलब ज्ञानका अभाव और मिथ्याज्ञान दोनों-  
से है । ज्ञानका अभाव ज्ञानावरणीयकर्मके उदयका और मिथ्याज्ञान  
मिथ्यात्वमोहनीयकर्मके उदयका फल है, इसलिये दोनों प्रकारका  
अज्ञान श्रौद्धिक है । असिद्धत्व, ससारावस्थाको कहते हैं । यह, आठ

१—निद्रा मुख दुःख हास्य शरीर आदि अमंगलभाव जो भिन्न भिन्न कमक उन्मत्तमे  
होते हैं वे सभी श्रौद्धिक हैं तथापि इम जगद् श्रीउमास्वामि आदि पूजाचार्योंके कथनका अनु-  
सरण करके स्थूल दृष्टिमे इक्कीस श्रौद्धिक-भाव बतलाये हैं ।

२—मति अज्ञान श्रुत अज्ञान और विभङ्गज्ञानको पिछली गाथामें क्षायोपशमिक और  
यहाँ श्रौद्धिक कहा है । क्षायोपशमिक इस अपेक्षासे कहा है कि ये उदयोग मतिज्ञानावरणीय  
आदि कर्मके क्षयोपशम-जन्य हैं और श्रौद्धिक इस अपेक्षासे कहा है कि इनकी अर्थार्थनाका  
कारण मिथ्यात्वमोहनीयकर्मका उदय है ।

## (९)—गुणस्थानोंमें उदीरणा ।

[दो गाथाओंसे ।]

उद्हरति प्रमत्तता, सगृह्णीते मीसह येयथाउ विणा ।

छद्म अपमत्ताह तश्चो, छ पंच सुहुमो पणुवसतो ॥६१॥

उदीरयन्ति प्रमाता, ससाधानि मिथोऽष्ट वेदासुषी विना ।

पट्कमपमत्तादयस्तन, पट् पञ्च सुहुम पञ्चोपघात ॥६१॥

अर्थ—प्रमत्तगुणस्थान पर्यन्त सात या आठ कर्मकी उदीरणा होती है । मिथ्रगुणस्थानमें आठ कर्मकी, अप्रमत्त, अपूर्वकरण और अनिष्टविवाद, इन तीन गुणस्थानोंमें वेदनीय तथा आयुके निवाय छह कर्मकी, सूक्ष्मसपरायगुणस्थानमें छह या पाँच कर्मकी और उपशान्तमोहगुणस्थानमें पाँच कर्मकी उदीरणा होती है ॥६१॥

माथाथ—उदीरणाका विचार समझनेकेलिये यह नियम ध्यान में रखा चाहिये कि जो कर्म उदयमान हो उसीकी उदीरणा होती है, अनुदयमानकी नहीं । उदयमान कर्म आधलिका प्रमाण शेष रहता है, उस समय उसकी उदीरणा रुक जाती है ।

तोसरेको छोड़ प्रथमसे छठ तकके पहले पाँच गुणस्थानोंमें सात या आठ कर्मकी उदीरणा हाती है । आयुकी उदीरणा न होनेके समय सात कर्मकी और होनेके समय आठ कर्मकी समझनी चाहिये । उक्त नियमके अनुसार आयुकी उदीरणा उस समय रुक जाती है, जिस समय वर्तमान भवकी आयु आधलिका प्रमाण शेष रहती है । यद्यपि वर्तमान भवकी आयुके आधलिकामात्र बाकी रहनेके समय पर भवीय आयुकी स्थिति आधलिकासे अधिक होती है तथापि अनु

- ३—श्रौपशमिक + श्रौदयिक ।
- ४—श्रौपशमिक + पारिणामिक ।
- ५—क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
- ६—क्षायिक + श्रौदयिक ।
- ७—क्षायिक + पारिणामिक ।
- ८—क्षायोपशमिक + श्रौदयिक ।
- ९—क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- १०—श्रौदयिक + पारिणामिक ।

त्रिक मयोगके दस भेद —

- १—श्रौपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक ।
- २—श्रौपशमिक + क्षायिक + श्रौदयिक ।
- ३—श्रौपशमिक + क्षायिक + पारिणामिक ।
- ४—श्रौपशमिक + क्षायोपशमिक + श्रौदयिक ।
- ५—श्रौपशमिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ६—श्रौपशमिक + श्रौदयिक + पारिणामिक ।
- ७—क्षायिक + क्षायोपशमिक + श्रौदयिक ।
- ८—क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ९—क्षायिक + श्रौदयिक + पारिणामिक ।
- १०—क्षायोपशमिक + पारिणामिक + श्रौदयिक ।

चतु-सयोगके पाँच भेद —

- १—श्रौपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + श्रौदयिक ।
- २—श्रौपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + पारिणामिक ।
- ३—श्रौपशमिक + क्षायिक + श्रौदयिक + पारिणामिक ।
- ४—श्रौपशमिक + क्षायोपशमिक + श्रौदयिक + पारिणामिक ।
- ५—क्षायोपशमिक + श्रौदयिक + पारिणामिक ।

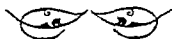
उदयमान होनेके कारण उसकी उदीरणा उक्त नियमके अनुसार नहीं होती ।

तीसरे गुणस्थानमें आठ कर्मकी ही उदीरणा मानी जाती है, क्योंकि इस गुणस्थानमें मृत्यु नहीं होती । इस कारण आयुकी अन्तिम आवलिकामें, जब कि उदीरणा रुक जाती है, इस गुणस्थानका सभब ही नहीं है ।

सातवें, आठवें और नौवें गुणस्थानमें छह कर्मकी उदीरणा होती है, आयु और वेदनीय कर्मकी नहीं । इसका कारण यह है कि इन दो कर्मोंकी उदीरणाकेलिये जैसे अध्ययसाय आवश्यक हैं, उक्त तीन गुणस्थानोंमें अतिविशुद्धि होनेके कारण जैसे अध्ययसाय नहीं होते ।

दसवें गुणस्थानमें छह अथवा पाँच कर्मकी उदीरणा होती है । आयु और वेदनीयकी उदीरणा न होनेके समय छह कर्मकी तथा उक्त दो कर्म और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके समय पाँचकी समझना चाहिये । मोहनीयकी उदीरणा दशम गुणस्थानकी अन्तिम आवलिकामें रुक जाती है । सो इसलिये कि उस समय उसकी स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें आयु, वेदनीय और मोहनीयकी उदीरणा न होनेके कारण पाँचकी उदीरणा होती है । इस गुणस्थानमें उदयमान न होनेके कारण मोहनीयकी उदीरणा निषिद्ध है ॥६१॥



पञ्च सयोगका एक भेद —

१-श्रोपशमिक + क्षायिक + क्षायोपशमिक + श्रौद्यिक + पारिणामिक  
सब मिलाकर सानिपातिक भावके छद्मोस भेद हुए । इनमेंसे जो  
छह भेद जीवोंमें पाये जाते हैं, उन्हींको इन दो गाथाओंमें दिखाया है ।

त्रिक सयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे दसवाँ भेद, जो क्षायोपशमिक,  
पारिणामिक और श्रौद्यिकके मेलसे बना है, वह चारों गतिमें पाया  
जाता है । सो इस प्रकार — चारों गतिके जीवोंमें क्षायोपशमिक भाव  
भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप और श्रौद्  
यिक भाव कषाय आदिरूप है । इस तरह इस त्रिक सयोगके गति  
रूप स्थान भेदसे चार भेद हुए ।

चतु सयोगके उक्त पाँच भेदोंमेंसे पाँचवाँ भेद चारों गतिमें  
पाया जाता है, इसलिये इसके भी स्थान भेदसे चार भेद होते हैं ।  
चारों गतिमें क्षायिक भाव क्षायिसम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक भाव  
भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप और  
श्रौद्यिक भाव कषाय आदिरूप है ।

चतु सयोगके पाँच भेदोंमेंसे चौथा भेद चारों गतिमें पाया  
जाता है । चारों गतिमें श्रोपशमिक भाव सम्यक्त्वरूप, क्षायोपशमिक  
भाव भावेन्द्रिय आदिरूप, पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप और  
श्रौद्यिक भाव कषाय आदिरूप समझना चाहिये । इस चतु सयोग  
सानिपातिकके भी गतिरूप स्थान भेदसे चार भेद हुए ।

त्रिक सयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे नौवाँ भेद सिर्फ भवस्व केय  
लियोंमें होता है, इसलिये वह एक ही प्रकारका है । केवलियोंमें  
पारिणामिक भाव जीवत्व आदिरूप, श्रौद्यिक भाव गति आदिरूप  
और क्षायिक भाव केवलज्ञान आदिरूप है ।

द्विक-सयोगके उक्त दस भेदोंमेंसे सातवाँ भेद सिर्फ सिद्ध जीवों-  
में पाये जानेके कारण एक ही प्रकारका है । सिद्धोंमें पारिणामिक-

## (१०)--गुणस्थानोंमें अल्प-बहुत्व ।

[दो गाथाओंमें ।]

पण दो खीण वृ जोगी, गुदीरगु अजोगि धोव उवसता ।  
सगुण खीण सुहृमा, अनयद्वीअपुव्व सम अहिया ॥६२॥

पञ्च द्वे क्षाणो द्वे योग्यनुदारकोऽयागी स्तोका उपशाता ।

अथगुणा क्षीणा सूक्ष्माऽनिश्चयपूर्वा समा आधिका ॥ ६२ ॥

अर्थ—क्षीणमोहगुणस्थानमें पाँच या दो कर्मकी उदीरणा है और मयोगिकेत्रलीगुणस्थानमें सिर्फ दो कर्मकी । अयोगिकेवली गुणस्थानमें उदीरणाका अभाव है ।

उपशान्तमोहगुणस्थान तृती जीव सबसे थोड़े हैं । क्षीणमोहगुण स्थान तृती जीव उनसे सख्यातगुण हैं । सूक्ष्ममपराय, अनिष्टिवाद् और अपूर्वकरण, इन तीन गुणस्थानोंमें वर्तमान जीव क्षीणमोहगुण स्थानजालोंसे विशेषाधिक है, पर आपसमें तुल्य हैं ॥६२॥

मायाध—यारहवें गुणस्थानमें अन्तिम आवलिकामें छोटकर अन्य सब समयमें आयु, वेदनाय और मोहनीयके सिवाय पाँच कर्मकी उदीरणा होती रहती है । अन्तिम आवलिकामें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तरायकी स्थिति आवलिका प्रमाण शेष रहती है । इसलिये उस समय उनकी उदीरणा रुक जाती है । शेष दो (नाम और मोत्र) की उदीरणा रहती है ।

तेरहवें गुणस्थानमें चार अघातिकर्म ही शेष रहते हैं । इनमेंसे आयु और वेदनीयकी उदीरणा सा पहलेसे ही रुकी हुई है । कारण इस गुणस्थानमें दो कर्मकी उदीरणा मानी गई ।

१--मह विषय पञ्चमग्रह द्वार २२वीं ८० और ८१ वा

८ तक ही गाथाओंमें कुछ निरूपण है ।

यक धानेरूप कार्यमें, आकाशास्तिषाय, अथवाशु दोरूप कार्यमें और फल, समय पर्यायरूप स्व कार्यमें अनादि कालसे परिणमन किया करता है। पुद्गलद्रव्यके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। परमाणु-पुद्गलका तो केवल पारिणामिक भाव है, परन्तु धरूप पुद्गलके पारिणामिक और औदयिक, ये दो भाव हैं। स्वर्णों में भी धारुणादि सादि स्वन्ध पारिणामिक भाववाला ही है, लेकिन औदारिक आदि शरीररूप स्वन्ध पारिणामिक औदयिक दो भाव रहते हैं। क्योंकि ये स्व-स्व रूपमें परिणत होत रहनेके कारण पारिणामिक भावशाल और औदारिक आदि शरीररूपकर्मके उदय-जन्म होनेके कारण औदयिक भाववाला हैं।

पुद्गलद्रव्यके दो भाव कह हुए हैं, सो कर्म पुद्गलमें भिन्न पुद्गलके समझने चाहिये। कर्म पुद्गलके तो आपश्मिक आदि पाँचों भाव हैं, जो ऊपर बतलाये गये हैं ॥२६॥

## (११)—गुणस्थानोंमें मूल भाव ।

( एक जीवकी अपेक्षासे । )

समाहचउसु तिग चउ भावा चउ पणुवसामगुवसते ।  
चउ खीणापुज्य तिदि, मेसगुणट्टाणगेगजिए ॥७०॥

सम्यगादिचतुषु त्रयधात्वारो, भावाधत्वार पचापशमकीपशाते ।

चत्वार धाणाऽपुत्रय, शेषगुणस्थानक एकजीव ॥ ७० ॥

अर्थ—एक जीवको सम्यग्दृष्टि आदि चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाव होने हैं। उपशमक (नोर्वे और दसवें) और उपशान्त (ग्यारहवें) गुणस्थानमें चार या पाँच भाव होने हैं। क्षीणमोह तथा अपूर्ण

चौदहवें गुणस्थानमें योगका अभाव है। योगके सिवाय उदीरणा नहीं हो सकती, इस कारण इनमें उदीरणाका अभाव है।

सारारा यह है कि तीसरे गुणस्थानमें आठहोका उदीरणास्थान, पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठेमें सातका तथा आठका, सातवेंसे लेकर दसवें गुणस्थानकी एक आवलिका पायी रहै तब तक छहका, दसवेंकी अन्तिम आवलिकासे बारहवें गुणस्थानकी चरम आवलिका शेष रहे तब तक पाँचका और बारहवेंकी चरम आवलिकासे तेरहवें गुणस्थानके अन्त तक दोका उदीरणास्थान पाया जाता है।

### अल्प बहुत्व ।

ग्यारहवें गुणस्थानवाले जीव अन्य प्रत्येक गुणस्थानवाले जीवोंसे अल्प हैं, क्योंकि वे प्रतिपद्यमान (किसी विवक्षित समयमें उस अग्रस्थाको पानेवाले) चौअन और पूर्वप्रतिपन्न (किसी विवक्षित समयके पहिलेसे उस अग्रस्थाको पाये हुए) एक, दो या तीन आदि पाये जाते हैं। बारहवें गुणस्थानवाले प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व (दो सौसे नौ सौ तक) पाये जाते हैं, इसलिये ये ग्यारहवें गुणस्थानवालोंसे सख्यातगुण कहे गये हैं। उपशमश्रेणिके प्रतिपद्यमान जीव उत्कृष्ट चौअन और पूर्वप्रतिपन्न एक दो, तीन आदि तथा क्षपकश्रेणिके प्रतिपद्यमान उत्कृष्ट एक सौ आठ और पूर्वप्रतिपन्न शत-पृथक्त्व माने गये हैं। उभय श्रेणियाँ सभी आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमें वर्तमान होते हैं। इसलिये इन तीनों गुणस्थानवाले जीव आपसमें समान हैं, किन्तु बारहवें गुणस्थानवालोंकी अपेक्षा विशेषाधिक हैं ॥६२॥

जोगिअपमत्सहयरे, संखगुणा देससासणामत्ति ।

अविरय अजोगिमिच्छा, असंख चउरो दुवे णंता ॥६३॥



करण-गुणस्थानमें चार भाग होते हैं और शेष सय गुणस्थानोंमें तीन भाग ॥७०॥

भावार्थ—चौथे, पाँचवें, छठे और सातवें, इन चार गुणस्थानोंमें तीन या चार भाग हैं । तीन भाग ये हैं—(१) औदयिक—मनुष्य आदि गति, (२) पारिणामिक—जीवत्व आदि और (३) क्षायोपशमिक—भावेन्द्रिय, सम्यक्त्व आदि । ये तीन भाग क्षायोपशमिकसम्यक्त्व के समय पाये जाते हैं । परन्तु जब क्षायिक या औपशमिक-सम्यक्त्व हो, तब इन दोमेंसे कोई एक सम्यक्त्व तथा उक्त तीन, इस प्रकार चार भाग समझने चाहिये ।

नौवें, दसवें और ग्यारहवें, इन तीन गुणस्थानोंमें चार या पाँच भाग पाये जाते हैं । चार भाग उस समय, जब कि औपशमिक-सम्यक्त्वी जीव उपशमश्रेणियाला हो । चार भागमें तीन तो उक्त ही और चौथा औपशमिक सम्यक्त्व व चारित्र । पाँचमें उक्त तीन, चौथा क्षायिकसम्यक्त्व और पाँचवाँ औपशमिकचारित्र ।

आठवें और बारहवें, इन दो गुणस्थानोंमें चार भाग होते हैं । आठवेंमें उक्त तीन और औपशमिक और क्षायिक, इन दोमेंसे कोई एक सम्यक्त्व, ये चार भाग समझने चाहिये । बारहवेंमें उक्त तीन और चौथा क्षायिकसम्यक्त्व व क्षायिकचारित्र, ये चार भाग ।

शेष पाँच (पहले, दूसरे, तीसरे, तेरहवें और चौदहवें) गुणस्थानोंमें तीन भाग हैं । पहले, दूसरे और तीसरे गुणस्थानमें औदयिक—मनुष्य आदि गति; पारिणामिक—जीवत्व आदि और क्षायोपशमिक—भावेन्द्रिय आदि, ये तीन भाग हैं । तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानमें औदयिक—मनुष्यत्व, पारिणामिक—जीवत्व और क्षायिक—ज्ञान आदि, ये तीन भाग हैं ॥७०॥

योग्यप्रमत्तरा , सख्यागुणा देशसादानमिथा ।

अविरता अयागिमभ्यात्वनि जसखासत्वारं द्वावन तो ॥ ६१ ॥

अर्थ—सयोगिकेवली, अप्रमत्त और प्रमत्तगुणस्थानवाले जीव पूर्व पृथसे सख्यातगुण हैं। देशविरति, सासादन, मिथ और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवाले जीव पूर्व पूर्वसे असख्यातगुण हैं। अयोगिकेवली और मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवाले जीव पूर्व पूर्वसे अनन्त गुण हैं ॥ २॥

भाषार्थ—तेरहवें गुणस्थानवाले आठवें गुणस्थानवालोंसे सख्यात गुण इसलिये कहे गये हैं कि ये जघन्य दो करोड और उत्कृष्ट नौ करोड होते हैं। सातवें गुणस्थानवाले दो हजार करोड पाये जाते हैं इसलिये ये सयोगिकेवलियोंसे सख्यातगुण हैं। छठे गुणस्थानवाले नौ हजार करोड तक हो जाते हैं इसी कारण इन्हें सातवें गुणस्थान वालोंमें सख्यातगुण माना है। अस्ख्यात गर्भज तिर्यञ्च भी देश विरति पा लेते हैं, इसलिये पाँचवें गुणस्थानवाले छठे गुणस्थानवालों से असख्यातगुण हो जाते हैं। दूसरे गुणस्थानवाले देशविरतिवालोंसे असख्यातगुण कहे गये हैं। इसका कारण यह है कि देशविरति, तिर्यञ्च मनुष्य दो गतिमें ही होती है पर सासादनसम्यक्त्व चारों गतिमें। सासादनसम्यक्त्व और मिथ्यादृष्टि ये दोनों यद्यपि चारों गतिमें होते हैं परन्तु सासादनसम्यक्त्वकी अपेक्षा मिथ्यादृष्टिका काल-मान असख्यातगुण अधिक है, इस कारण मिथ्यादृष्टिवाले सासादनसम्पत्तिकत्वोंकी अपेक्षा असख्यातगुण होते हैं। चौथा गुणस्थान चारों गतिमें सदा ही पाया जाता है और उसका काल मान भी बहुत अधिक है, अत एव चौथे गुणस्थानवाले तीसरे गुणस्थानवालोंसे असख्यातगुण होते हैं। यद्यपि भवस्थ अयोगी, क्षयकथेणिवालोंके बराबर अर्थात् शत पृथक्त्व प्रमाण ही हैं तथापि भवस्थ अयोगी

सख्यात तत्र पीचकी सय सख्याएँ मध्यम सख्यात हैं । शास्त्रमें उक्त सख्यातका स्वरूप जाननेके लिये पत्त्योंकी कल्पना है, जो अगली भाषाओंमें दिखायी है ॥७२॥

पत्त्योंके नाम तथा प्रमाण ।

पह्लाणवट्टियसला, ग-पडिसलागामहासलागक्खा ।

जोयणसहभोगाढा, सवेइयता ससिहभरिया ॥७३॥

पत्त्या अनवस्थितशलाकाप्रतिशलाकामहाशलाकाख्या ।

योजनसहस्रावगाढा सवेदिधा ता सखिलभृता ॥ ७३ ॥

अर्थ—चार पत्त्यके नाम क्रमशः अनवस्थित, शलाका, प्रतिशलाका और महाशलाका हैं । चारों पत्य गहराईमें एक हजार योजन और ऊँचाईमें जम्बूद्वीपकी पश्चिम घेदिका पर्यन्त अर्थात् साढ़े आठ योजन प्रमाण समझने चाहिये । इन्हें शिखा पर्यन्त सरसोंस पूरा करनेका विधान है ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—शास्त्रमें सत् और असत् दो प्रकारकी कल्पना होती है । जो कार्यमें परिणत की जा सके, वह 'सत्कल्पना', और जो किसी वस्तुका स्वरूप समझनेमें उपयोगीमात्र, पर कार्यमें परिणत न की जा सके, वह 'असत्कल्पना' । पत्त्योंका विचार असत्कल्पना है, इसका प्रयोजन उक्त सख्यातका स्वरूप समझानामात्र है ।

शास्त्रमें पत्य चार कहे गये हैं—(१) अनवस्थित, (२) शलाका, (३) प्रतिशलाका और (४) महाशलाका । इनकी लम्बाई चौड़ाई जम्बूद्वीपके बराबर—एक एक लाख योजनकी, गहराई एक हजार योजनकी और ऊँचाई पचास घेदिका प्रमाण अर्थात् साढ़े आठ

अनवस्थितपत्य अनेक बनते हैं । इन सबकी लम्बाई चौड़ाई एकसी नहीं है । पहला अनवस्थित (मूलानवस्थित) की लम्बाई-चौड़ाई लाख योजाकी और आगेके सब अनवस्थित (उत्तरानवस्थित) की लम्बाई चौड़ाई अधिकाधिक है । जैसे —जम्बूद्वीप-प्रमाण मूलानवस्थित पत्यको सरसोंसे भर देना और जम्बूद्वीप से लेकर आगेके हर एक द्वीपमें तथा समुद्रमें उन सरसोंमेंसे एक एकको डालते जाना । इस प्रकार डालते डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें मूलानवस्थित पत्य घाली हो जाय, जम्बूद्वीप (मूल स्थान)से उस द्वीप या उस समुद्र तककी लम्बाई चौड़ाईवाला नया पत्य बना लिया जाय । यही पहला उत्तरानवस्थित है ।

इस पत्यमें भी ठाँस कर सरसों भरना और इन सरसोंमेंसे एक एकको आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें डालते जाना । डालते डालते जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें इस पहले उत्तरानवस्थित पत्यके सब सपप समाप्त हो जायँ, मूल स्थान (जम्बूद्वीप)से उस सर्पप समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त लम्बा-चौड़ा पत्य फिरसे बना लेना, यह दूसरा उत्तरानवस्थितपत्य है ।

इसे भी सर्पपोंसे भर देना और आगेके प्रत्येक द्वीपमें तथा समुद्रमें एक एक सर्पपको डालते जाना । ऐसा करनेसे दूसरे उत्तरानवस्थितपत्यके सर्पपोंकी समाप्ति जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें हो जाय, मूल स्थानसे उस सपप समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पत्य फिरसे बनाना यह तीसरा उत्तरानवस्थितपत्य है । इसको भी सर्पपोंसे भरना तथा आगेके द्वीप, समुद्रमें एक एक सपप डालकर घाली करना । फिर मूल स्थानसे सर्पप-समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र पर्यन्त विस्तृत पत्य बना लेना और उसे भी सर्पपोंसे भरना तथा उक्त विधिके अनुसार खाली करना । इस प्रकार जितने उत्तरानवस्थितपत्य बनाये जाते हैं,

सख्यायें उसमें मिलाना । (१) लोकाकाशके प्रदेश, (२) धर्मास्ति-

ज्ञानावरणीय आदि प्रदेशके समकी स्थितिके जघन्यमे उत्कृष्ट पय न समय मेंमे सम  
रवान भेद है । जैसे — ज्ञानावरणीयको ज० य स्थिति अतममूर्त्त प्रमाण और उत्कृष्ट स्थिति तीस  
कोकोगी सागरोपम प्रमाण है । अन्तमूर्त्तम एक समय अधिक दो समय अधिक, तीन समय  
अधिक इस तरह एक-एक समय बढ़ते बढ़ते एक समय कम तीस कोकोगी सागरोपम तककी  
सब स्थितियाँ मध्यम हैं । अतममूर्त्त और तीस कागकोगी सागरोपमके बीचमें अमरगान समया  
का अन्तर है इसलिये जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक एक प्रकारकी होनेपर भा उनमें मध्यम  
स्थितियाँ मित्यानेमे ज्ञानावरणीयको स्थितिके असरयत्न भेद होने हैं । अथ कर्माकी स्थितिके  
विषयमें भी जो तरह समझ लना चाहिये । हर एक स्थितिके बचमें कारणभूत अथवसायोंकी  
संख्या अमरगान लोकाकाशके प्रयोगके बराबर बड़ी हुई है ।

“पइठिइ सखलोगसमा ।”

—गा० १५ देवद्रमूरि-कृत पञ्चम कमग्रथ ।

इस जगह सब स्थिति बचके कारणभूत अथवसायोंकी संख्या विवक्षित है ।

अनुभाग अर्थात् समका कारण कापायिक परिणाम है । कापायिक परिणाम अर्थात्  
अथवसायके मीत्र तीव्रतर तीव्रतम मत्त मत्तर मत्ततम आदि रूपमें प्रसरयान भेद है ।  
एक-एक कापायिक परिणाममें एक एक अनुभाग-स्थानका बच होना है क्योंकि एक कापायिक  
परिणामसे गृहीत कर्म परिणामोंके रस रसके ही शास्त्रमें अनुभाग बचण्या कहा है ।  
दरिये कम्मरथकोरा इश्वरी गाथा शोधशोविजयज्ञान-कृत टीका । अतलिये कापायिक परिणाम-जय  
अनुभाग स्थान भी कापायिक परिणामके लिये अर्थात् प्रसरयान ही हैं । प्रसगत यह ज्ञान  
बाननी चाहिये कि प्रत्येक स्थिति-बच में अमरगान अनुभाग-स्थान होने है क्योंकि जिन  
अथवसाय उनमें ही अनुभागस्थान प्राप्त हैं और प्रत्येक स्थिति बचमें कारणभूत अथवसाय  
अमरगान लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं ।

‘योगवे निर्विभाग अथ अमरगान है । जिन अशका विभाग बचलगानसे भी न किया  
जा सकें उनको निर्विभाग अथ कहते हैं । इस जगह निगोदमे सही पयन्त सब जीवोंके दो  
सबकी निर्विभाग अशोंकी मरया रष्ट है ।

जिस शरीरका स्वामी एक ही जीव हो वह ‘प्रथमशरीर’ है । प्रथमशरीर अमरगान  
है क्योंकि पृथ्वीकायिकमे लेकर तमकायिक पय न सब प्रकारके प्रत्येक जीव मिलानेमे अम  
स्थान ही है ।

जिस एक शरीरके धारण करनेवाले अनेक जीव हों, वह ‘निगोदशरीर’ । जेमे निगोद-  
शरीर असंख्यात ही है ।

वे सभी प्रमाणों में पूर्व पूर्वकी अपेक्षा बड़े बड़े ही होते जाते हैं । परिमाणकी अनिश्चितताके कारण इन पत्थरोंका नाम 'अनवस्थित' रखा गया है । यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अनवस्थितपत्थर लम्बाई चौड़ाईमें अनियत होनेपर भी ऊँचाईमें नियत ही अर्थात् १००:२:३ योजन मात्र लिये जाते हैं ।

अनवस्थितपत्थरोंको कहाँ तक बनाना ? इसका खुलासा आगे की गाथाओंसे हो जायगा ।

प्रत्येक अनवस्थितपत्थरके खाली हो जानेपर एक एक सपप शलाकापत्थरमें डाल दिया जाना है । अर्थात् शलाका पत्थरमें डाले गये सपपोंकी सख्यासे यही जाना जाता है कि इतनी दफा उत्तमअनवस्थितपत्थर खाली हुए ।

हर एक शलाकापत्थरके खाली होनेके समय एक एक सपप प्रतिशलाकापत्थरमें डाला जाता है । प्रतिशलाकापत्थरके सपपोंको सख्यासे यह विदित होता है कि इतनी बार शलाकापत्थर भरा गया और खाली हुआ ।

प्रतिशलाकापत्थरके एक एक बार भर जाने और खाली हो जानेपर एक एक सपप महाशलाकापत्थरमें डाल दिया जाता है, जिससे यह जाना जा सकता है कि इतनी दफा प्रतिशलाकापत्थर भरा गया और खाली किया गया ॥ ७३ ॥

पत्थरोंके भरने आदिकी विधि ।

तादीबुदहिस् इकि, कसरिसव खिधि य निट्टिए पदमे ।  
पदम य तदन्त चिध, पुण भरिए तमि तर खीणे ॥७४॥  
खिप्पह सत्तागपत्ते, गु सरिसवो इय सत्तागखवणेण ।  
पुत्तो थियो य तत्तो, पुत्तिव पि व तमि-इद्धरिए ॥७५॥

कायक प्रदेश, (३) अघमास्तिकायके प्रदेश, (४) एक जीवके प्रदेश, (५) स्थिति बन्ध जनक अभ्यवसाय स्यात्, (६) अनुमाग विशेष, (७) योगके निरिमाग अग (८) अरसपिणी और उत्सपिणी, इन दो कालके समय, (९) प्रत्येकशरीर और (१०) त्रिगोदशरीर ॥२१॥२२॥

उक्त दस सख्याएँ मिलाकर फिर उन्नता तीन बार वर्ग करना। वर्ग करनेसे ज्ञान्य परीतान्तका होता है। जघन्य परीतान्तका अभ्यास करनेसे ज्ञान्य युक्तान्त होता है। यही अभन्य जीवोंका परिमाण है ॥ २३ ॥

उसका अर्थात् ज्ञान्य युक्तान्तका वर्ग करनेसे जघन्य अनन्तान्त ठाना है। जघन्य अनन्तान्तका तीन बार वर्ग करना लेकिन इतनहीन वह उत्कृष्ट अनन्तान्त नहीं बताता। इसलिये तीन बार वर्ग करके उसमें नीचे लिखी छह अनन्त सख्याएँ मिलाना ॥२४॥

(१) सिद्ध (२) त्रिगोदके जोर, (३) वास्पतिक्रायिक जीव, (४) तीनों कालके समय, (५) स्वपूर्ण पुद्गल परमाणु और (६) समग्र आकाशक प्रदेश, इन छह की अनन्त सख्याओंको मिलाकर फिर-स तीन बार वर्ग करना और उसमें केवल द्विम्के पर्यायोपी सख्या का मिलाना। शास्त्रमें अनन्तान्तका व्यवहार किया जाता है, सो मध्यम अनन्तान्तका, जघन्य या उत्कृष्टना नहीं। इस सूत्रमाधविचार नामक प्रकरणको आदेवेन्द्रसूरिने लिखा है ॥ २५ ॥ २६ ॥

भाषार्थ—गा० ७१स ७५ तकमें सख्याका वर्णन किया है, सो सैद्धांतिक मतके अनुसार। अथ कर्मग्रन्थिक मतके अनुसार वर्णन किया जाता है। सख्याक इषोस भेदोंमेंसे पहले सात भेदोंके स्वरूपके विषयमें सैद्धांतिक और कर्मग्रन्थिक आचार्योंका कोई मत भेद नहीं है। आदि सब भेदोंके स्वरूपके

अथ पदम लोक और अथक धनो ॥ २६ ॥  
 १ मान्य होनेसे अनन्तान्त की प्रकृति है।





कार्मग्रन्थिक आचार्योंका कथन है कि जघन्य युक्तासख्यातका वर्ग करनेसे जघन्य असख्यातासख्यात होता है। जघन्य असख्यातासख्यातका तीन बार वर्ग करना और उसमें लोकाकाश प्रदेश आदिकी उपर्युक्त दस असख्यात सर्यापें मिलाना। मिलाकर फिर तीन बार वर्ग करना। वर्ग करनेसे जो सख्या होती है, वह जघन्य परीत्तानन्त है।

जघन्य परीत्तानन्तका अभ्यास करनेसे जघन्य युक्तानन्त होता है। शास्त्रमें अभव्य जीव अनन्त कहे गये हैं, सो जघन्य युक्तानन्त समझना चाहिये।

जघन्य युक्तानन्तका एक बार वर्ग करनेसे जघन्य अनन्तानन्त होता है। जघन्य अनन्तानन्तका तीन बार वर्गकर उसमें सिद्ध आदिकी उपर्युक्त छह सख्यापें मिलाना चाहिये। फिर उसका तीन बार वर्ग करके उसमें केवलज्ञान और केवलदर्शनके सपूर्ण पर्यायोंकी सख्याको मिलाना चाहिये। मिलानेसे जो सख्या होती है, वह 'उत्कृष्ट अनन्तानन्त' है।

मध्यम या उत्कृष्ट सख्याका स्वरूप जाननेकी रीतिमें सैदान्तिक और कार्मग्रन्थिकोंमें मत-भेद नहीं है, पर ७९ वीं तथा ८०वीं गाथामें बतलाये हुए दोनों मतके अनुसार जघन्य असख्यातासख्यातका स्वरूप भिन्न भिन्न हो जाता है। अर्थात् सैदान्तिकमतसे जघन्य युक्तासख्यातका अभ्यास करनेपर जघन्य असख्यातासख्यात बनता है और कार्मग्रन्थिकमतसे जघन्य युक्तासख्यातका वर्ग करनेपर जघन्य असख्यातासख्यात बनता है, इसलिये मध्यम युक्तासख्यात, उत्कृष्ट युक्तासख्यात आदि आगेकी सब मध्यम और उत्कृष्ट सख्याओंका स्वरूप भिन्न भिन्न बन जाता है। जघन्य असख्यातासख्यातमेंसे एक घटानेपर उत्कृष्ट युक्तासख्यात होता है। जघन्य युक्तासख्यात और उत्कृष्ट युक्तासख्यातके बीचकी सब

जम्बूद्वीप आदि प्रत्येक द्वीप तथा समुद्रमें डालना चाहिये, इस रीतिसे एक एक सर्पप डालनेसे जिस द्वीप या समुद्रमें मूल अनवस्थितपत्य बिलकुल खाली हो जाय, जम्बूद्वीपसे (मूल स्थानसे) उस सर्पप समाप्ति-कारक द्वीप या समुद्र तक लम्बा चोडा नया पत्य बना लेना चाहिये, जो ऊँचाईमें पहले पत्यके बराबर ही हो । फिर इस उत्तरानवस्थितपत्यको सर्पपोंसे भर देना और एक एक सर्पपको आगेके द्वीप समुद्रमें डालना चाहिये । इस प्रकार एक एक सर्पप निकालनेसे जब यह पत्य भी खाली हो जाय, तब इस प्रथम उत्तरानवस्थितपत्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्पप शलाका नामके पत्यमें डालना । जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें प्रथम उत्तरानवस्थित खाली हो जाय, मूल स्थान (जम्बूद्वीपसे) उस द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण अनवस्थितपत्य फिर बनाना तथा उसे सर्पपोंसे भरकर आगेके द्वीप समुद्रमें एक एक सर्पप डालना चाहिये । उसके बिलकुल खाली हो जानेपर समाप्ति सूचक एक सर्पप शलाकापत्यमें फिरसे डालना चाहिये । इस तरह जिस द्वीपमें या जिस समुद्रमें अन्तिम सर्पप डाला गया हो, मूल स्थानसे उस सर्पप समाप्ति कारक द्वीप या समुद्र तक विस्तीर्ण एक एक अनवस्थितपत्य बनाते जाना और उसे सर्पपोंसे भर कर उक्त विधिसे अनुसार खाली करते जाना और एक एक अनवस्थित पत्यके खाली हो चुकनेपर एक एक सर्पप शलाकापत्यमें डालते जाना । ऐसा करनेसे जब शलाकापत्य सर्पपोंसे पूर्ण हो जाय, तब मूल स्थानसे अन्तिम सर्पपवाले स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थित पत्य बनाकर उसे सर्पपोंसे भर देना चाहिये । इससे अब तकमें अनवस्थितपत्य और शलाकापत्य सर्पपोंसे भर गये । इन दोनोंसे शलाकापत्यको उठाता और उसके सर्पपोंसे

उक्त ५ १ ७ आगेके द्वीप समुद्रमें डालना ६

कायके प्रदेश, (३) अधमाम्तिकायके प्रदेश, (५) एक जीवके प्रदेश, (५) स्थिति यन्त्र जन्मक अध्वरसाय स्थान, (६) अनुभाग विशेष, (७) योगके निरिभाग त्रय (८) त्रयसपिण्णी और उत्सपिण्णी, इन दो कालके समय, (९) प्रत्येकशरीर और (१०) त्रिगोदशरीर ॥ २१ ॥ २२ ॥

उक्त दस सख्याएँ मिलाकर फिर उसका तीन बार वर्ग करना। उग करनेसे जग य परीत्तानन्त होता है। जघन्य परीत्तानन्तका अभ्यास करनेसे जघन्य युक्तात्त होता है। यही अभ्यास जीवोंका परिमाण है ॥ २३ ॥

उसका अर्थात् जघन्य युक्तात्तका उग करनेसे जघन्य अनन्तान्त हाता है। जघन्य अनन्तानन्तका तीन बार वर्ग करना लेकिन इतनेहीन वह उत्कृष्ट अनन्तानन्त नहीं जाता। इसलिये तीन बार वर्ग करके उसमें नीचे लिखी छह अनन्त सख्याएँ मिलाना ॥ २४ ॥

(१) सिद्ध (१) त्रिगोदके जीव, (३) वासुदेविकायिक जीव, (४) तीनों कालके समय, (५) सपूर्ण पुद्गल परमाणु और (८) समग्र आकाशके प्रदेश, इन छह को अनन्त सख्याओंको मिलाकर फिरसे तीन बार वर्ग करना और उसमें ऊपर छिन्नेके पर्यायोंकी सख्या का मिलाना। शास्त्रमें अनन्तानन्तका व्यवहार किया जाता है, सो मयम अनन्तानन्तका, जघन्य या उत्कृष्टका नहीं। इस सूक्ष्मार्थविचार नामक प्रकरणको श्रीदेवेन्द्रसूरिने लिखा है ॥ २५ ॥ २६ ॥

मावार्थ—गा० ७१स ७५ तकमें सख्याका वर्णन किया है, सो सैद्धान्तिक मतके अनुसार। अब कर्मग्रन्थिक मतके अनुसार वर्णन किया जाता है। सख्याके इगोस भेदोंमेंसे पहले सात भेदोंके स्वरूपके विषयमें सैद्धान्तिक और कर्मग्रन्थिक आचार्योंका कोई मतभेद नहीं है थाउंवे आदि सब भेदोंके स्वरूपके विषयमें मतभेद है।

१—मूलके अन्तर्गत पदमे लोक और अणुक दानों प्रकारका आकाश विवक्षित है।

२—त्रेवर्षीय अन्त होनेसे अन्तर्पर्यन्त भी अन्त है।

एक सर्पप निफालनेसे जब शलाकापत्य बिलफुल चाली हो जाय, तब शलाकापत्यके खाली हो जानेका सूचक एक सर्पप प्रतिशलाकापत्यमें डालना चाहिये । अब तकमें अनवस्थितपत्य सर्पपोंसे भरा पडा है, शलाकापत्य चाली हो चुका है और प्रतिशलाकापत्यमें एक सर्पप पडा हुआ है ।

इसके पश्चात् अनवस्थितपत्यके एक एक सर्पपको आगेके द्वीप समुद्रमें डालकर उसे चाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेका सूचक एक सर्पप पूर्वकी तरह शलाकापत्यमें, जो चाली हो गया है, डालना चाहिये । इस प्रकार मूल स्थानसे अन्तिम सर्पपवाले स्थान तक विस्तीर्ण नया नया अनवस्थित पत्य याते जाना चाहिये और उसे सर्पपोंसे भरकर उक्त विधिके अनुसार चाली करते जाना चाहिये । तथा प्रत्येक अनवस्थितपत्यके खाली हो चुकनेपर एक एक सर्पप शलाकापत्यमें डालते जाना चाहिये । ऐसा करनेसे जब शलाकापत्य सर्पपोंसे फिरसे भर जाय, तब जिस स्थानमें अन्तिम सर्पप पडा हो, मूल स्थानसे उस स्थान तक विस्तीर्ण अनवस्थितपत्यको घनाकर उसे भी सर्पपोंसे भर देना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित और शलाका, ये दो पत्य भरे हुए हैं और प्रतिशलाकापत्यमें एक सर्पप है ।

शलाकापत्यको पूर्व विधि के अनुसार फिरसे खाली कर देना चाहिये और उसके खाली हो चुकनेपर एक सर्पप प्रतिशलाकापत्यमें रखना चाहिये । अब तक अनवस्थितपत्य भरा हुआ है, शलाकापत्य खाली है और प्रतिशलाकापत्यमें दो सर्पप पडे हुए हैं ।

इसके आगे फिर भी पूर्वोक्त विधिके अनुसार अनवस्थित पत्यको खाली करना और एक एक सर्पपको शलाकापत्यमें डालना चाहिये । इस प्रकार शलाकापत्यको बार-बार भर कर उक्त विधिके

## तृतीयाधिकारके परिशिष्ट ।

### परिशिष्ट "प" ।

पृष्ठ १७६, पङ्क्ति १०के 'मूल बाध हेतु' पर—

यह विषय पद्यसंग्रह भा० ६को १ और २०वां गाथामें है किन्तु उसका बलनमें यहाँकी अपेक्षा कुछ भेद है । उसमें मोलह प्रकृतिगत बाधकी मिथ्यात्व हेतुक पंतीम प्रकृतिपौके बाधकी अविरति-हेतुक, अरमठ प्रकृतिपौके बाधकी कषाय हेतुक और सातवें-नीयक बाधका योग-हेतुक कहा है । यह कथन अन्वय-व्यतिरेक, उसमें मूलक काय-कारण-भावकी लेकर किया गया है । यैम — मिथ्यात्वक मन्नावरी मोलहवा बाध और उसमें अभावमें मोलहक बाधका अभाव हीना है इसमें यैम मोलहक बाधका अन्वय व्यतिरेक मिथ्यात्वक साथ घट सकता है । इस प्रकार पंतीमके बाधका अविरतिके साथ अरमठक बाधका कषायके साथ और सातवें-नीयके बाधका योगके साथ अन्वय-व्यतिरेक सम्भक्तना चाहिये ।

परन्तु हम जगह केवल अन्वय-मूलक बाधकारण भावकी लेकर बाधका बलन किया है व्यतिरेकी दिवजा नहीं की है "सीम यहाँकी वर्णन पद्यसंग्रहक बलनमें भिन्न मतूम पड़ता है । अन्वय — यैम मिथ्यात्वक समय अविरतिके समय कषायके समय और योगक समय सम्भक्त-नीयका बाध अन्वय हीना है इसी प्रकार मिथ्यात्वके समय मोलहक बाध मिथ्यात्वक समय तथा अविरतिके समय पंतीमका बाध और मिथ्यात्वक समय अविरतिके समय तथा कषायके समय एवं प्रकृतिपौका बाध अन्वय हीना है । यह अन्वयमात्रकी सद्दीपों रखकर और यैम-सूत्रिने पद्य भाषण पंतीम और अरमठक बाधकी क्रमसा चतुहेतुक एक हेतुक द्वि-हेतुक और त्रि-हेतुक कहा है । उक्त पाठों बाधका स्वीकरण पद्यसंग्रहक बलनानुसार केवल एक एक हेतुके साथ घट सकता है । पद्यसंग्रह और यैमकी वर्णन-जी-नीमैम १ गाथायेंमें नहीं ।

शब्दाभा ३०० सू० १५ बाधक हेतु पाँच करे हुए है उसका अनुसार प्र० १ सू० १६ की कथाभित्तिमें उक्त प्रकृतिपौके और बाध हेतुके काय-कारण भावका विचार किया है । उसमें मोलहक बाधका मिथ्यात्व हेतुक अन्वयमात्रके बाधकी अविरति हेतुक द्विहेतुक बाधकी प्रमाणादिक अन्वयनके बाधकी कषाय-हेतुक और एकके बाधकी योग हेतुक बलनाया है । अविरतिके बलनानुसार बाधकारण-भावके अन्वय और प्रमाणात्मक-कारण-भावके अन्वय

अनुसार खाली करते जाना तथा चाली हो जानेका सूचक एक एक सर्प प्रतिशलाकापत्यमें डालते जाना चाहिये । जब एक-एक सर्पके डालनेसे प्रतिशलाकापत्य भी पूर्ण हो जाय, तब उक्त प्रक्रियाके अनुसार अनवस्थितपत्यद्वारा शलाकापत्यको भरना और पीछे अनवस्थितपत्यको भी भर रखना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका, ये तीन पत्य भर गये हैं । इनमेंसे प्रतिशलाकाको उठाकर उसके सर्पोंमेंसे एक-एक सर्पको आगेक द्वीप समुद्रमें डालना चाहिये । प्रतिशलाकापत्यके चाली हो चुकनेपर एक सर्प जो प्रतिशलाकापत्यकी समाप्तिका सूचक है, उसको महाशलाकापत्यमें डालना चाहिये । अब तकमें अनवस्थित तथा शलाका पत्य भरे पड़े हैं, प्रतिशलाकापत्य खाली है और महाशलाकापत्यमें एक सर्प पड़ा हुआ है ।

इसके आन्तर शलाकापत्यको खाली कर एक सर्प प्रतिशलाकापत्यमें डालना और अनवस्थितपत्यको खाली कर शलाकापत्यमें एक सर्प डालना चाहिये । इस प्रकार नया नया अनवस्थितपत्य बनाकर उसे सर्पोंसे भरकर तथा उक्त विधिके अनुसार उसे चालीकर एक एक सर्पद्वारा शलाकापत्यको भरना चाहिये । हर एक शलाकापत्यके चाली हो चुकनेपर एक एक सर्प प्रतिशलाकापत्यमें डालना चाहिये । प्रतिशलाकापत्य भर जानेके बाद अनवस्थितद्वारा शलाकापत्य भर लेना और अन्तमें अनवस्थितपत्य भी भर देना चाहिये । अब तकमें पहले तीन पत्य भर गये हैं और चौथेमें एक सर्प है । फिर प्रतिशलाकापत्यको उक्त रीतिसे चाली करना और महाशलाकापत्यमें एक सर्प डालना चाहिये । अब तकमें पहले दो पत्य पूर्ण हैं । प्रतिशलाकापत्य खाली है और महाशलाकापत्यमें दो सर्प भर गये हैं । अब महाशलाकाको भर देना चाहिये

सख्याएँ मध्यम युक्तासख्यात हैं । इसी प्रकार आगे भी किसी जघन्य सख्याएँसे एक घटानेपर उसके पीछेकी उत्कृष्ट सख्या बनती है और जघन्यमें एक, दो आदिकी सख्या मिलानेसे उसके सजातीय उत्कृष्ट नककी बीचकी सख्याएँ मध्यम होती हैं ।

सभी जघन्य और सभी उत्कृष्ट सख्याएँ एक एक प्रकारकी हैं परन्तु मध्यम सख्याएँ एक प्रकारकी नहीं हैं । मध्यम सख्यातके सख्यात भेद मध्यम असख्यातके असख्यात भेद और मध्यम अनन्तके अनन्त भेद हैं क्योंकि जघन्य या उत्कृष्ट सख्याका मतलब किसी एक नियत सख्यासे ही है, पर मध्यमके विषयमें यह बात नहीं । जघन्य और उत्कृष्ट सख्यातके बीच सख्यात इकाइयाँ हैं, जघन्य और उत्कृष्ट असख्यातके बीच असख्यात इकाइयाँ हैं, पर जघन्य और उत्कृष्ट अनन्तके बीच अनन्त इकाइयाँ हैं, जो क्रमशः 'मध्यम सख्यात', 'मध्यम असख्यात' और 'मध्यम अनन्त' कहलाती हैं ।

शास्त्रमें जहाँ कहीं अनन्तानन्तका व्यवहार किया गया है, वहाँ सब जगह मध्यम अनन्तानन्तसे ही मतलब है ।

(उपसंहार) इस प्रकारका नाम "सूक्ष्माद्यविचार" रखा है क्योंकि इसमें अनेक सूक्ष्म विषयोंपर विचार प्रगट किये गये हैं । २०-२६।

इस प्रकार पूर्व पूर्व पत्यके चाली हो जानेके समय डाले गये एक एक सर्पसे क्रमश चौथा, तीसरा और दूसरा पत्य, जब भर जाय तब श्रावस्थितपत्य, जो कि मूल स्थानसे अन्तिम सर्पपवाले द्वीप या समुद्र तक लम्बा चौड़ा बनाया जाता है, उसका भी सर्पपोंसे भर देना चाहिये । इस क्रमसे चारों पत्य सर्पपोंसे ढसा ढसा भरे जाते हैं ॥ ७४-७६ ॥

### सर्पप-परिपूर्ण पत्योक्ता उपयोग ।

पदमतिपल्लुद्धरिया, दीबुद्धी पल्लचउसरिसवा य ।  
सव्वो वि णगरासी, रूवूणो परममंखिज्ज ॥ ७७ ॥

प्रथमत्रिपल्लोद्भृता, द्वीपोदधय पत्यचतु सधपाश्च ।

सर्वोप्येकगता, रूपान परमसख्येयम् । ७७ ॥

अर्थ—जितने द्वीप समुद्रोंमें एक एक सर्पप डालनेसे पहले तीन पत्य चाली हो गये हैं, वे सब द्वीप समुद्र और परिपूर्ण चार पत्योंके सर्पप, इन दोनोंकी सख्या मिलानेसे जो सख्या हो, एक कम वही सख्या उत्कृष्ट मख्यात है ॥७७॥

भावार्थ—अनवस्थित, शलाका और प्रतिशलाका पत्यकी बार-बार सर्पपोंसे भर कर उनको खाली करनेकी जो विधि ऊपर दिखलाई गई है, उसके अनुसार जितने द्वीपोंमें तथा जितने समुद्रोंमें एक एक सर्पप पडा हुआ है, उन सब द्वीपों की तथा सब समुद्रों की सख्यामें चारों पत्यके भरे हुए सर्पपोंकी सख्या मिला देनेसे जो सख्या होती है, एक कम वही सख्या उत्कृष्ट सख्यात है ।

उत्कृष्ट सख्यात और जवन्य सख्यात, इन दो के बीचकी सब सख्याको मध्यम सख्यात समझना चाहिये । शास्त्रोंमें जहाँ कहीं सख्यात शब्दका व्यवहार हुआ है, वहाँ सब जगह मध्यम सख्यात से ही मतलब है ॥ ७७ ॥



## परिशिष्ट "फ" ।

पृष्ठ २०६, पङ्क्ति १४के 'मूल भाव' पर—

गुणस्थानोंमें एक नीवाश्रित भावोंकी संख्या नैसी इस गायामें है वैसी ही पञ्चमग्रहकी डार २की ६४वां गायामें है, परंतु इस गायामें टीका और टवामें तथा पञ्चमग्रहकी उक्त गायामें टीकामें रोडामा भ्याग्या भेद है ।

टीका-टवामें उपशमक उपशान्त वा पदोंसे नौवां दमवां और ग्यारहवां ये तीन गुणस्थान ग्रहण किये गये हैं और अपूर्व पञ्च आठवां गुणस्थानमात्र । नौवें आदि तीन गुणस्थानोंमें उपशमश्रेणिवाने औपशमिकसम्बन्धीकी या छायाविसम्बन्धीकी चारित्र्य औपशमिक माना है । आठवें गुणस्थानमें औपशमिक या छायाविसम्बन्धीकी औपशमिकचारित्र्य इष्ट नही है किंतु छायोपशमिक । इसका प्रमाण गायामें अपूर्व शब्दका अलग ग्रहण करना है, क्योंकि यदि आठवें गुणस्थानमें भी औपशमिकचारित्र्य इष्ट होता तो अपूर्व शब्द अलग ग्रहण न करके उपशमिक शब्दमें ही नौवें आदि गुणस्थानकी तरह आठवेंका भी सूचन किया जाता । नौवें और दमवें गुणस्थानके छपक रेखितन जीव-ममभभी भावोंका व चारित्र्यका उल्लेख टीका वा टवामें नहीं है ।

पञ्चमग्रहकी टीकामें श्रीमलयगिरिने उपशमक 'उपशान्त' पदसे आठवेंने ग्यारहवें तक उपशमश्रेणिवान चार गुणस्थान और अपूर्व तथा छीला पदमें आठवां, नौवां दसवां और बारहवां के छपक श्रेणिवाने चार गुणस्थान ग्रहण किये हैं । उपशमश्रेणिवाने उक्त चारों गुणस्थान में उहोंने औपशमिकचारित्र्य माना है, पर छपकश्रेणिवाने चारों गुणस्थानके चारित्र्यके सम्बन्धमें कुछ उल्लेख नही किया है ।

ग्यारहवें गुणस्थानमें सपूण मोहनीयका उपशम ही जानेके कारण सिर्फ औपशमिक चारित्र्य है नौवें और दमवें गुणस्थानमें औपशमिक छायोपशमिक दो चारित्र्य हैं क्योंकि इनमें गुणस्थानोंमें चारित्र्यमोहनीयकी बुद्ध प्रकृतियाँ उपशान्त होती हैं सब नहीं । उपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे औपशमिक और अनुपशान्त प्रकृतियोंकी अपेक्षासे छायोपशमिक-चारित्र्य समझना चाहिये । यद्यपि यह बात इस प्रकार स्पष्टनामें नहीं कही गई है परंतु पञ्च ३० ३१ ३२की २५वां गायामें टीका देखनेमें इस विषयमें बुद्ध भी संदिह नहीं रहता क्योंकि उसमें सूक्ष्मसपराय चारित्र्यकी, जो पञ्चवें गुणस्थानमें ही होना है छायोपशमिक कहा है ।

## असत्यात और अनन्तका स्वरूप ।

[दो गाथाओं में ।]

स्वयं तु परित्ता, - मव लहु अस्त रासि अन्मासे ।  
जुत्तासखिज्ज लहु, आवलियासमयपरिमाण ॥७८॥

रूपयुत तु परित्तासख्य लघ्वस्य राशेरभ्यास ।

युक्तासत्यय लघु, आवलियासमयपरिमाणम् ॥७८॥

अर्थ—उत्कृष्ट सत्यातमें रूप (एक की सत्या) मिलानेसे जघन्य परीत्तासख्यात होता है । जघन्य परीत्तासख्यातका अभ्यास करनेसे जघन्य युक्तासख्यात होता है । जघन्य युक्तासख्यात ही एक आत्रलिकाके समयोंका परिमाण है ॥७८॥

भाषार्थ—उत्कृष्ट सख्यातमें एक सत्या मिलानेसे जघन्य परीत्तासख्यात होता है । अर्थात् एक एक सर्पप डाले हुए द्वीप समुद्रोंकी और चार पत्थोंके सर्पपोंकी मिलाई हुई सपूर्ण सख्या ही जघन्य परीत्तासख्यात है ।

जघन्य परीत्तासख्यातका अभ्यास करनेपर जो सख्या

१—निम्नर ताश्रौमे भो रूप शब्द एक सत्याक अर्थमें प्रयुक्त है । पैमे - जोवकाएवकी १०३ तथा ११०वीं गाथा अत्रि तथा प्रवरनमार मयाभिकारवा ७४वीं गाथा की टीका ।

२—निम्न सत्याका अभ्यास करना हा उनके अङ्गुली जतनी द्या लिसकर परस्पर गुणना अर्थात् प्रथम अङ्गुली दूसरेके साथ गुणना अर्थात् जो गुणन फल आवे उनको तीसरे अङ्गुलीके साथ गुणना इसक गुणन-फलको आगे अङ्गुली साथ । इस प्रकार पूर्व पूर्व गुणन फलको अगले अङ्गुलीके साथ गुणना अन्तमें जो गुणन फल प्राप्त हो वही विप्रक्षिप्त सख्याका अभ्यास है । उ।हरणार्थ—१का अभ्यास ३१२५ है । इसकी विधि इस प्रकार है—१को पाँच दफा ५ ५ ५ ५ । पहले १को दूसरे ५क साथ गुणनेसे २५ हुए २५को तीसरे ५के १२५ १०५को चौथे ५क साथ गुणनेसे ६२५ ६२५को पाँचवें ५के साथ गुणनेसे

—अनयोगद्वार-टीका पृ० २३१ ।

ये तीन भेद किये हैं । प्रथम अविरतिको पचीसके बंधका दूसरीको दसके बंधका और तीसरीको चारके बंधका कारण दिखाकर कुल सत्तासीसके बंधका अविरति हेतुक कहा है । षष्ठसप्तदशमें जिन अस्मिन् प्रकृतियोंके बंधको कषाय हेतुक माना है उनमेंसे चारके बंधको प्रत्याभ्यासान्तरणकषाय जन्य अविरति हेतुक और छहके बंधको प्रमाद हेतुक सत्तासिद्धिमें बतलाया है अतिये उनमें कषाय हेतुक बंधवाली अष्टावन प्रकृतियाँ ही कही हुई हैं ।

आती है, वह जघन्य युक्तासख्यात है । शास्त्रमें आयलिकाके समयों-को असख्यात कहा है, सो जघन्य युक्तासख्यात समझना चाहिये । एक कम जघन्य युक्तासख्यातको उत्कृष्ट परीक्षासख्यात तथा जघन्य परीक्षासख्यात और उत्कृष्ट परीक्षासख्यातके बीचकी सब सख्याओंको मध्यम परीक्षासख्यात जानना चाहिये ॥ ७= ॥

वित्तिचउपंचमगुणणे, कमा सगासख पढमचउसत्ता ।

एता ते ख्वजुया, मज्झा ख्वूण गुरु पच्छा ॥७६॥

द्वितीयततायचतुथपञ्चमगुणने क्रमात् सतमाश्रय प्रथमचतुर्थसतमा ।

अनन्तास्ते रूपयुता, मध्या रूपोना गुरय पश्चात् ॥७९॥

अर्थ—दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें मूल भेदका अभ्यास करनेपर अनुक्रमसे सातवाँ असख्यात और पहला, चौथा और सातवाँ अनन्त होते हैं । एक सख्या मिलानेपर ये ही नख्याएँ मध्यम संख्या और एक सख्या कम करनेपर पीछेकी उत्कृष्ट सख्या होती है ॥ ७६ ॥

भावार्थ—पिह्लो गायामें असख्यातके चार भेदोंका स्वरूप बतलाया गया है । अब उसके शेष भेदोंका तथा अनन्तके सब भेदोंका स्वरूप लिखा जाता है ।

असख्यात और अनन्तके मूल भेद तीन तीन हैं, जो मिलनेसे छह होते हैं । जैसे —( १ ) परीक्षासख्यात, ( २ ) युक्तासख्यात और ( ३ ) असख्यातासख्यात; ( ४ ) परीक्षान्त, ( ५ ) युक्तान्त और ( ६ ) अनन्तान्त । असख्यातके तीनों भेदके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद करनेसे नौ और इस तरह अनन्तके भी नौ उत्तर-भेद होते हैं, जो ७१ वीं गायामें दिखाये हुए हैं ।

## परिशिष्ट नं० १ ।

श्वेताम्बरीय तथा दिगम्बरीय संप्रदायके [कुक्ष] समान  
तथा त्र्यसमान मन्तव्य ।

( फ )

निश्चय और व्यवहार दृष्टिसे जीव शब्दकी व्याख्या दोनों संप्रदायमें तुल्य है । पृष्ठ-४ । इस सम्बन्धमें जीवकाण्डका 'प्राणाधिकार' प्रकरण और उसकी टीका देखने योग्य है ।

मार्गस्थान शब्दकी व्याख्या दोनों संप्रदायमें समान है । पृष्ठ-४ ।

गुणस्थान शब्दकी व्याख्या शैली कर्मग्रन्थ और जीवकाण्डमें भिन्नसी है, पर उसमें तात्त्विक अर्थ भेद नहीं है । पृ०-४ ।

उपयोगका स्वरूप दोनों सम्प्रदायोंमें समान माना गया है । पृ०-५ ।

कर्मग्रन्थमें अपर्याप्त सज्ञीको तीन गुणस्थान माने हैं, किन्तु गोष्मटसारमें पाँच माने हैं । इस प्रकार दोनोंका सरयाविषयक मत-भेद है, तथापि वह अपभ्रंशकृत है, इसलिये वास्तविक दृष्टिसे उमम समानता ही है । पृ०-१२ ।

केवलज्ञानोके विषयम महित्व तथा असहित्वका व्यवहार दोनों संप्रदायक शास्त्रोंमें समान है । प०-१३ ।

वायुकायके शरीरकी ध्वजाकारता दोनों संप्रदायको मान्य है । पृ०-२० ।

स्थितिश्चाप्यवसाया अनुभागा योगच्छेदपरिभागा ।

द्वयोश्च समयो समया प्रत्येकनिगोदका क्षिप ॥ ८२ ॥

पुनरपि तास्मास्त्रिर्भगिते परीतान्त लघु तस्य राशीनाम् ।

अभ्यासे ऋधु युत्तान्तममभ्यर्जवप्रमाणम् ॥ ८३ ॥

तद्भर्मे पुनः प्रायतेऽनन्तान्त लघु तच्च त्रिकृत्व ।

वर्गयस्व तथापि न तद्भवत्यनन्तक्षरान् गिप पडिमान् ॥ ८४ ॥

सिद्धा निगोदजाया वनक्षर त क लपुद्गलाश्चैव ।

सर्वमल्लोकनभ पुनस्त्रियगपित्वा केवलद्विके ॥ ८५ ॥

क्षितेऽनन्तान्त भवति ज्येष्ठ तु यवहरति मध्यम् ।

हात स्रग्भाषविचारो लिखितो दवेन्द्रसूयिभि ॥ ८६ ॥

अर्थ—पीढ़े सूत्रानुसारी मत कहा गया है। अब अथ आचार्यों का मत कहा जाता है। चतुर्थ असख्यात अर्थात् जघन्य युका सख्यातका एक बार वग करनसे जघन्य असख्यातासख्यात होता है। जघन्य असख्यातासख्यातमें एक सख्या मिलानेसे मध्यम असख्यातासख्यात होता है ॥ ८० ॥

जघन्य असख्यातासख्यातमेंसे एक सख्या घटा दी जाय तो पीढ़ेका गुण अर्थात् उत्कृष्ट युकासख्यात होता है। जघन्य असख्यातासख्यातका तीन बार वग कर नीचे लिखी दस असख्यात

१—निम्नी सख्याका तीन बार वग करना हो तो ऋत सख्याका वग करना वा अन्य मर्यादा वर्ग करता और द्वितीय वग त्रय सख्याका भी वर्ग करना। अन्तर्हरणार्थ—५का तीन बार वग करना हो तो ५का वग २५ २५का वर्ग ६२५ ६२५का वर्ग ३९०६२५, यह पाँचका तीन बार वर्ग हुआ।

२—नीचाकाश भर्मास्तिकाय भर्मास्तिकाय और एक जीव इन चारोंके प्रदेश असख्यात असख्यात और भाषतमें तुल्य है।

दो पक्ष श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें हैं, दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी हैं । पृ०-१७१, नोट ।

श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें जो कहीं कर्मबन्धके चार हेतु, कहीं दो हेतु और कहीं पाँच हेतु कहे हुए हैं, दिगम्बर ग्रन्थोंमें भी वे सब वर्णित हैं । पृ०-१७४, नोट ।

बन्ध हेतुओंके उत्तर भेद आदि दोनों संप्रदायमें समान हैं । पृ०-१७५, नोट ।

सामान्य तथा विशेष बन्ध हेतुओंका विचार दोनों संप्रदायके ग्रन्थोंमें है । पृ०-१८१, नोट ।

एक सत्याके अर्थमें रूप शब्द दोनों संप्रदायके ग्रन्थोंमें मिलता है । पृ०-२१८, नोट ।

कर्मग्रन्थमें वर्णित दस तथा उह श्लेष त्रिलोकसारमें भी हैं । पृ०-२२१, नोट ।

उत्तर प्रकृतियोंके मूल बन्ध हेतुका विचार जो सर्वार्थसाक्षिमें है, वह पञ्चसमूहमें किये हुए विचारसे कुछ भिन्नता होनेपर भी वस्तुतः उसका समान ही है । पृ०-२७७ ।

कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसमूहमें एक-जीवाभित भावोंका जो विचार है, गोम्मटसारमें बहूत अंशोंमें उसके समान ही वर्णित है । पृ०-२७९ ।

( ख )

श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें तेज कायको बंक्रियशरीरका कथन नहीं है, पर दिगम्बर ग्रन्थोंमें है । पृ०-१९, नोट

श्वेताम्बर संप्रदायकी अपेक्षा दिगम्बर संप्रदायमें सति असत्ताका व्यवहार कुछ भिन्न है । तथा श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें हेतुषादोपदेशिका





# अनुवाद-गत पारिभाषिक शब्दों का कोष

शब्द ।	पृष्ठ ।	पङ्क्ति ।
<b>अ ।</b>		
अछाद्यास्थिकयथाख्यात	११	२०
[अध्यवसाय]	२२३	१३
अनुभवसहा	३८	६
[अनुभाग]	२२३	१३
[अनुभागबन्धस्थान]	„	१६
अन्तरकरण	१४०	४
[अतमुहूर्त]	२८	१
[अपवर्तनाकरण]	६	२,
[अवाधाकाल]	६	•
अभवस्थ अयोगी	१९४	२५
असत्कल्पना	२१०	१७
<b>आ ।</b>		
[आदेश]	४	९
आयोजिकाकरण	१५५	४
[आयविल]	६०	१
आवर्जितकरण	१५५	६
[आवल्किा]	३१	१
आवश्यककरण	१५५	७
<b>इ ।</b>		
इत्वरसामायिक		

शब्द ।	पृष्ठ ।	पङ्क्ति ।
<b>उ ।</b>		
उत्कृष्ट अनन्तानन्त	२२५	११
उत्कृष्ट अमख्याता—		
सरयात	२२०	७
उत्कृष्ट परीक्षानन्त	२२०	१५
उत्कृष्ट परीतामख्यात	२१९	३
उत्कृष्ट युक्तानन्त	२२०	१९
उत्कृष्ट युक्तामख्यात	२२०	३
उत्कृष्ट सख्यात	२१७	१६
उदयस्थान	२८	१
उदीरणास्थान	२८	३
उपकरणेन्द्रिय	३७	१२
उपशम	१३९	२७
उपशमश्रेणिभावी औ		
पशमिकसम्यक्त्व	६६	३
<b>ऊ ।</b>		
[ऊर्ध्वतासामान्य]	३	१४
ऊर्ध्वप्रचय	१५८	२५
<b>ओ ।</b>		
[ओप]		
ओपसहा		१६

श्रुताम्बर-ग्रन्थोंमें जिस अर्थकेलिये आयोजिकाकरण, आवर्जितकरण और आवश्यकरूपकरण, ऐसी तीन सजाएँ मिलती हैं, दिगम्बर-ग्रन्थोंमें उस अर्थकेलिये सिर्फ आवर्जितकरण, यह एक सजा है । पृ०-१५५ ।

श्रुताम्बर-ग्रन्थोंमें कालको स्वतन्त्र द्रव्य भी माना है और उपचरित भी । किन्तु दिगम्बर-ग्रन्थोंमें उसको स्वतन्त्र ही माना है । स्वतन्त्र पक्षमें भी कालका स्वरूप दोनों संप्रदायके ग्रन्थोंमें एकसा नहा है । पृ०-१५७ ।

किसी किसी गुणस्थानमें योगोंकी सख्या गोम्मटसारमें क्रम प्रथकी अपेक्षा भिन्न है । पृ०-१६० नाट ।

दूसरे गुणस्थानके समय ज्ञान तथा अज्ञान माननेवाले उस दो पक्ष श्रुताम्बर-ग्रन्थोंमें हैं, परन्तु गोम्मटसारमें सिर्फ दूसरा पक्ष है । पृ०-१६९, नोट ।

गुणस्थानोंमें लेख्याकी सख्याक सवन्धमें श्रुताम्बर-ग्रन्थोंमें दो पक्ष हैं और दिगम्बर-ग्रन्थोंमें सिर्फ एक पक्ष है । पृ०-१७२, नोट ।

[ जीव सम्यक्त्वसाहित मरकर स्त्रीरूपमें पैदा नहीं होता, यह बात दिगम्बर संप्रदायको मान्य है, परन्तु श्रुताम्बर संप्रदायको यह मन्तव्य इष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें भगवान् महिनाथका श्रीवेद तथा सम्यक्त्वसाहित उत्पन्न होना माना गया है । ]

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

औ ।

औपपातिकशरीर ५२ १३

औपशामिक ११८ १

औपशामिकचारित्र १९७ १४

क ।

करण ४१ १०

करण अपर्याप्त ४० ८

करणपर्याप्त ४० १३

[कायायिक परिणाम] २२३ १३

क्षयोपशम १३८ ५

क्षायोपशामिक १३८ १

ख ।

प्रन्धिभङ्गजन्य औपश

मिकसम्यक्त्व ६५ १३

गतिप्रस ८१ १०

घ ।

[घन] १२१ १

[घनीकृत लोक] ११८ ४

ङ्ग ।

साद्यस्थिकयधारुपात ६१ १५

ज ।

जघन्य अनन्तानन्त २२० १८

जघन्य असख्याता-

२२०

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

जघन्य परीतानन्त २२० ७

जघन्य परीतासख्यात २१८ ११

जघन्य युक्तानन्त २२० १३

जघन्य युक्तासख्यात २१८ १५

जघन्य सख्यात २०९ २४

[जातभव्य] ६५ २

[जीवसमाप्त] १३ ५

[जीवसमाप्त] १३ १५

ज्ञानसङ्गा ३८ ५

ण ।

तिर्यक्प्रचय १५८ २३

[तिर्यकसामान्य] ३ १६

द ।

दीर्घकालोपदेशिकी

सङ्गा ३८ २२

दृष्टिवाद्योपदेशिकीसङ्गा ३८ २६

द्रव्यप्राण ३ ४

द्रव्यमन १३५ १३

द्रव्यलेश्या ३३ ४

३ १९

गुणस्थानोंमें बन्ध, वदय आदिका विचार पञ्चसमहमें है।  
पृ०-१८७, नोट।

गुणस्थानोंमें अस्प बहुत्वका विचार पञ्चसमहमें है। पृ०-  
१९०, नाट।

कर्मके भाव पञ्चसमहमें हैं। पृ०-२०४, नोट।

उत्तर प्रकृतिओंके मूल बन्ध हेतुका विचार कर्मग्रन्थ और  
पञ्चसमहमें भिन्न भिन्न शैलीका है। पृ०-२२७।

एक जीवाश्रित भावोंकी सख्या मूल कर्मग्रन्थ तथा मूल पञ्च-  
समहमें भिन्न नहीं है, किन्तु दोनोंकी व्याख्याओंमें देखने योग्य  
योदासा विचार भेद है। पृ०-२२९।

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

न ।

[निगोदशरीर] २२३ २८

निरतिचार छेदोपस्था

पर्नायसयम ५८ २१

[निजग] ६ ७

[निर्विभाग अश] २२२ २२

निर्विशमानकपरिहार

विशुद्धसयम ६० २०

निर्बिष्टकायिकपरिहार

विशुद्धसयम ६० २१

निर्घृत्ति अपर्याप्त ४१ २

निर्घृत्तीन्द्रिय ३६ २४

निश्चयमरण ८९ १७

नोकपाय १७८ १७

प ।

पर्याप्ति ४१ २१

[पल्पोपम] २८ ६

[पूर्व] २९ ४

पूर्वप्रतिपन्न १९३ १३

[प्रतर] ११८ ४

प्रतिपद्यमान १९३ १२

[प्रत्येकशरीर] २१ १

प्रथमोपशमसम्यक्त्व

शब्द । पृष्ठ । पङ्क्ति ।

प्रवेशोदय १३७ १६

ष ।

[षधनकरा] ६ ४

बन्धस्थान २७ २४

झ ।

भवप्रत्यय ११४ १७

भवस्य अगोर्गा १९४ २४

भाव १९६ ११

भावना ३ ५

भावच्छेदा ३३ १८

[भावे] ५ १

[भावेन्दु] १३७ १७

भावेन्द्रिय ३६ २१

ञ ।

मप्यन धनन्दानन्द २२० २०

मप्यन धसुख्यादा

सुख्यादा २२० १७

मप्यन परिचानन्द २२० २७

मप्यन परिचानन्द २१६ ४

मप्यन सुकानन्द २२० २०

मप्यन सुकानन्द २२० ५

मप्यन सुकानन्द २१७ २०

मप्यन सुकानन्द

ञ

## परिशिष्ट न० ३ ।

### चौथा कर्मग्रन्थ तथा पञ्चसग्रह ।

जीवस्थानोंमें योगका विचार पञ्चसग्रहमें भी है । पृ०—  
१५, नोट ।

अपर्याप्त जीवस्थानके योगोंके बन्धका मत भेद जो इस कर्म  
ग्रन्थमें है, वह पञ्चसग्रहकी टीकामें विस्तारपूर्वक है । पृ०—१६ ।

जीवस्थानोंमें उपयोगका विचार पञ्चसग्रहमें भी है । पृ०—  
२०, नोट ।

कर्मग्रन्थकारने विभङ्गज्ञानमें दो जीवस्थानोंका और पञ्चसग्रह-  
कारने एक जीवस्थानका उल्लेख किया है । पृ०—६८, नोट ।

अपर्याप्त अवस्थाम औपशमिकसम्यक्त्व पाया जा सकता है, यह  
बात पञ्चसग्रहमें भी है । पृ०—७० नोट ।

पुरुषासे स्त्रियोंकी सख्या अधिक होनेका वर्णन पञ्चसग्रहमें है ।  
पृ०—१२५, नोट ।

पञ्चसग्रहमें भी गुणस्थानोंको लेकर योगोंका विचार है ।  
पृ०—१६३, नोट ।

गुणस्थानमें उपयोगका वर्णन पञ्चसग्रहमें है । पृ -१६७, नोट ।

ग्रन्थ हेतुओंके उत्तर भेद तथा गुणस्थानोंमें मूल बन्ध हेतु  
ओंका विचार पञ्चसग्रहमें है । पृ०—१७५, नोट ।

सामान्य तथा विशेष बन्ध हेतुओंका वर्णन पञ्चसग्रहमें विस्तृत

१८१, नोट ।

शब्द ।	पृष्ठ । पक्ति ।
[रञ्जु]	११८ ४
उन्धि अपर्याप्त	४० ५
उन्धित्रस	८१ १०
उन्धिपयाप्त	४० १०
उन्धिप्रत्ययशरीर	९२ १५
उन्धीन्द्रिय	३७ १४
[लवसत्तम देव]	७१ ११
लिङ्गशरीर	९४ ४

घ ।

बक्रगति	१४४ १५
[उग]	११७ १
[वामूल]	११८ ६
विमह	१४३ १०
विपाकादय	१३७ १५
विशुद्ध्यमानसूक्ष्म	६१ ९
सपरायसयम	४ ९
[विशेष]	१८१ १५
[विशेष बध हेतु]	१२२ ६
[विशेषाधिक]	४ ९
[विस्तार]	६२ ३
[विस्वा]	७ ५
बैभाविक	१९ १५

शब्द ।	पृष्ठ । पक्ति ।
शतपृथक्त्व	१९३ १६
शरीर	१३५ २१
सत्कल्पना	२१० १५
सत्तास्थान	२७ २५
[समय]	२९ १
सरागमयम	८४ २४
[सागरोपम]	०८ ६

सातिचारछदोपस्थाप	५८ १८
नीयसयम	४ १६
[सामा य]	१८१ १३
[सामा य ब घ हेतु]	९४ ४
सूक्ष्मशरार	११८ ५
[सूत्रभ्राण]	६ ८
[सक्रम]	६ ५
[सक्रमणकरण]	६ ५

साल्लेद्यमानकसूक्ष्म	६१ ५
सपरायसयम	४ १५
[सजप]	३८ ३
सज्ञा	५८ २
[स्थितकल्पा]	" ३
[स्थितास्थितकल्पी]	" ३

ह ।

हेतुवादीपदेशिकीसज्ञा	३८ ११
----------------------	-------

घोलने तथा सुननेकी शक्ति न होनेपर भी एकेन्द्रियमें श्रुत उपयोग स्वीकार किया जाता है, सो किस तरह ? इसपर विचार ।  
पृ०—४५ ।

पुरुष व्याक्तिमें स्त्री योग्य और स्त्री व्यक्तिमें पुरुष योग्य भाव पाये जाते हैं और कभी ता किसी एक ही व्यक्तिमें स्त्री पुरुष दोनोंके याद्वाभ्यन्तर लक्षण होत हैं । इसके विश्वस्त मधूत । पृ० ५३, नोट ।  
श्रावकोंकी दया जो सदा विश्वाकर्हा जाती है, उसका खुलासा ।  
पृ०—६१, नोट ।

मन पर्याय उपयोगको कोई आचार्य दर्शनरूप भी मानते हैं, इसका प्रमाण । पृ०—६२, नोट ।

जातिभ्रम्य किसको कहते हैं ? इसका खुलासा । पृ०—६५, नोट ।  
औपशमिकसम्यक्त्व दो जीवस्थान माननेवाले और एक जीवस्थान माननेवाले आचार्य अपने अपने पक्षकी पुष्टिकेलिये अपर्याप्त अवस्थामे औपशमिकसम्यक्त्व पाये जाने और न पाये जानेके विषयम क्या क्या युक्त देने हैं ? इसका सविस्तर वर्णन ।  
पृ०—७०, नोट ।

समूच्छिन्म मनुष्योंकी उत्पत्तिके क्षेत्र और स्थान तथा उनकी आयु और योग्यता जाननेकेलिये आगमिक प्रमाण । पृ०—७२ नोट ।

स्वर्गसे च्युत होकर वेध किन स्थानोंमें पैदा होते हैं ? इसका कथन । पृ०—७३, नोट ।

बधुर्दर्शनमें कोई तीन ही जीवस्थान मानते हैं और कोई छह । यह मत भेद इन्द्रियपर्याप्तिकी भिन्न भिन्न व्याख्याओंपर निर्भर है । इसका सप्रमाण कथन । पृ०—७६, नोट ।

कर्ममन्थमें स्त्री और पुरुष, ये दो वेद



गाथादु ।	माकृत ।	अ ।	हिन्दी ।
७२—अओपर	सस्कृत ।	अव पर	इससे अगादी ।
४८—अतदुग	अन्तार्किक	अन्तादिम	{ 'सयोगकेवली' और 'अयोग केवली' नामके अन्तके दो-तेर हवाँ और चौदहवाँ गुणस्थान ।
४७—अताइम	अन्तमि	अन्तम	अखीरका और शुरुका ।
२३, २८—अतिम	आख्या	आख्या	अखीरका ।
७३—अक्खा	अग्नि	अग्नि	नाम ।
३६, ३८—अग्निग	अचक्षुप्	अचक्षुप्	अग्निकायिक' नामक जीव विशेष
१०, २५, ३२, ४२	अपट्टास	अपट्टास	{ 'अचक्षुर्दर्शन' नामक दर्शन- विशेष [६२-६]'
५८—अछहास			छह हास्यादिको छोड़कर ।

- [ ] इस कोषिके मन्त्रके मङ्ग, एव और पङ्क्तिकोके मङ्ग है इस अगह उन शब्दोंका विशेष अर्थ उल्लिखित है ।

## परिशिष्ट नं० ४ ।

ध्यान देने योग्य कुछ विशेष विशेष स्थल ।

जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थानका पारस्परिक अन्तर ।

पृ०-५ ।

परमपत्नी आयु धौघनेका समय विभाग अधिकारी भदके अनु-  
सार किस किस प्रकारका है ? इसका सुलासा । पृ०-२५, नोट ।

उदारणा किस प्रकारके कर्मकी होती है और वह क्य तक हो  
सकती है ? इस प्रियका नियम । पृ०-२६, नोट ।

द्रव्य लक्ष्याक स्वरूपके सम्बन्धमें कितने पक्ष हैं ? उन सबका  
आशय क्या है ? भावलेक्ष्या क्या वस्तु है और महाभारतमें, योग-  
दर्शनमें तथा गोशालकके मतमें लेक्ष्याके स्थानमें कैसी कल्पना है ?  
इत्यादिका विचार । पृ०-३३ ।

शास्त्रमें एकेन्द्रिय, द्वौन्द्रिय आदि जो इन्द्रिय सापेक्ष प्राणियोंका  
विभाग है वह किस अपेक्षासे ? तथा इन्द्रियके कितने भेद प्रभेद  
हैं और उनका क्या स्वरूप है ? इत्यादिका विचार । पृ०-३६ ।

सज्ञाका तथा उसके भेद प्रभेदोंका स्वरूप और साक्षित्व तथा  
असाक्षित्वके व्यवहारका नियामक क्या है ? इत्यादिपर विचार ।  
पृ०-३८ ।

अपर्याप्त तथा पर्याप्त और उसके भेद आदिका स्वरूप तथा  
पर्याप्तिका स्वरूप । पृ०-४० ।

केवलज्ञान तथा केवलदर्शनके क्रमभावित्व, सहभावित्व और  
भेद, इन तीन पक्षोंकी मुख्य-मुख्य इत्थिलें तथा उक्त तीन पक्ष  
नयकी अपेक्षासे हैं ? इत्यादिका वर्णन । पृ०-४३ ।

बौधा कर्मप्रन्थ ।

शब्द ।

[रञ्जु]

छन्धि अपर्याप्त

छन्धिप्रस

छन्धिपयाप्त

छन्धिप्रत्ययशरीर

छन्धीन्द्रिय

[लवसत्तम देव]

छिन्नशरीर

अप्रमत्त' नामक सातवो गुणध्याना ।  
'अप्रमत्त' नामक सातवो गुणस्थान ।  
तक ।  
'अपूर्वकरण' नामक आठवो गुण स्थान ।  
'अपूर्वकरण' नामक आठवो गुण स्थान ।

घ ।

बक्रगति

[वग]

[वामूल]

विपह

विपाकोदय

विशुद्ध्यमानसूक्ष्म

सपरायसयम

[विशेष]

[विशेष बन्ध हेतु]

[विशेषाधिक]

[विस्तार]

[विस्वा]

वैभाविक

व्यावहारिकमरण

१  
१  
१  
१  
६१  
१८१  
१२२  
४  
६२  
७  
१२

अप्रमत्त

अपर्याप्त

अप्रमत्त

अप्रमत्त

अप्रमत्तान्त

अपूर्व

अपूर्वपञ्चक

अप्रमत्तव

११२,७०—अपूर्व

११—अपूर्वपणना

सम्यक्त्व सहेतुक है या निहेतुक ? क्षायोपशमिक आदि भेदोंका आधार, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर, क्षायिकसम्यक्त्वकी उन दोनोंसे विशेषता, कुछ शङ्का समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदयका स्वरूप, क्षयोपशम तथा उपशम शब्दोंकी व्याख्या, एव अन्य प्रासाङ्गिक विचार । पृ०-१३६ ।

अपर्याप्त अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहिले चक्षुर्दर्शन नहीं माने जान और चक्षुर्दर्शन मान जानेपर प्रमाणपूर्वक विचार । पृ०-१४१ ।

वक्रगतिके सम्बन्धमें तीन बातोंपर सविस्तर विचार -(१) वक्रगति के विग्रहोंकी सख्या, (२) वक्रगतिका काल मान और (३) वक्रगतिमें अनाहारकत्वका काल मान । पृ०-१४३ ।

अवधिदर्शनमें गुणस्थानोंकी सख्याक विषयमें पक्ष भेद तथा प्रत्येक पक्षका तात्पर्य अर्थात् त्रिभङ्गज्ञानसे अवधिदर्शनका भेदाभेद । पृ० १४६ ।

श्वेताम्बर दिग्गन्धर संप्रदायमें फवलाहार विषयक मत भेदका समन्वय । पृ०-१४८ ।

केवलज्ञान प्राप्त कर सकनेवाली स्त्रीजातिकेलिये श्रुतज्ञान-विशेषका अर्थात् दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध करना, यह एक प्रकारसे विरोध है । इस सम्बन्धमें विचार तथा नय दृष्टिसे विरोधका परिहार । पृ०-१४९ ।

चक्षुर्दर्शनके योगोंमेंसे औदारिकमिश्रयोगका वर्जन किया है, सो किस तरह सम्भव है ? इस विषयपर विचार । पृ०-१५४ ।

केवलिसमुद्धातसम्बन्धी अनेक विषयोंका वर्णन उपनिषदोंमें तथा गीतामें जो आत्माकी व्यापकताका वर्णन है, उसका जैन दृष्टिसे मिलान और केवलिसमुद्धात जैसी क्रियाका वर्णन अन्य किस दर्शनमें है ? इसकी सूचना । पृ०-१५५ ।

गा० ।	प्रा० ।	सं० ।	हि० ।
१—अप्यहू	अल्पबहु	कम और ज्यादा [७-४] ।	
५९—अवधम	अवन्धक	बन्धन करनेवाला जीव विशेष ।	
७८, ८३—अवभास	अव्यास	‘अभ्यास’-नामक गणितका संकेत विशेष [२१८ १८] ।	
१९, २६, ३२—अभव(त्व)	अभव्य	सिद्ध न होनेवाला जीव विशेष ।	‘अभव्य’ और ‘भव्य’ नामक जीव विशेष ।
४३—अभववियर	अभव्येतर		
८३—अभवत्रजिय	अभव्यजीव	‘अभव्य’ नामक जीव विशेष ।	‘अभव्यत्व’ नामक मार्गणा विशेष ।
६६—अभववत्त	अभव्यत्व		
५१—अभिगहिय	आभिप्रहिक	‘आभिप्रहिक’ नामक मिथ्यात्व विशेष [१७६-४] ।	{ आभिनिवेशिक’ नामक मिथ्या त्व-विशेष [१७६-७] ।
५१—अभिनिवेशिय	आभिनिवेशिक		
८५—अलोगनह	अलोकनभम्	अलोककाश ।	
५८—अलोभ	अलोभ	लोभको छोड़कर ।	
५०—अलेश	अलेश्य	छेड़या रहित ।	

माने हैं और सिद्धान्तमें एक नपुंसक, सो किस अपेक्षासे ? इसका प्रमाण । पृ०-७८, नोट ।

अज्ञान त्रिकमे दा गुणस्थान माननेवालोंका तथा तीन गुणस्थान माननेवालाका आशय क्या है ? इसका खुलासा । पृ०-८२ ।

कृष्ण आदि तीन अशुभ लक्ष्याओंमें छह गुणस्थान इस कर्मग्रन्थमें माने हुए हैं और पञ्चसमूह आदि ग्रन्थोंमें वक्त तीन लक्ष्याओंमें चार गुणस्थान माने हैं । सो किस अपेक्षासे ? इसका प्रमाण पूर्वक खुलासा । पृ०-८८ ।

जब मरणके समय ग्यारह गुणस्थान पाये जानेका कथन है, तब विप्रहृतिमें तीन ही गुणस्थान कैसे माने गये ? इसका खुलासा । पृ०-८९ ।

श्रीवेदमें तेरह योगोंका तथा वेद सामान्यमें बारह उपयोगोंका और नौ गुणस्थानोंका जो कथन है, सो द्रव्य और भावमेंसे किस किस प्रकारके वेदको लेनेसे घट सकता है ? इसका खुलासा । पृ०-९७, नोट ।

उपशमसम्यक्त्वके योगोंमें औदारिकमिश्रयोगका परिगणन है, जो किस तरह सम्भव है ? इसका खुलासा । पृ०-९८ ।

मार्गिणाओंमें जा अल्पबहुत्वका विचार कर्मग्रन्थमें है, वह आगम आदि किन प्राचीन ग्रन्थोंमें है ? इसकी सूचना । पृ०-११५, नोट ।

कालकी अपेक्षा क्षेत्रकी सूक्ष्मताका सप्रमाण कथन । पृ०-१७७ नोट ।

शुद्ध, पद्म और तेजो लक्ष्यावालोंके सख्यातगुण अल्प बहुत्वपर शङ्का समाधान तथा उस विषयमें टिप्पणकारका मन्तव्य । नोट

तीन योगोंका स्वरूप तथा उनके बाह्य-आभ्यन्तर

श्री० ।	श्री० ।	श्री० ।	श्री० ।
	अवधि	अवधि	{ 'अवधिसार' नामक ज्ञान विशेष । [५६-८१]
	अवि	अवि	भी ।
	अविगठिव्याहार	अवैकियाहार	{ 'वैकिय' और 'आद्या' नामक काययोग विशेषको छोड़कर ।
	अविरइ	अविरति	पापों से विरक्त न होना ।
	अविरय	अविरय	चौथे गुणस्थानवाला जीव ।
	असबमोस	असत्यमूय	{ 'असत्यमूय' नामक मत्त तथा वचनयोग विशेष [९१-३] ।
	असिदत्त	असिदत्त	{ असिदत्त' नामक औद्ययिक भाव विशेष [१९९-१७] ।
	अस(स्स)सि	असशां	मनरहित जीव [१०-१९] ।
	असख	असफय	'असख्य' नामक गणना विशेष ।
	असकासख	असखयासख्य	{ 'असखयासख्य' नामक गणना- विशेष ।

सम्यक्त्व सहेतुक है या निर्हेतुक ? क्षायोपशमिक आदि भेदोंका आधार, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका आपसमें अन्तर, क्षायिकसम्यक्त्वकी उन दोनोंसे विशेषता, कुछ शक्य समाधान, विपाकोदय और प्रदेशोदयका स्वरूप, क्षयोपशम तथा उपशम शब्दकी व्याख्या, एवं अन्य प्रासङ्गिक विचार । पृ०-१३६ ।

अपर्याप्त अवस्थामें इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होनेके पहिले चक्षुर्दर्शन नहीं माने जान और चक्षुर्दर्शन मान जानेपर प्रमाणपूर्वक विचार । पृ०-१४१ ।

वक्रगतिके सन्न्यधमें तीन बातोंपर सविस्तर विचार - (१) वक्रगति के विप्रहोंकी सख्या, (२) वक्रगतिका काल मान और (३) वक्रगतिमें अनाहारकत्वका काल मान । पृ०-१४३ ।

अवधिदर्शनमें गुणस्थानोंकी सख्याके विषयमें पक्ष भेद तथा प्रत्येक पक्षका तात्पर्य अर्थात् विभङ्गज्ञानसे अवधिदर्शनका भेदाभेद । पृ० १४६।

श्वेताम्बर दिग्म्बर सप्रदायमें कवलाहार विषयक मत भेदका समन्वय । पृ०-१४८ ।

केवलज्ञान प्राप्त कर सकनेवाली स्त्रीजातिकेलिये श्रुतज्ञान-विशेषका अर्थात् दृष्टिवादके अध्ययनका निषेध करना, यह एक प्रकारसे विरोध है । इस सम्बन्धमें विचार तथा नय दृष्टिसे विरोधका परिहार । पृ०-१४९ ।

चक्षुर्दर्शनके योगोंमेंसे औदारिकमिश्रयोगका वर्जन किया है, सो किस तरह सम्भव है ? इस विषयपर विचार । पृ०-१५४ ।

केवलिसमुद्घातसम्बन्धी अनेक विषयोंका वर्णन उपनिषदोंमें तथा गीतामें जो आत्माकी व्यापकताका वर्णन है, — दृष्टिसे  
मिलान और उ दर्शन  
नमें है ? इसकी जैसी क्रियाका



गा० ३७, ३९, ४२, ४४—असख्यगुण  
 ६६—असजम [२०० ?]  
 ६८—असभविन् ५५—अह  
 १२, २०, २९, ३३, —अहखाय ३७, ४१, [६१-१२,]  
 ४९—अहिगय ३८, २, ४० ६२—अहिय

१, २१ २, ६१, } —आइ (ई)  
 ६९, ७० }  
 ८१—आइम ४८—आइमदुग  
 ६१—आउ ७८—आवलिखा

स० असरयगुण  
 असयम  
 असभविन्  
 अय  
 यथाख्यात  
 अधिकृत  
 अधिक

**आ**

आदि  
 आदिम  
 आदिमदिक  
 आयुप्  
 आवलिका

हि० असख्यात गुना ।  
 'असयम' नामक औदयिक भाव विशेष ।  
 न हो सकनेवाली बात ।  
 प्रारम्भमे ।  
 'यथाख्यात'—नामक चरित्र विशेष ।  
 अधिकार मे आया हुआ ।  
 उपादा ।

प्रथम ।

प्राथमिक ।

पहिले दो—पठिला और दूसरा गुणस्थान ।

'आयुप्'—नामक कर्म-विशेष ।

'आवलिका'—नामक कालका भाग विशेष ।

जैनदर्शनमें तथा जैनतर दर्शनमें कालका स्वरूप किस किस प्रकारका माना है ? तथा उसका वास्तविक स्वरूप कैसा मानना चाहिये ? इसका प्रमाणपूर्वक विचार । पृ०-१५७ ।

छह लेश्याका सम्बन्ध चार गुणस्थान तक मानना चाहिये या छह गुणस्थान तक ? इस सम्बन्धम जा पक्ष हैं, उनका आशय तथा शुभ भावलेश्याके अशुभ द्रव्यलेश्या और अशुभ द्रव्यलेश्याके समय शुभ भावलेश्या, इस प्रकार लेश्याओंकी विषमता किन जीवोंमें होती है ? इत्यादि विचार । पृ०-१७२, नोट ।

कमबन्धक हेतुआर्की भिन्नभिन्न सख्या तथा उसके सम्बन्धमें कुछ विशय ऊहापोह । पृ०-१७४, नोट ।

आभिप्रहिक, अनाभिप्रहिक और आभिनिवेशिक मिध्यात्वका शास्त्राय खुलासा । पृ०-१७६, नोट ।

तार्थकरनामकर्म और आहारक द्विक, इन तीन प्रकृतियोंके बन्धको कहीं कपाय हेतुक कहा है और कहीं तार्थकरनामकर्मके बन्धको सम्यक्त्व हेतुक तथा आहारक द्विकके बन्धको समय हेतुक, सो किम अपेक्षासे ? इसका खुलासा । पृ० १८१, नोट ।

छह भाव और उनक भदोंका वर्णन अन्यत्र कहीं कहीं मिलता है ? इसकी सूचना । पृ०-१९६, नोट ।

मति आदि अज्ञानोंको कहीं क्षायोपशमिक और कहीं औदयिक कहा है, सो किस अपेक्षासे ? इनका खुलासा । पृ० १९९, नोट ।

सल्लपाका विचार अन्य कहीं कहीं और किम किस प्रकार है ? इसका निर्देश । पृ०-२०८, नोट ।

२ तथा भिन्नभिन्न समयमें एक या अनेक जीवाभिव्यक्ति भाव और उत्तर भेद । पृ०-२२१

गुणस्थानोंमें

गा०	प्र०	सं०	हि०
१, १६, २२, २४, } २५, ३१, ४९, ५३ }	६०—आसुहुम	आसुक्ष्म	'सूक्ष्मसंपण्य' नामक दसवें गुणस्थान तक ।
२६, ४६, ४७,   ५५, ५६,	आहार (ग) — [५०, ६, ९२, २५, ] आहार (ग) — डु (ग)	आहार (-क) आहार (क) द्वि (क)	'आहारक' नामक मार्गणा, शरीर तथा कर्म विशेष ।
४७—आहारमसि	आहारकमिस		'आहारक' और 'आहारक मिश्र' नामक योग विशेष ।
१४—आहारेयर [६८ १३]	आहारेतर		'आहारक' और 'अनाहारक' नामक दो मार्गणा विशेष ।
१—इन्द्रिय [४८ १]	इन्द्रिय		'इन्द्रिय' नामक मार्गणा विशेष ।
८०—इष्वासि	सकृत्		एक बार ।
२, २, ५७, —इका(गा)र	एकादश		ग्यारह ।
७४—इकिक	एकैक		एक एक ।
१०, १९, २७, } ३२, ५०, }	—इग [५२ २]	एक	एक तथा 'एकेन्द्रिय' नामक जीवजाति विशेष ।

गा०	म०	सं०	हि०
५१—इगगुण	एकगुण	पहिला गुणस्थान ।	
५२—इगपञ्च	एकप्रत्ययक	एक कारणसे होनेवाला बन्ध- विशेष ।	
६४—इगबीस	एकविंशति	इक्कीस ।	
१८—इत्तो	इन	यहाँसे ।	
११, २६, ३९—इत्थि [५१ ११]	स्त्री	'स्त्रीवेद' नामक वेद विशेष ।	
७२—	इदम्	यह	
८१, ८४—	इमान्	इनको	
७८—	अस्य	इसका	
४—	एषु	इनमें	
२४, ५२, ६८, }—इय	इति	समाप्त और इस प्रकार ।	
७५, ८०, ८६ }—इय	इतर	उलटा प्रतिपक्षी ।	
४४, ४७, ६३, }—इयर	इह	यहाँ ।	
२, ४९—इह	उ		
२९, ३९, ४६, ५२, }—उ	उ		तो
५४, ६०, }			

मा०	प्रा०	सं०	हि०
७४, ८४—नह	तथा	तथा	वृसी प्रकार ।
७४—सा	तावत्	तावत्	तवतक ।
२, ७, २०, २१, ३०, ३२, ३३, ३८, ४८, ५२, ५७, ७०, ७७, ७९, ३४, ३५, ३६ ३८, ७०	त्रि ( क )	त्रि ( क )	तीन ।
३२, ३३ ४८—तिअनाण	अज्ञान	अज्ञान	'कुमति', 'कुश्रुत' और 'विमङ्ग'- नामक अज्ञान ।
८४—तिक्खुत्तो	त्रिकृत्व	त्रिकृत्व	तीन बार ।
५५—तिचत्त	त्रिचत्वारिंशत्	त्रिचत्वारिंशत्	तेतालीस ।
५०, ५३—तिपञ्चअ	त्रिप्रत्ययक	त्रिप्रत्ययक	तीन कारणोंसे होनेवाला वन्ध विशेष ।
१०, १७, ६४—तिय( गइ ) [ ५० ६ ]	त्रिक	त्रिक	तीन, तीन शस्त्रियोंवाला जीव- विशेष ।
५४—तियद्विअचत्त	त्रिकाधिकचत्वा रिंशत्	त्रिकाधिकचत्वा रिंशत्	सैंतालीस ।

गा०	मा०	स०	हि०
६१—उत्तरदि	वद्वीरयति	उदित होते हैं ।	
७१—उत्तरस	उत्कृष्ट	सबसे बड़ा ।	
५२—उत्तर	उत्तर	अवान्तर विशेष तथा 'औद्यतिक'- नामक भाव विशेष ।	
७,८,१०, २, ६, ७, २, ६९, } ६९, १, १९७, ६, २०५, ३]	उद्यय (इज)	'उद्यय' नामक कर्मोंकी अवस्था विशेष ।	
७, ८, —उद्वीरणा [६५]	उद्वीरणा	'उद्वीरणा' नामक कर्मोंकी अव स्था विशेष ।	
७, १, ७, ७—उद्वरिज	उद्वरित	निकाल लेना ।	
४, ५, २, ४, २, ९, } ४९, ४७, } —उदाल [९३-८]	औदारिक	'औदारिक' नामक काय याग विशेष ।	
२६, २७, २८—उदालुग	औदारिक द्विक	'औदारिक' और 'औदारिकमिश्र'- नामक काययोग विशेष ।	
४, २, ८, २९, } ४९, ५६, } —उदाल्मसि (मिसस)	औदारिकमिश्र (योग)	'औदारिकमिश्रयोग'-नामक काय योग विशेष ।	
१, ५, ३०, ३५, ६५, } —उदाल्मसि [५८]	उपयोग	'उपयोग'-नामक भार्गवा विशेष	

१ क्रियापर शब्द विभक्ति-महित रक्त्वे गये हैं ।

मा० ११, २६, ३०, ३७ ८१ ८५—तिवगिग ८३—तिवगिगय ७१—तिविह ७१—तिहा ७२, ८० ८६—तु ६६, ७६—तुरिय ४१—तुक ५०—तेउतिग	मा० तिरि ( य ) ( गइ ) [ ११ १७ ]	स० तिर्यञ्च ( गति )	ति० 'तिर्यगति' नामक गति विशेष ।
त्रिवर्गितुम् त्रिवर्गित त्रिविष त्रिधा तु तुरीय तुल्य तजस्त्रिक	तीन बार वर्ग करनेके लिये । तीन बार वर्ग किया हुआ । तीन प्रकार । तीन प्रकार । तो । चौथा । बराबर ।		
तेज त्रयोदशन् इति थ स्थावर खी			'तेज', 'पद्म' और 'शुक्ल' ये तान लक्ष्याएँ । 'तेज' नामक लेश्या विशेष । तेरह । समाप्त तथा इस प्रकार ।
१३, १५—तेऊ [ ६४ १२ ] २६, ३५ २, ७, २२—तेर ( स ) ११, ५०—सि			'स्थावर' नामक जीवोंकी जाति विशेष 'खी वद' नामक मांगणा विशेष ।
१५ २७, ३२—थावर १८—थी			

गा०	प्रा०	सं०	हि०
५९,७०—उवरिम	उपरिमा	उपरि का ।	
१३,२२,२६,३४, } ४३,६४,६७, } ६८—उवसमसेढी	उपशम	उपशम नामक सम्यक्त्व तथा भाव विशेष ।	
७०—उवसामग	उपशम श्रेणि	'उपशम श्रेणि' नामक श्रेणि विशेष ।	
५८,६०,६१, } ६२,७०, } १२,२७,३१,४६, } ५५,७७,७९,८१ } ५९,७०,७१,७५—एग	उपशामक	नौवौं और दसवौं गुणस्थान ।	
८१—एगजियदेस	उपशान्त	'उपशान्त मोह' नामक ग्यारहवौं गुणस्थान ।	
७७—एगरासी	ऊ	कम ।	
१५,३६,३८,४९, } ६९,८५—एव	ऊन	एक ।	
७१,७६—एव	ए	एक जीवके प्रवेश ।	
	एक	एक ससुदाय ।	
	एकजीवदेश	एक इन्द्रियबाला जीव विशेष ।	
	एकराशि	एक ही ।	
	एकेन्द्रिय	इस प्रकार ।	
	एव		
	एवम्-		



गा०	शा०	सं०	शि०
३७, ३८, ३९ २, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ४६	—थोव	स्तोक	थोका ।
१९, ३६—दग	द	दक	'अलकाय' नामक विवोध ।
६, १६, २०, ३१, ५४, ५८, ८१	—दस	दश	दस ।
६५—दाणाइलधि ७४, ७५—वीथुदही	दानाविलधि द्वीपोदधि	दानाविलधि द्वीपोदधि	दान आदि पाँच लब्धियों । द्वीप और समुद्र ।
६२, ८, १५, २, १८ १९, २, २०, २१, २३, २, ३५, २, ३७, ३८, ४२, ४४, ४७, ६२, २, ६४, ८२	—डु(ग)	द्वि	दो ।
१६, ३२—डुअनाण	अज्ञान	अज्ञान	'मत्तज्ञान' और 'श्रुताज्ञान' नामक दो अज्ञान ।

गा०	मा०	स०	दि०
	७३—ओगाढ	ओ	गहराई ।
	१४, २१, २५—ओहिदुग	अवगाढ अवधिद्विक	'अवधिज्ञान' और 'अवधिदर्शन' नामक कौ चपमार्गणा विशेष ।
	३४—ओहिदस	अवधिदर्शन	'अवधिदर्शन' नामक दर्शन-विशेष ।
	१२ ४०, ४२—ओही [६३ १]	अवधि	'अवधिदर्शन' तथा 'अवधिज्ञान' ।
	१, ३५, ७९—कम	क	वारी वारी ।
	१, २४ २, २७, २८ २, २९, ४७, ५५, ५६ २	कम	'कार्मणशरीर'-नामक योग तथा शरीर विशेष ।
	—कम्म (-ण)	कार्मण	
	९, ११, १६, २५, १, ५०, २०, ५७, ५२, ६६	कपाय	'कपाय' नामक मार्गणा विशेष तथा कपाय ।
	१३—काऊ [६४ ६]	कापोत	'कापोत' नामक लेश्या विशेष ।
	९, ३५, ३९—काय [४९ ३]	काय	'काय' नामक मार्गणा तथा योग विशेष ।

गा०	मा०	सं०	हि०
५०	५०—दुपशभ	द्विप्रत्ययक	दा कारणोत् होनवाला वन्ध
	३०—दुकवल	द्विकवल	विशेष ।
	५४, ५७—दु( ग)वीस	द्वाविंशति	'कवलज्ञान' और 'कवलदर्शन'
	७२—दुखिय	द्वावध	नामक वपयोग भिन्न ।
	५६—दुभिरस	द्विभिन्न	माईस ।
	४५—दुविह	द्विविध	दो ही ।
	३२, ४८—दुवस( ण)	द्विवर्श( न)	'औदारिकभिन्न' और 'वैक्रियभिन्न'
	३७—द्वेष	द्वेष	नामक यत्न विशेष ।
	८६—द्वेविदसूरि	द्वेन्द्रसूरि	दो तरहसे ।
	१२, १७, २२, २९, } ३३, ४७, ४६, ४८, } ५६, ६२, }	द्वेश	'चक्षुर्वेशन' और 'अचक्षुर्वेशन'
	[६१-२२]		नामक दर्शन विशेष ।
			देवगति ।
			देवेन्द्रसूरि (इस प्रत्ययके कर्ता) ।
			'दशविरति' नामक पौषवो गुण
			स्थान ।

गा०	प्रा०	सं०	हि०
८५—काल	काल		'काल' नामक द्रव्य विशेष ।
१३—किण्हा [६३ १९]	कृष्णा		'कृष्णा' नामक लेश्या विशेष ।
१—किम्	किम्		कुछ ।
७६—किर	किल		पादपूर्त्यर्थ ।
३९—कीष	छीष		'नपुसकवेद' नामक उपमार्गणा- विशेष ।
११, ४२—केवल [५६ १६]	केवल		'केवलज्ञान' नामक ज्ञान विशेष तथा 'केवलदर्शन' नामक दर्शन विशेष ।
६५—केवल जुयल	केवल युगल		"
६, १७, २१, २८, ११, ३३, ३७, ४८, ८५	केवलद्विक		"
१२—केवलदसण [६३ ३]	केवलदर्शन		'केवलदर्शन' नामक दर्शन विशेष ।
४१, ६७—केवलिन	केवलिन		केवलज्ञानी भगवान् ।
११—कोह [५५ २]	क्रोध		'क्रोध' नामक कषाय विशेष ।
४०—कोदिन्	क्रोधिन्		क्रोधवाला जीव ।

गा०	मा०	सं०	हि०
२१, ३५, ४३	४२—नयण	नयण	'चक्षुर्दर्शन' नामक रूपयोग विशेष । दो ।
२० ३०	२, ६२—दो	द्वि	'दर्शन' नामक रूपयोग विशेष ।
३२—दसणदुग	दशान	दशान	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन'- नामक दर्शन विशेष ।
३३ ५८—दस(ण)तिग	दर्शनत्रिक	दर्शनत्रिक	'चक्षुर्दर्शन' और 'अचक्षुर्दर्शन' और 'अवधिदर्शन' नामक दर्शन- विशेष ।
८१—धम्मदेस	धर्मदेश	धर्मदेश	'धर्म'-नामक द्रव्यके प्रवेश ।
४७, ४९-२, ५४, ८४—७	धर्मादि	धर्मादि	'धर्म' नामक अर्जाव द्रव्य विशेष ।
११, १६, २५—नपु (स)	न	न	नहीं ।
[५३ १६]	नपुसक	नपुसक	नपुसक ।
७४-२, ७६, ७७, ७९)	नरथा	नरथा	नमस्कार करके ।

गा०	पा०	सं०	ह्रि०
२२, २३, ४४, ६७, २, ६४, ६८ } १२—खइग [६६ १२] —ख(इ)य [१९६ १६, २०५ २]	७५—खवण ८६—खिप्त ७५—खिप्पइ ७४—खिविय ८२, ८४—खिवसु ५८, ६०, ६२ २, ७०, ७४, ७५, ७६ } —खीण ८१, ८४—खे(क्ले)व ६९—खय	१, ६६—गइ [४७ ११] १९—गइतम	‘शायिक’ नामक सम्यक्त्व विशेष । ‘शायिक’ नामक सम्यक्त्व तथा भाव विराय । डालना । डाला हुआ । डाला जाना है । डालकर । डालो । ‘क्षीणमोह’-नामक पारहर्षो गुण स्थान तथा नष्ट । ‘क्षेप’-नामक सम्पत्ता विशेष । पुत्रों का समूह ।
	खायिक खायिक क्षपण क्षिप्त क्षिप्यते क्षित्वा क्षिप क्षीण क्षेप रक्त्थ ग गति गतियस		‘गति’ नामक मार्गणा विशेष । ‘तज काय’ और ‘वायुकाय’ नामक रथावर विशेष ।

गा०	शा०	सं०	रि०
३१—	नपणेपर	नयनेतर	'बहुदर्शन' और 'अबद्धदर्शन' नामक उपयोग विशेष ।
११, १५, १८, १९, २५, ३१, ३७, ६८	—नर [५३ १५]	नर	'पुरुषवद' और 'मनुष्यगति'- नामक मार्गणा विशेष तथा मनुष्य ।
१०, २५—	नरगइ [५१ १५]	नरगति	'मनुष्यगति' नामक उपमार्गणा विशेष ।
१४, १९, २६—	नरय	नरक	'नरकगति' नामक उपमार्गणा विशेष ।
२०, २१, २९, ३०, ३३, ५२, ५४ २, ६४	—नव	नव	नौ ।
९, ३०, ३४— ९, ४९,	—नाण [४९ १६]	ज्ञान	ज्ञान और सम्यग्ज्ञान ।
३३, ४८—	नाणतिग	ज्ञानत्रिक	'मतिज्ञान', श्रुतज्ञान' और 'अवधि ज्ञान' नामक तीन ज्ञान विशेष ।
८५—	निगोयजीव	निगोवजीव	'निगाद' नामक जीव विशेष ।
७४—	निद्विय	निष्ठित	पूरा हो जाना ।

गा०	मा०	सं०	दि०
३, १८, २३, ३५, ५२—गुण	गुण	गुणस्थान ।	
५४, ५६—गुणचत्	एकानचत्वारिंशत्	उन्तालीस ।	
१, ७०—गुणठा(द्वा)ण( ग ) [ ४ ७ ]	गुणस्थान( क )	गुणस्थान ।	
७९—गुणण	गुणन	गुणा करना ।	
७२, ७९, ८१—गुरु( अ )	गुरु( क )	उत्कृष्ट ।	
	त्		
	च	और, फिर ।	
२३, ६९, ८४, ८५—च			
२५, ७, १०, १५, )			
१८, १९, २० २, )			
२१, २७, ३०, ३४—			
२, ३५ ३, ३८, ५० )	चतुर	चार ।	
५२, ६०, ६७ ३, )			
७० ४, ७७, ७९ २ )			
	चतुर्गति	'मज्ज्यगति', 'देवगति', 'सिधे गति' और 'नरकगति' नामक चार गतियाँ ।	
	६६—चउगद्		



गा०	भा०	सं०	हि०
३३—नियदुग	निजद्विक	अपने दो ।	
७१—नियपयजुय	निजपदयुत	अपने पदसे युक्त ।	
१०, ३०, ३६, ३७—नि(ना)रय(नाइ) [५१ १८]	निरयगति	'नरकगति' नामक गति विशेष ।	
१३—नीला [६४ १]	नीला	'नीला' नामक लेश्या विशेष ।	
७९—पच्छा	पश्चात्	फिर ।	
४३—पच्छाणुपुन्वि	पश्चानुपूर्वी	पीछेके क्रमसे ।	
२, ३, ५-२, ६, ८, १७, २, ४५ } [११-३]	पर्याप्त	'पर्याप्त' नामक जीव विशेष ।	
१७—पल्लियर	पर्याप्तेतर	पर्याप्त' और 'अपर्याप्त'-नामक जीव विशेष ।	
७३—पडिसलागा [२१२ १६]	प्रतिशलाका	'प्रतिशलाका' नामक पश्य विशेष ।	
३, ७, १५, २०, २३-२, २८, ३६, ४२, ७६, ७७, ७९ } -----पढम	प्रथम	पहिला ।	

गा०	प्रा०	स०	टि०
	६९—चउपादन्	चतुर्पातिन्	'ज्ञानावरण', 'दर्शनावरण', 'मोह नीय' और 'अन्तराय'-नामक चार कर्म ।
	८०—चउदयय	चतुयक	चौथा ।
	२—चउदस	चतुर्दश	चौदह ।
	५२, ५३—चउपचअ	चतु प्रत्ययक	चार कारणोंसे होनेवाला बन्ध विशेष ।
	७२—चउपहृषरुवणा	चतुःपल्यप्ररूपणा	चार 'पल्यों' का वर्णन ।
	८, ३६, ६३, ७६—चउर्	चतुर्	चार ।
	६, ३२—चतुरिदि	चतुरिन्द्रिय	चार इन्द्रियोंवाला जीव विशेष ।
	५४, ५७—चउवीस	चतुर्विंशति	चौबीस ।
	६२, १२, १७, } २०, २८, ३४ } — चकसु [६२ ४]	चक्षुर्	'चक्षुर्दर्शन' नामक दर्शन विशेष ।
	६४ ६५—चरण	चारित्र	'चारित्र' ।
	१६, १७, १८, २०, } २१, २२, २७ } — चरम	चरिम	अखीरका ।

१७, १९, ३०, ३१, ३५, ३८, ४५, ५१, ५२, ६१, ६२, ६५ २, ६८, ७०	१६, २३—पठमतिलेखा	सं०	प्रथमत्रिलेख्या	हि०	पहिली तीन (कृष्ण, नील और कापोत) लेख्याएँ ।
६४—पठमभाव	प्रथमभाव	पञ्च	प्रथमभाव	पाँच ।	पहिला (औपशमिक) भाव ।
५३—पणतीस	पञ्चत्रिंशत्	पञ्चपञ्चाशत्	पञ्चपञ्चाशत्	पैंतीस ।	
५४, ५५—पणपन्न	पञ्चद्विंश	पञ्चद्विंश	पञ्चद्विंश	पचपन ।	
१०, १८, १९, २५, ३१—पणिंदे [५२ १०]	प्रत्यकनिगोदक	प्रत्यकनिगोदक	प्रत्यकनिगोदक	पाँच इन्द्रियोंवाला जीव ।	
८२—पत्तेयनिगोयअ	पञ्चदश	पञ्चदश	पञ्चदश	पन्द्रह ।	
५२, ६८—पनर	पञ्चाशत्	पञ्चाशत्	पञ्चाशत्	पचास ।	
५४—पञ्ज	प्रमत्त	प्रमत्त	प्रमत्त	'प्रमत्त' नामक छठा गुणस्थान ।	
४७, ५६—पमत्त	प्रमत्तान्त	प्रमत्तान्त	प्रमत्तान्त	'प्रमत्त' नामक छठे गुणस्थान तक ।	
६१—पमत्तत	प्रमाण	प्रमाण	प्रमाण	प्रमाण ।	
८३—पमाण	पद्या	पद्या	पद्या	'पद्या' नामक क्षेत्रया विशेष ।	
१३, १४—पम्हा [६४ १७]					

गा०	मा०	स०	हि०
६०—	परिमदुग	परिमदिक	अन्तके दो (तेरहवों और चौदहवों गुणस्थान १)
७४—	विय	पव	ही ।
४, ८, २, १७, १८, २३, २७, ३६, ३७, ५९, ६१, ५०, २, ६१	—छ ( क, ग )	छ	छह ।
१०—	छकाय [५१ ९]	षट्काय	पाँच 'स्थावर' और एक 'त्रस', इस तरह छह काय ।
५५—	छचस	पट्चत्वारिंशत्	छयालीस ।
५१—	छजियवह [१७७ १०]	पञ्जीविवध	पाँच 'स्थावर' और एक 'त्रस' इस तरह छह प्रकारके जीवोंका वध ।
७, २५—	छलेस	षड्लेश्या	कृष्ण, नील, कापेत, पीत, पद्म और शुक्ल नामक छह लेश्याएँ ।
५४, ५६—	छवीस	षड्विंशति	छब्बीस ।
५४	छद्विअस	षडधिकषत्वारिंशत्	छयालीस ।

३६, ३७-२, ६८-परिणाम [१९७-३, २०५-३]

७१, ८३-परिणत

७१, ७८-परिसारास्य

[२१८-११]

२१ २९, ४१-परिहार [५९७]

८२-पलिभाग

७२, ७७ २-पल्ल

२७, ३६-पयण

६९-परिणामिगभास

४९, ७१, ७५-रि

८५-पुणस

१८३, ८३, ८५-पुण

१०१-१०२-परिणाम

परिस्तापत

परिस्तारक्षयात

परिहार

परिभाग

पयस्य

पयस

परिणामिगभास

पुण

पुणस

पुणस

१२१-१२२-परिणाम

परिस्तानतः, सामक संख्या निक्षेप ।

'परिस्तारक्षय' सामक संख्या निक्षेप ।

'पारहारमिश्रस' सामक संख्या

निक्षेप ।

निर्वाणानी अंश ।

'पयस्य' सामक सामान्य-निक्षेप ।

'पयस्यकाम' सामक अस्मिन्निक्षेप ।

'परिणामिगभास' सामक सामान्य निक्षेप ।

पुण ।

'पुणस' सामक सामान्य निक्षेप

पुणस ।

गा०	प्रा०	स०	हि०
६५, ७६ २—तद्दय	तृतीय	त	तसिरा ।
७४, ७५, ८३—तस्मि	तस्मिन्		उसमें ।
८३—तस्स	तस्य		उसका ।
१८, २६, २७ २, } २९, ४७, ४८, ७९, }	ते		वे ।
७६ २—तेहि (हि)	तै		उनके द्वारा ।
५, ३३, ८०, ८१, } ८४ २, }	तत्		वह ।
६१, ७५—तब्बो	तत		उससे ।
७४—तदत	तदन्त		उसके अखीरमें ।
१०, १६, २५— [५३ ४, १३४ १४, ]	तनु (-योग)		'काय योग' नामक योग विशेष ।
४—तनुपल	तनुपर्याप्त		'पर्याप्त' शरीर ।
८४—तब्बग	तद्गर्गे		उसका वर्ग ।
१०, १६, १९, २५, } ३१, ३८ }	त्रस		'त्रस' नामक जीव विशय ।

मा०	मा०	सं०	दि०
	७४--पुत्र	पूर्ण	पूरा ।
	३९--पुरिस	पुरुष	'पुरुषवेद' नामक उपसार्गणा विशय
	७५--पुन्वि	पूर्व	पहिला ।
	५८--पुध्वुत्	पूर्वोक	पहिले कहर हुआ ।
	८, २७, ६१--पथ	पथ	पौष ।
	७९--पथम	पथम	पौषको ।
	२--पथिदि [१० १७]	पथन्त्रिय	पौष इन्त्रियोवाला जीव ।
		फ	
	७६--फुठ	फुट	स्पष्ट ।
		घ	
२, ३, ५, ७, १५, ५८, ५९	--घायर [१०-३]	बादर	स्थूल और 'अनिष्टुत्तियादर' नामक
५, १५, २०, ३०, ३५, ५१	--घार(स)	द्राघश	नौवौ गुणस्थान ।
०, १०, ३२, ७९	--वि(य)	द्वि, द्वितीय	बारह ।
			दो (द्वितीय जीव) और दूसरा ।







श्रीया कर्ममन्य ।

ना०  
२२  
म०  
मिष्टान्नवत्पयक  
३३२३

पि०५

विश्वनाथ  
विश्वनाथ  
विश्वनाथ

मोस(ग) [६७८,  
९०२०,५१२२,  
९३१,१९७५,  
२०५२]

निप्र(-क)

वांसरा  
अमान, सम्यक्त्व-विश्व और  
भाव-विश्व ।

५६-सुतु  
६०,६९-मोह

सुकत्वा  
मोह  
य

छादकर ।

'माहनीय' गामक कर्म विशेष ।

०,१३,२२,  
१७१,७६७७,  
८२

ष

और ।

१७-रहिय

रहिय

र

रहित ।



७७, ७८, ७९, ८०, ८१ } -- रूप(प)  
[२१८ १६]

६५--लक्ष्मी

लक्ष्मि

पाँच लक्ष्मियाँ ।

७८, ८०, ८२, ८४ } --लक्ष्मि

लघु

जघन्य ।

७२--लक्ष्मिसखिम्भ

लघुसरयेय

'जघन्य सख्यात' नामक सरया  
विशेष ।

८६--लक्षिष्ण

ल्लिखित

लिखा ।

८९, ९०, ९१, ९२, ९३, ९४ } --लक्ष्मि

लेख्या

छह लेख्याएँ ।

८१--लोमगासपएस

लोकाकाशप्रदश

लोक-आकाशके प्रवेश ।

११, २०--लोम

लोभ

'लोभकषाय' ।

४०--लोभिन्

लोभिन्

लोभकषायवाले जीव ।

६१, ६६ ।

७१--वेदयत

वेदिकान्त

वेदिका तक ।



श्री०	मा०	स०	हि०
१७, ६७, ७४, ७५—३(वा)	व	वा, इष	अथवा और जैसे ।
२४, २७, २८ २, } २५, ४६ }	वचम्	वचम्	वचन ।
८४—वगसु	वाग्यस्व	वाग्यस्व	वर्ग करो ।
८०--वरिगय	वर्गित	वर्गित	वर्ग किया हुआ ।
३४, ५३, ५७—वज	वर्ज	वर्ज	छोड़कर ।
१०, १९, ३६, ३८—वण [५२ १७]	वन	वन	वनस्पतिकाय ।
८५--वणस्सइ	वनस्पति	वनस्पति	वनस्पतिकाय ।
१०, १७, ३५, ३९, ४८--वयण [५३ २, १३४ १०]	वचन	वचन	शब्द ।
८६--ववहरइ	व्यवहरति	व्यवहरति	कहा जाता है ।
१६, ६०, ६९, ७७, ८४--वि	अपि	अपि	ही और भी ।
२९, ४६, ४९--विउच्च(ग)	वैक्रिय(क)	वैक्रिय(क)	'वैक्रिय' नामक शरीर तथा योग विशेष ।
५, २७ २, २९, ४६--विउच्च(व)दुग	प्रक्रियद्विक	प्रक्रियद्विक	'वैक्रिय' और 'वैक्रियमिश्र'-नामक योग विशेष ।



प्रा०  
 गा०  
 ११, २२, ३४, ४४ --- वेयग [६६ १०]  
 ५८ --- वेयति  
 सं०  
 वक्क  
 वदति  
 स

दि०

५ ५५

दि०

क्षयापशमसम्यग्दृष्टि जीव ।  
 खिदि, पुरुषवेद और नपुसकवेद ।

२१, ४५, ५८, ६१ --- सग

५२ --- सगवस

७९ --- सगासल

२४ --- सवेयर [१० १४,  
१७, ११ १६, १९]

२२, ३६ --- सठाण

७, ८ ३, २३, ५४, }  
 ५१ २, ६० २, ७९ } --- सत

२, ३ ३, ४, ५, ६,  
 ८, ९, १४, १७, }  
 १८, १९, २५, ३१, }  
 ४५ २

सति [१० १९,  
 ५० ४]

सत

सप्तपथाशत

सप्तमासरय

सत्येतर

स्यस्थान

सप्तम्

सक्षिन्

सात ।

सत्तावन ।

सातर्षो असख्यात ।  
सत्य और असत्य ।

अपना अपना गुणस्थान ।  
सात ।

मनवाला प्राणी ।

चाथा कमग्रन्थ



गा०	प्रा०	सं०	हि०
१३, ४५—सत्रियर [६७ १६]	सक्षीतर	संक्षीतर	मनवाला और बे मन प्राणी ।
६४, ६८—सन्निवाइय [१९७ ९]	साम्प्रिपातिक	साम्प्रिपातिक	'साम्प्रिपातिक' नामक एक भाव विशेष ।
४०, ६२, ६९, ८२—सम	सम	सम	बराबर ।
२१, २८, ४२—समइ(ई)य	सामायिक	सामायिक	'सामायिक' नामक समय विशेष ।
८२—समय	समय	समय	कालका निर्दिभागी अंश ।
७८—समयपरिमाण	समयपरिमाण	समयपरिमाण	समयोंकी मिकदार ।
९, ४५, ६४, ६५ २, ७०—सम्भ [४९ २५]	सम्यग्	सम्यग्	'सम्यग्दर्शन' ।
१४—सम्भत्ततिग	सम्यक्त्वत्रिक	सम्यक्त्वत्रिक	'औपशमिक', 'क्षायिक' और 'क्षायोपशमिक' नामक तीन सम्यक्त्व विशेष ।
२५—सम्भटुग	सम्यक्त्वद्विक	सम्यक्त्वद्विक	'क्षायिक' और 'क्षायोपशमिक' ।
४७, ५८—सयो(जो)गि	सयोगिन्	सयोगिन्	'सयोगी' नामक तेरहवें गुणस्थान ।
४ ७१, ७७—सरिसव	सर्पप	सर्पप	सरसों ।
३, ७१, ७६—सलाग [२१२ १२]	शलाका	शलाका	'शलाका' नामक पत्य विशेष ।
७१—सलागप्ल	शलाकापत्य	शलाकापत्य	शलाकापत्य ।

१६, १९, २०, }  
 १७, १८, २१, } --सर्व  
 २२, २३, २४, }

७३--सविहमरिय

११--सागर [५७८]

१२--सामाहय [५७२०]

१३--साय

१४, १५ } --सासा(म)ण  
 १६, १७ } [६७१]

४१--सातणभाव

८५--सिद्ध

--सुअ(य) [५६६]

२, ११, }  
 १७, १८ } --सुळा [६४२०]

८०--सातण

सय

सतिसयभूत

साकार

सामायिक

सात

सातार७

सासाद७भाव

सिद्ध

भूत

सुळा

सय ।

सासा ऊपर तक भरा हुआ ।  
 आकारवाले विशेष उपयोग ।

'सामायिक' नामक संग्रह विशेष ।  
 सातपेइनीय कर्म ।

'सासाद७' नामक दूसरा गुणस्थान ।

'सासाद७' की अवस्था ।  
 मुक्त जीव ।

शास्त्र ।

'सुळा' नामक देशया विशेष ।

सुखीय कहेर प्रथम ।

दीया कर्मप्रय ।

गा०	प्रा०	स०	ति०
४१--सुयअजाण	श्रुताशान	'श्रुताशान' नामक विशेष ।	मिथ्याज्ञान
१०, १४, १८, २६, ३०-- सुरगइ [५१ १३]	सुरगति	देवगति ।	
२, ५, १३, १८, २२, } २९, ३७, ४१, ५८, } ५९, ६१, ६२ }	सूक्ष्म	'सूक्ष्म' नामक जाव विशेष ।	वनस्पतिकार्यके
८१--सुहुमत्थविचार	सूक्ष्मार्थविचार	'सूक्ष्मार्थविचार' अर्थ नामक यद् प्रत्यय ।	
३, ७, २७, ४५, ५३, } ६५, ६९, ७० }	शेष	वाकी ।	
५२, ५३, ५४, ५८--सोल( स)	पोढश	सोलह ।	
४१, ४२, ४३ २, ४४--सख	सख्य	सख्यातगुण ।	
३९, ४१, ६२, ६३--सख्यगुण	सख्यगुण	सख्यातगुण ।	
१, ४१--सखिज	सख्येय	सख्या ।	
९, ३४--सजम [४९ १८]	सयम	'सयम' ।	
५८--सजलणति	सजलननिक	सजलन क्रोध, मान और गाया ।	

गा०

मा०

७,८,६०—सत [६८]

६—तानुदय

११—मसदय [१७६९]

स०

सत्ता

सत्तोदय

साक्षयिक

हि०

'सत्ता' ।

'सत्ता' और 'उदय' ।

'साक्षयिक' नामक मिथ्यात्व  
विशय ।

कृ

८९--६३२

१०,१४--६३

८०,८४--६३३

भवति

हेतु

भवति

हावा हे ।

सत्त्व ।

होवा हे ।

समाप्त #